फ़ासीवाद क्या है
और इससे कैसे लड़ें

अभिनव सिन्हा

बिगुल पुस्तिका–16

फासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

अभिनव सिन्हा

बिगुल पुस्तिक़ा–16

ISBN 978-93-80303-17-8

Price: INR 200.00

First Edition: January 2010

Fourth Revised & Enlarged Edition 2022

First Reprint: February 2024

Publisher: Rahul Foundation 69 A-1, Baba ka Purva, Papermill Road, Nishatgunj, Lucknow-226 006

Cover Design: Rambabu

Typesetting: Computer Department, Rahul Foundation Printer: Vikas Computers and Printers, E-33, Sector A 5/6, Tronica City, Ghaziabad Main Distributer: Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow 226020

Phone: 0522-4108495, E-mail: janchetna.books@gmail.com

Website: www.janchetnabooks.org

Note for the eBook

The first three sections of the book (From the Publisher, Preface to the second revised edition and What is Fascism how to fight it) have been lifted off directly from the physical book using Google Lens. The rest (Postscript and A lesson for the wise who always want to remain on the margins) have been copied from the website Mazdoorbigul.net. I have verified the content from the book paragraph by paragraph and it seems the same to me, if there is any improvement from the author in those sections, then it is very minor. Only some formatting has been corrected in all the articles along with some minor spelling mistakes. Now, copying content always result in some mistakes so I will always recommend you to check out the original source for any criticism.

You can also buy the physical book from Janchetna Books in order to support the author and the movement; physical and web address is on the previous page. eBook Created on 19/01/2026

अनुक्रम

प्रकाशकीय

दूसरे संशोधित संस्करण की भूमिका

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें

पश्चलेख

उन समझदारों के लिए सबक़ जो हमेशा हाशिये पर पड़े रहना चाहते हैं

प्रकाशकीय

भारत के संसदीय चुनावों में धुर दक्षिणपन्थी शक्तियों की हार और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की राजनीतिक शाखा भारतीय जनता पार्टी के भीतर मची उठा-पटक से बहुत से लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि भारत में फ़ासीवाद के उभार का ख़तरा अब कम हो चला है। लेकिन यह ख़ुशफ़हमी ख़तरनाक होगी।

सच तो यह है कि फ़ासीवाद के दो पूर्वाधारों में से पहला आज एक बार फिर अधिक उन्नत, अधिक सर्वग्रासी तथा अधिक संश्लिष्ट रूप में उपस्थित है। आज हम एक दीर्घकालिक संकट के साक्षी बन रहे हैं। जैसा कि एंगेल्स ने 'पूँजी' के तीसरे खण्ड की अपनी एक टिप्पणी में कहा था कि संकट अभी भी आवर्ती क्रम में आने वाला संकट ही है, लेकिन अब संकट का दौर पहले से अधिक लम्बा होता जायेगा और संकट दीर्घकालिक संकट का स्वरूप ग्रहण करेंगे। 1973 से अब तक के विश्व आर्थिक इतिहास ने एंगेल्स की इस भविष्यवाणी को पुष्ट किया है। भूमण्डलीकरण के नये साम्राज्यवादी दौर में पूँजी अधिक से अधिक लाभ निचोड़ने की प्रक्रिया में मेहनतकश आबादी को कंगाली और बेरोज़गारी का शिकार बना रही है और इस प्रक्रिया में पुनः अपने पहले से ही मौजूद संकट को और अधिक गहरा बनाती जा रही है। ऐसी स्थिति में, परिस्थितियाँ अलग-अलग रूपों में पश्चिमी यूरोप से लेकर पूर्वी यूरोप के देशों तथा रूस और एशिया-अफ्रीका-लातिनी अमेरिका के बहुतेरे देशों में फ़ासीवादी ताक़तों को खाद-पानी दे रही हैं और बड़े पूँजीपति वर्ग पर भी यह दबाव डाल रही हैं कि वे फ़ासीवादी शक्तियों की ओर जाने के बारे में सोचें या फिर मुख्यधारा की पूँजीवादी पार्टियों को सीमित पैमाने पर तानाशाहाना और अर्द्धफ़ासीवादी तौर-तरीके अपनाने के लिए तैयार करें।

फ़ासीवाद के उद्भव और विस्तार का दूसरा कारक तत्व – सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी आन्दोलन - हालाँकि आज लगभग अनुपस्थित और बिखराव का शिकार है, लेकिन भूमण्डलीकरण की नीतियाँ मेहनतकश वर्गों के विस्फोटों-उभागे की जमीन लगातार तैयार कर रही हैं. और यहाँ-वहाँ ऐसे विस्फोट शुरू भी हो चुके हैं। पूँजीपति वर्ग इसके प्रति लगातार सचेत है और जंजीर से बँधे शिकारी कुत्ते की तरह वह फ़ासीवाद को मज़दूर वर्ग और व्यापक जनता के ख़िलाफ़ तैनात रखना चाहता है।

इसीलिए, फ़ासीवाद के विरुद्ध लड़ाई में निश्चिन्तता का शिकार हो जाना और इसके विरुद्ध वैचारिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रत्याक्रमण में ढिलाई बरतना आत्मघाती होगा।

प्रस्तुत पुस्तिका फ़ासीवाद के उभार के इतिहास के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कारणों के विश्लेषण के साथ ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उभार और कार्यप्रणाली की

चर्चा करती है तथा उनकी विशिष्टताओं के बारे में बताती है। यह भारत में फ़ासीवादी शक्तियों की जन्मकुण्डली का ब्योरा देते हुए यहाँ फ़ासीवाद की विशिष्टताओं के बारे में बताती है तथा इससे लड़ने की रणनीति और क्रान्तिकारी शक्तियों के कार्यभारों की भी चर्चा करती है।

यह निबन्ध मज़दूर अखबार 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' में जून 2009 से दिसम्बर 2009 के बीच छह किश्तों में प्रकाशित हुआ था। हमें विश्वास है कि यह पुस्तिका भारत में फ़ासीवाद की चुनौती को समझने और उससे लड़ने की तैयारी में काफ़ी मददगार साबित होगी।

राहुल फ़ाउण्डेशन

1.1.2010

दूसरे संशोधित संस्करण की भूमिका

यह पुस्तिका मूलतः 2009 में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की लगातार दूसरी चुनावी जीत के बाद एक लेख श्रृंखला के रूप में 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' में छह किश्तों में प्रकाशित हुई थी। उस समय संशोधनवादियों और उदारपन्थी बुर्जुआ पार्टियों समेत बुद्धिजीवियों तक में यह उल्लासपूर्ण कोलाहल मच गया था कि संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की लगातार दूसरी जीत फ़ासीवादी भाजपा और संघ परिवार और इस तरह फ़ासीवाद की निर्णायक हार है। हमने उस समय इस बात पर बल दिया था कि भाजपा की चुनावी हार को फ़ासीवाद की निर्णायक हार मानना एक प्राणान्तक भूल है। यह भूल यही प्रदर्शित कर रही है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट दायरों और साथ ही संशोधनवादी वामपन्थी दायरों में फ़ासीवाद की समूची परिघटना और विशेष तौर पर इसकी भारतीय क़िस्म के बारे में समझदारी की गम्भीर कमी है। मई 2014 में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा की ज़बर्दस्त जीत के बाद यह बात स्पष्ट हो गयी है कि फ़ासीवाद उत्तरवर्ती पूँजीवादी समाज के सड़ते-गलते ढाँचे की स्थायी परिघटना है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के दौर में आने वाले पूँजीवादी संकट और 1970 के दशक के बाद आने वाले पूँजीवादी संकटों के चरित्र मे भी बुनियादी परिवर्तन आये हैं। अब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मन्दी और तेज़ी के अपेक्षाकृत कम अन्तरालों पर आने वाले दौरों की साक्षी नहीं बनती। आज हम एक दीर्घकालिक मन्दी के दौर में जी रहे हैं, जिसकी भविष्यवाणी एंगेल्स ने की थी। पूँजीवादी मन्दी के उपोत्पाद के रूप में पैदा होने वाले एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में फ़ासीवादी आन्दोलन भी आज उत्तरवर्ती पूँजीवादी समाज की एक दीर्घकालिक और पहले से कहीं ज़्यादा ढाँचागत परिघटना बन चुका है। मन्दी और फ़ासीवाद, दोनों के ही प्रकट होने में जो आकस्मिकता (contingency) का तत्व था वह आज समाप्त होने की ओर बढ़ रहा है। बजाय इन परिवर्तनों को समझने के, तमाम वामपन्थी बुद्धिजीवी या तो 'डिनायल मोड' में चले गये हैं और मौजूदा फासीवादी उभार को देखने से ही इन्कार कर रहे हैं, या फिर वे इसे कोई और नाम देने पर आमादा हैं। पहले किस्म के लोगों का यह दावा है कि भारत में जर्मनी या इटली जैसा "क्लासिकीय" फ़ासीवादी उभार सम्भव ही नहीं है क्योंकि भारत में जाति व्यवस्था की परिघटना इसके रास्ते में एक गम्भीर बाधा है; कुछ लोगों का यह भी कहना है कि भारत एक बहुराष्ट्रीय, बहुभाषी, बहुजातीय देश है और इसलिए यहाँ जर्मन या इतालवी क़िस्म का फ़ासीवादी उभार सम्भव नहीं है। पहली किस्म के ये लोग न तो यह समझते हैं कि जर्मनी और इटली में फ़ासीवादी उभार की आभिलाक्षणिकताओं में कई गुणात्मक अन्तर थे और न ही वे यह समझते हैं कि इन दोनों देशों में भी क्षेत्रीय, भाषाई, जातीय वैविध्य की कमी नहीं थी, हालाँकि वह भारत जितना नहीं था। ऐसे लोग यह भी

नहीं समझ पाते हैं कि यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि जर्मनी और इटली में घटित हुई फ़ासीवादी परिघटना दुहरायी जायेगी। ऐसे लोग सादृश्य निरूपण करते हुए कहते हैं कि यहाँ यातना शिविर नहीं हैं, यहूदियों के समान मुसलमानों का उस प्रकार का जातीय सफ़ाया नहीं किया जा रहा है, वगैरह। इसलिए नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा का उभार फ़ासीवादी उभार नहीं कहा जा सकता और यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में फ़ासीवाद आ गया है। यह एक अनैतिहासिक दृष्टिकोण है जो यह नहीं समझता कि प्रगतिशील ताक़तों के ही समान प्रतिक्रियावादी ताक़तें भी इतिहास से सबक़ लेती हैं; क्रान्तिकारी विचारधारा व राजनीति के ही समान फ़ासीवादी विचारधारा और राजनीति भी 'रिडेम्प्टिव एक्टिविटी' करती है। इतिहास अपने आपको दुहराता नहीं है।

दूसरे क़िस्म के नववामपन्थी बुद्धिजीवी मौजूदा फ़ासीवादी उभार को फ़ासीवादी बोलने से घबराते हैं और कोई नयी कौड़ी ढूँढकर लाने के प्रयास में इसे 'नवउदारवादी पूँजी की तानाशाही' क़रार दे रहे हैं। यदि ऐसा है तो मनमोहन सिंह की सरकार के शासन को क्या कहा जायेगा? क्या वह नवउदारवादी पूँजी की तानाशाही नहीं था? अगर था तो फिर मनमोहन सिंह की सरकार के दौर से अब के दौर में फ़र्क क्या है? ज़ाहिर है, इस प्रकार से नववामपन्थी सूत्रीकरण थोड़ा आगे बढ़ते ही असमाधेय अन्तरविरोधों के गड्ढे में जा गिरते हैं।

इन भ्रामक अवधारणओं और सूत्रीकरणों के मद्देनज़र यह और भी ज़रूरी हो गया है कि आज के फ़ासीवादी उभार को उसी ऐतिहासिकता और विशिष्टता में समझा जाये और सूत्रबद्ध किया जाये। इक्कीसवीं सदी के उत्तरवर्ती पूँजीवाद के दौर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की कार्यपद्धति और चरित्र में आये महत्वपूर्ण परिवर्तनों को समझते हुए आज के दौर के फ़ासीवादी आन्दोलनों के चरित्र की मार्क्सवादी-लेनिनवादी पड़ताल करने की जरूरत आज पहले से कहीं ज्यादा है।

ऐसे में, फ़ासीवादी उभार के प्रतिरोध और सर्वहारा क्रान्ति की रणनीतियों पर भी पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। हम बीसवीं सदी के अनुभवों के आधार पर ही फ़ासीवाद-विरोधी मज़दूर आन्दोलन की रणनीतियाँ नहीं बना सकते। हमें नये का अनुसन्धान करना होगा और साथ ही निरन्तरता के तत्वों की भी सटीक पहचान करनी होगी।

इन्हीं चिन्ताओं को ध्यान में रखकर हमने जुलाई 2015 में इस पुस्तिका का एक पश्चलेख लिखा है और अब हम इस पुस्तिका को उस पश्चलेख के साथ प्रकाशित कर रहे हैं। साथ ही भारत में फ़ासीवादी उभार पर चली एक बहस हम परिशिष्ट में दे रहे हैं, जिसमें कि फ़ासीवादी उभार की एक उदार बुर्जुआ और निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी वाम व्याख्या की हमने एक आलोचना पेश की है। यह पश्चलेख व साथ ही परिशिष्ट में पेश लेख कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष चर्चा व बहस के लिए एक प्रस्ताव है। लेकिन यह अपने आप में फ़ासीवाद के समूचे इतिहास, सिद्धान्त और व्यवहार और प्रतिरोध की रणनीति व आम रणकौशल पर अन्तिम शब्द पेश करने का दावा नहीं है। यह नुक्तों में पेश किये गये कुछ

प्रेक्षण, आलोचनात्मक टिप्पणियाँ और कुछ प्रस्ताव हैं। हम उम्मीद करते हैं कि यह क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन व कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूदा फ़ासीवादी उभार और उसके प्रतिरोध की रणनीतियों पर विचार-विमर्श, प्रयोग और अमल का एक प्रस्थान बिन्दु बनेगा।

अभिनव सिन्हा

15 अप्रैल 2016

फासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

वर्ष 2009 के आम चुनावों में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की विजय के साथ ही बुद्धिजीवियों, सामाजिक जनवादियों और यहाँ तक कि क्रान्तिकारियों का एक हिस्सा इस बात को लेकर बेहद खुश है कि भारतीय जनता पार्टी के रूप में साम्प्रदायिक फ़ासीवाद की पराजय हुई है और फ़ासीवादी ख़तरा टल गया है। चुनावों के ठीक पहले कई सर्वेक्षण इस बात की ओर इशारा कर रहे थे कि चुनावी नतीजे चौंकाने वाले हो सकते हैं और आडवाणी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन को भी विजय हासिल हो सकती है, या कम-से-कम उसे संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन के बराबर या उन्नीस-बीस के फ़र्क़ से थोड़ी ज़्यादा या थोड़ी कम सीटें मिल सकती हैं। चुनाव के नतीजों ने इस बात को ग़लत साबित किया और कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन को विजय प्राप्त हुई। चुनावी नतीजों के हिसाब से चला जाये तो भाजपा को भारी नुक़सान उठाना पड़ा है और पराजय के बाद भाजपा में टूट-फूट, बिखराव और आन्तरिक कलह का एक दौर शुरू हो गया है। भाजपा के शीर्ष विचारकों में से एक सुधीन्द्र कुलकर्णी ने हार का ठीकरा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की रणनीति पर फोड़ते हुए काफ़ी हंगामा खड़ा कर दिया। जसवन्त सिंह ने कहा है कि चुनाव में पराजय के कारणों पर भाजपा में खुली बहस होनी चाहिए। भाजपा नेताओं का एक बड़ा हिस्सा भाजपा अध्यक्ष राजनाथ सिंह को काफ़ी खरी-खोटी सुना रहा है और राजनाथ सिंह की स्थिति काफ़ी दयनीय हो गयी है।

इस सारे घटनाक्रम को देखकर निश्चित तौर पर सन्तोष और ख़ुशी का अनुभव होता है। लेकिन क्या इन चुनावी नतीजों और उसके बाद भाजपा में मची उठा-पटक को देखकर यह कहना उचित है कि फ़ासीवाद भारत में उतार पर है? क्या यह नतीजा निकालना सही है कि भाजपा की पराजय भारत में फ़ासीवाद की पराजय है? इस प्रश्न का जवाब देने के लिए हमें यह समझना होगा कि फ़ासीवाद आख़िर है क्या? इसका इतिहास क्या है? यह कैसे पैदा हुआ? विभिन्न देशों में इसने क्या-क्या रूप ग्रहण किये? इन प्रश्नों के जवाब देने के बाद ही हम यह तय करने की स्थिति में होंगे कि भारत में फ़ासीवाद की "नियति" क्या है।

इससे पहले कि हम फ़ासीवाद के इतिहास और उसके अर्थ पर जायें, कुछ और मुद्दों पर एक शुरुआती चर्चा करना ज़रूरी है। इस चर्चा के बाद हम फ़ासीवाद के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए एक बेहतर स्थिति में होंगे। यह चर्चा पूँजीवाद की प्रकृति, उसके स्वाभाविक संकट और उसकी सम्भावित परिणतियों पर है।

पूँजीवाद की स्वाभाविक परिणतियाँ

पूँजीवादी व्यवस्था किस प्रकार अपनी स्वाभाविक गति से संकट की ओर जाती है?

हम एक पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में जी रहे हैं। इसकी चारित्रिक विशेषताएँ क्या हैं? यह निजी मालिकाने पर आधारित एक व्यवस्था है जिसके केन्द्र में निजी मालिक का मुनाफ़ा है। निजी मालिकों का पूरा वर्ग आपस में प्रतिस्पर्द्धा करता है और इस प्रतिस्पर्द्धा का मैदान होता है पूँजीवादी बाज़ार। पूँजीवादी उत्पादन में समाज के विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओं का कोई विस्तृत मूल्यांकन और अनुमान नहीं लगाया जाता है। बाज़ार में माँग के परिमाण के एक मोटा-मोटी मूल्यांकन के आधार पर पूँजीपति यह तय करता है कि उसे क्या पैदा करना है और कितना पैदा करना है। लेकिन यह मूल्यांकन पूरा पूँजीपति वर्ग मिलकर नहीं करता है बल्कि अलग-अलग निजी पूँजीपति करते हैं और इसके आधार पर वे प्रतिस्पर्द्धा करने बाज़ार में उतरते हैं। इसलिए पूरे समाज में होने वाला उत्पादन योजनाबद्ध तरीक़े से नहीं होता है बल्कि अराजक तरीके से होता है। बाज़ार द्वारा बतायी जाने वाली माँग और आपूर्ति की स्थितियों के अनुसार हर पूँजीपति उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय लेता है। बाज़ार में कई सेक्टर मौजूद होते हैं। इन सभी सेक्टरों को मोटे तौर पर दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है - उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन और उत्पादन के साधनों का उत्पादन। उपभोग की वस्तुओं में आदमी के रोज़मर्रा के जीवन की आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएँ और लग्ज़री की वस्तुएँ होती हैं, मिसाल के तौर पर, खाने, पहनने के सामान, फ्रिज-टीवी-वाहनों आदि जैसी उपभोक्ता सामग्रियाँ, मनोरंजन के सामान, आदि। हालाँकि, उपभोक्ता सामग्रियों को भी दो हिस्सों (टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियाँ और गैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियाँ) में बाँटा जाता है, लेकिन अभी इस विभाजन के विश्लेषण में जाने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। एक-एक उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन में कई-कई पूँजीपति लगे होते हैं और अपने माल को बेचने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। इसके लिए वे अख़बारों, टीवी, रेडियो, बिजली के खम्भों, होर्डिंगों, बस स्टापों और रेलवे स्टेशनों पर मौजूद प्रचार पट्टियों पर प्रचार करते हैं और अपने माल को सबसे अच्छा बताते हैं।

यही हाल उत्पादन के साधनों के उत्पादन के सेक्टर में भी होता है, लेकिन थोड़ा भिन्न रूप में। इस सेक्टर में मशीनों, उपकरणों और औज़ारों और साथ ही कई प्रकार के माध्यमिक कच्चे माल का उत्पादन किया जाता है। यहाँ पर उत्पादित सामग्री का उपभोक्ता आम आदमी नहीं होता, बल्कि पूँजीपति वर्ग होता है जो अपने उत्पादन के लिए उत्पादन के साधनों को पूँजीपति वर्ग के उस हिस्से से ख़रीदता है जो उत्पादन के साधनों का उत्पादन करता है। पूँजीपति वर्ग के मामले में आजकल यह विभाजन बहुत क्षीण हो गया है क्योंकि एक ही पूँजीपति ने उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन में भी निवेश कर रखा है और उत्पादन के साधनों के उत्पादन में भी। लेकिन इससे विश्लेषण में कोई फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि सामाजिक स्तर पर पूँजी के संचरण के मूल्यांकन की दृष्टि से पूँजीवादी उत्पादन को फिर भी मोटे तौर पर इन दो सेक्टरों में विभाजित किया जा सकता है। उत्पादन के दोनों सेक्टरों में उत्पादन और श्रम की स्थितियों का विश्लेषण किया जा सकता है। लेकिन अभी हमारा उद्देश्य यह नहीं है। उत्पादन के साधन के उत्पादन के क्षेत्र में भी एक-एक मशीन या उपकरण के उत्पादन में कई-कई पूँजीपति लगे होते हैं और उपभोक्ता सामग्री और उत्पादन

के साधनों का उत्पादन करने वाले पूँजीपति वर्ग को अपना उत्पाद बेचने के लिए लुभाने में लगे होते हैं।

विभिन्न वस्तुओं या उत्पादन के साधनों (मशीन, उपकरण आदि) के उत्पादन में अलग-अलग समय पर अलग-अलग स्थितियाँ होती हैं। कभी किसी वस्तु का उत्पादन अधिक लाभदायी होता है तो कभी किसी और वस्तु का। मिसाल के तौर पर, अभी कुछ वर्ष पहले तक विश्व बाज़ार में सूरजमुखी और मेन्था की ज़बर्दस्त माँग के कारण भारत में तमाम धनी किसानों और कुलकों ने इनकी खेती शुरू की। कृषि के क्षेत्र में सक्रिय पूँजीपतियों ने बाज़ार में माँग और आपूर्ति की स्थितियों को देखते हुए सूरजमुखी और मेन्था की खेती में पैसा लगाना शुरू किया। लेकिन इन स्थितियों का मूल्यांकन सभी कृषक पूँजीपतियों ने मिलकर संगठित रूप से नहीं किया, बल्कि अलग-अलग किया। जो भी सूरजमुखी और मेन्था की खेती में आवश्यक भारी पूँजी निवेश और कुशल श्रम की आवश्यकता को पूरा करने में सक्षम था, उसने इसमें पूँजी लगायी। नतीजा यह हुआ कि इन दोनों ही मालों का अति-उत्पादन हुआ और उनके उत्पाद को ख़रीदने के लिए बाज़ार में पर्याप्त खरीदार नहीं रहे। यह मुनाफे की दर की गति का ही परिणाम था। बाज़ार में माँग और आपूर्ति की स्थितियाँ बदल गयीं। अब सूरजमुखी और मेन्था का बाज़ार उतना गर्म नहीं रहा। इसके अलावा, पूँजीवादी व्यवस्था का नैसर्गिक तर्क ही ऐसा है कि उत्पादक शक्तियाँ पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं। यह अन्तरविरोध अपने आपको उत्पादन के अभूतपूर्व समाजीकरण और निजी विनियोजन के अन्तरविरोध के रूप में प्रकट करता है। बहरहाल, अपने उदाहरण पर वापस लौटते हुए हम देख सकते हैं कि इस प्रक्रिया में तमाम धनी किसान तबाह हो गये, जिन्होंने भारी पैमाने पर निवेश के लिए बड़े-बड़े ऋण लिये थे। भारत में किसानों द्वारा आत्महत्या का एक बड़ा कारण यह भी रहा है। उनके तबाह होने के साथ खेती में लगी मज़दूर आबादी भी बड़े पैमाने पर बेरोज़गार हुई और छोटे किसान सर्वहाराओं की क़तार में शामिल हुए। अब बाज़ार में दूसरे माल ज़्यादा फ़ायदेमन्द बन गये हैं, जो शायद पहले उतने फ़ायदेमन्द नहीं थे। पहले उनमें पर्याप्त पूँजी लगी हुई थी और उनका उत्पादन माँग से ज़्यादा हो रहा था। इसी कारण उनमें से पूँजी निकलकर उन फ़सलों के उत्पादन में लगी जिनकी माँग अधिक थी, लेकिन पूँजी निवेश कम था। इसी तरह से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पूँजी अधिक मुनाफे वाली वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र की ओर स्वाभाविक गति करती रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये क्षेत्र बदलते रहते हैं और पूँजी अराजक तरीके से कभी इस तो कभी उस क्षेत्र की ओर भागती रहती है। यह प्रक्रिया पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एक सन्तुलनकारी प्रक्रिया होती है जिसे काग़ज़ पर देखा जाये तो बहुत सामान्य लगती है, लेकिन वास्तव में घटित होते हुए देखा जाये तो समझ में आता है कि यह कितनी तबाही लाने वाली प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में लाखों-लाख मज़दूर तबाह होते रहते हैं, अपनी नौकरियों से हाथ धोते रहते हैं और नर्क जैसे जीवन की ओर धकेले जाते रहते हैं। यही पूँजीवादी व्यवस्था की अराजकता का मूल है। निजी मालिकाने पर आधारित एक व्यवस्था जिसमें समाज की

आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन नहीं किया जाता, बल्कि हर पूँजीपति अपने मुनाफ़े की ख़ातिर बाज़ार में एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा के लिए उतरता है। दूसरे शब्दों में यह उत्पादन की सामाजिक प्रकृति और विनियोजन की निजी प्रकृति के बीच का अन्तरविरोध होता है। इस पूरी प्रक्रिया में पूँजीपतियों का एक हिस्सा तबाह होकर मध्य वर्ग, निम्न मध्य वर्ग और सर्वहारा वर्ग की क़तार में शामिल होता रहता है और लाखों-करोड़ों की संख्या में मज़दूर अपना काम खोते हैं तथा बेरोज़गारों की क़तार में शामिल होते रहते हैं। अपनी अराजक गति से पूँजीवाद मज़दूरों को बरबाद करता रहता है और उन्हें बेरोज़गारों की फ़ौज में धकेलता रहता है। यह एक मानव-केन्द्रित नहीं बल्कि मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था होती है।

पूँजीवाद में विभिन्न सेक्टरों में मन्दी की स्थिति तो आती-जाती रहती ही है। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में निश्चित अन्तरालों पर आम संकट की स्थिति पैदा होती रहती है, जब अधिकांश सेक्टरों में अति-उत्पादन हो जाता है और मन्दी पैदा होती है। यह कैसे होता है इसे समझ लेना भी यहाँ उपयोगी होगा।

प्रतिस्पर्द्धा में टिके रहने के लिए हर पूँजीपति अपने उत्पादन की लागत को घटाता है। लागत का अर्थ है उत्पादन में लगने वाली कुल पूँजी। इस पूँजी के दो हिस्से होते हैं - पहला, स्थिर पूँजी जो मशीनों, इमारत, बिजली, पानी व कच्चे माल पर लगती है और दूसरा, परिवर्तनशील पूँजी जो पूँजीपति मज़दूरी के रूप में मज़दूरों को देता है। स्थिर पूँजी को स्थिर पूँजी इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान परिवर्तित नहीं होती है। उसका मूल्य सीधे-सीधे, बिना बढ़े हुए उत्पादित माल में स्थानान्तरित हो जाता है। इसमें से कुछ का मूल्य एक बार में भी माल में स्थानान्तरित हो जाता है, जैसे कच्चा माल, बिजली, आदि, और कुछ का मूल्य एक लम्बी प्रक्रिया में माल में स्थानान्तरित होता है, जैसे मशीनें और उपकरण आदि। इनका मूल्य तब तक माल में स्थानान्तरित होता रहता है जब तक कि वे घिसकर बेकार न हो जायें और उनकी उम्र पूरी न हो जाये। एक बार के उत्पादन में उसके कुल मूल्य का एक हिस्सा उत्पाद में जाता है। इसे घिसाई मूल्य (डेप्रिसियेशन वैल्यू) कहा जाता है। लेकिन यह मूल्य भी उत्पादन के दौरान बढ़ता-घटता नहीं है। यह ज्यों का त्यों उत्पाद में चला जाता है। इसीलिए मशीनों और कच्चे माल पर लगने वाली पूँजी को स्थिर पूँजी कहा जाता है। मज़दूरी के रूप में लगने वाली पूँजी को परिवर्तनशील पूँजी कहा जाता है, क्योंकि मज़दर का श्रम ही वह चीज़ है जो वस्तुओं के एक अनुपयोगी समूह को मशीनों, उपकरणों आदि के इस्तेमाल से एक उपयोगी माल का रूप देता है और मज़दूर की श्रम शक्ति खर्च होने की प्रक्रिया में अपने मूल्य से ज़्यादा मूल्य पैदा करती है। श्रम ही उत्पादन का वह कारक है जो किसी उत्पाद में उपयोग मूल्य पैदा करता है, यानी, उसे उपयोगी बनाता है। कोई कारखाना या मशीन अपने से कच्चे मालों को एक उपयोगी माल का रूप नहीं दे सकते। जब तक कच्चे मालों पर मानसिक और शारीरिक मानवीय श्रम नहीं लगता, वे मूल्यहीन बेकार वस्तुएँ होती हैं। जैसे ही उस पर मज़दूर की मेहनत लगती है वे आकार ग्रहण करने लगते हैं और मिलकर एक उपयोगी वस्तु बन जाते हैं। जब कोई वस्तु उपयोगी होगी तभी उसे बाज़ार में कोई ख़रीदेगा। मज़दूर की

मेहनत ही वस्तु में उपयोग मूल्य और मूल्य पैदा करती है। मूल्य और कुछ नहीं बल्कि सामाजिक रूप से आवश्यकत श्रम से पैदा होता है। किसी भी माल का मूल्य उसके उत्पादन के लिए आवश्यक सामाजिक श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है और सामाजिक श्रमकाल से मापा जाता है। एक पूँजीवादी समाज में मज़दूर की श्रम शक्ति भी एक माल होती है और वह भी बाज़ार में बिकती है। इसका मूल्य भी किसी भी अन्य माल के मूल्य के समान ही उसमें लगे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष श्रम से तय होता है और उसका बाज़ार मूल्य बाज़ार में मौजूद माँग और आपूर्ति से निर्धारित होता है। उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम-शक्ति ही वह कारक होती है अपने मूल्य से ज़्यादा मूल्य पैदा करती है, और इस प्रकार मूल्य संवर्धन की प्रक्रिया को अंजाम देती है। इसीलिए पूँजीपति द्वारा श्रम-शक्ति को ख़रीदने के लिए लगायी गयी पूँजी को परिवर्तनशील पूँजी कहते हैं क्योंकि उत्पादन से पहले और उत्पादन के बाद इसका परिमाण बढ़ चुका होता है। यह बढ़ी हुई मात्रा अर्थशास्त्र की भाषा में अतिरिक्त मूल्य कहलाती है। यही अतिरिक्त मूल्य एक पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े का मूल होता है। यह मूल्य मज़दूर के श्रम द्वारा पैदा होता है, लेकिन इसे पूँजीपति द्वारा हड़प लिया जाता है।

चूँकि अतिरिक्त मूल्य ही पूँजीपति के मुनाफे का स्रोत होता है, इसलिए वह उसे हर क़ीमत पर बढ़ाने का प्रयास करता है। इसे पूँजीपति वर्ग दो तरह से बढ़ाता है। एक, मज़दूर के काम के घण्टे को बढ़ाकर और उसकी मेहनत की सघनता को बढ़ाकर; और दूसरा, और अधिक उन्नत मशीनें लगाकर। पहले तरीक़े को समझना आसान है। अगर मज़दूर उसी मज़दूरी पर या थोड़ी-सी बढ़ी मज़दूरी पर अधिक देर तक काम करेगा तो अधिक अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगा। यह एकदम सीधा मामला है। दूसरा तरीक़ा थोड़ा जटिल है। आइए इसे भी समझ लें। अगर उन्नत मशीनों व तकनोलॉजी के द्वारा सामाजिक उत्पादकता में वृद्धि होगी तो मज़दूर का श्रम अधिक उत्पादक हो जायेगा और वह अधिक दर से अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगा। यह मज़दूरी उत्पादों (wage goods) के उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादकता की बढ़ोत्तरी से होता है। अन्य सभी उत्पादों के उत्पादन में श्रम की उत्पादकता बढ़ने से उत्पादों का मूल्य घटता है क्योंकि समान मूल्य अब ज़्यादा मालों के ऊपर वितरित होता है और प्रति इकाई मूल्य घट जाता है। जब कोई एक पूँजीपति अपने कारखाने में उन्नत तकनोलॉजी के ज़रिये श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने में कामयाब होता है, तो उसके माल का मूल्य घट जाता है लेकिन फिर भी वह अपने माल को सामाजित औसत मूल्य पर बेच सकता है और इस प्रकार कुछ समय के लिए बेशी मुनाफ़ा कमा सकता है, जब तक कि उसके सेक्टर के अन्य पूँजीपति भी इस उन्नत तकनोलॉजी को न अपना लें।

इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लीजिए कि एक सिलाई कारखाना है जहाँ मज़दूर पैर से चलने वाली सिलाई मशीन पर काम करते हैं। अभी एक मज़दूर 12 घण्टे में 10 कमीजें तैयार करता है। कारखाने का मालिक पैर से चलने वाली सिलाई मशीन को हटाकर बिजली से चलने वाली सिलाई मशीनें लगवा देता है। अब वही मज़दूर 12 घण्टे में

18 कमीजें बना लेता है। यानी मज़दूर के उत्पादन करने की गति को बढ़ा दिया गया। अब उत्पादन सीधे 1.8 गुना बढ़ गया। इससे पूँजीपति अपने माल की क़ीमत को घटाने में सफल होता है। लेकिन जब उन उद्योगों में मशीनीकरण के ज़रिए श्रम की उत्पादकता बढ़ती है जो कि मुख्य रूप से मज़दूरों के उपभोग की वस्तुएँ पैदा करते हैं, तो उन उपभोग की वस्तुओं का मूल्य भी कम हो जाता है। नतीजतन, श्रम शक्ति का मूल्य भी कम हो जाता है, क्योंकि वह उन वस्तुओं के मूल्य से ही निर्धारित होता है जो कि श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन में लगती हैं। इस प्रकार वास्तविक मज़दूरी कम होती है, हालाँकि रुपये में अभिव्यक्त सांकेतिक मज़दूरी घटे यह ज़रूरी नहीं है; कई बार तो वह बढ़ भी सकती है, लेकिन उसके द्वारा खरीदी जा सकने वाली सामग्री का मूल्य पहले से कम हो जाता है। इस प्रकार वास्तविक मज़दूरी घट जाती है और पूँजीपति का मुनाफा बढ़ जाता है। इसे सापेक्षिक अतिरिक्त मूल्य कहते हैं। मज़दूर यह समझ भी नहीं पाता कि उसका शोषण बढ़ गया है और वह स्वयं कुछ पाये बिना पूँजीपति के मुनाफे को कहीं तेज गति से बढ़ा रहा है।

स्पष्ट है कि पूँजीपति कुल उत्पादित मूल्य में लागत के अनुपात को घटाने के लिए अतिरिक्त मूल्य को विभिन्न तरीक़ों से बढ़ाता है। यह काम वह तभी कर सकता है जब वह उन्नत से उन्नत तकनोलॉजी लगाकर और उत्पादन को बड़े से बड़े पैमाने पर करके श्रम की उत्पादकता और अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाए। उत्पादन जितने बड़े पैमाने पर होता है, प्रति इकाई लागत उतनी ही कम होती जाती है। अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने के लिए पूँजीपति वर्ग जिन तरीक़ों का उपयोग करता है, उससे उत्पादन स्वतः ही बड़े पैमाने पर होता जाता है। यानी, पूँजीपति लगातार इस होड़ में रहता है कि उत्पादन को अधिकतम सम्भव बड़े पैमाने पर किया जाये और श्रम की उत्पादकता को लगातार बढ़ाया जाय ताकि अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाया जा सके और कुल उत्पादित मूल्य में लागत के अनुपात को घटाया जा सके। लेकिन अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाने के लिए पूँजीपति वर्ग जिन तरीको का इस्तेमाल करता है ठीक उन्हीं के कारण अन्ततः मुनाफ़े की औसत दर गिरती है। साथ ही, उत्पादन को बढ़ाकर अपने मुनाफ़े को अधिकतम सम्भव बढ़ाने की अन्धी हवस में वह यह भूल जाता है कि उत्पादन व उपभोग (इनमें मज़दूरी-उत्पादों के उपभोग के साथ लग्ज़री उत्पादों का उपभोग भी शामिल है जो कि पूँजीपति वर्ग ही करता है) दोनों के ही मालों को ख़रीदने के लिए बाज़ार में उतने पूँजीपति व अन्य वर्गों के उपभोक्ता भी होने चाहिए; पूँजीपति तभी निवेश करता है और उत्पादन के साधनों को खरीदता है जब निवेश के लिए लाभप्रद अवसर हों और व्यापक आबादी अपनी ख़रीद को तभी बढ़ा सकती है, जब उसके बीच पर्याप्त प्रभावी माँग हो। गौरतलब है कि मज़दूर वर्ग का उपभोग पूँजीपति वर्ग के लिए असल वास्तविक प्रभावी माँग का प्रतिनिधित्व नहीं करता है क्योंकि वह अपनी मज़दूरी से ज्यादा ख़रीदारी नहीं कर सकता और मज़दूरी पूँजी निवेश का ही प्रकार्य होता है। इसलिए सामाजिक तौर पर अतिरिक्त उत्पाद के वास्तवीकरण हेतु प्रभावी माँग पूँजीपति वर्ग में ही पैदा होती है। लेकिन पूँजीवादी समाज में कोई एक पूँजीपति उत्पादन नहीं कर रहा होता बल्कि कई पूँजीपति आपस में मुनाफ़े के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हुए अपना-अपना

उत्पादन कर रहे होते हैं। इसलिए ऐसा किसी एक पूँजीपति के साथ नहीं बल्कि समूचे पूँजीपति वर्ग के साथ होता है। आपसी प्रतिस्पर्द्धा और एक-दूसरे को लील जाने की हवस में सभी पूँजीपति संलग्न होते हैं और ठीक यही चीज़ मुनाफे की औसत दर में गिरावट की प्रवृत्ति और उसके लक्षण के तौर पर सामान्य अतिउत्पादन को जन्म देती है। यही प्रक्रिया सभी क्षेत्रों में घटित होती रहती है। निश्चित अन्तरालों पर ऐसा होता है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अधिकांश क्षेत्र अति-उत्पादन का शिकार हो जाते हैं और पूरी अर्थव्यवस्था मन्दी का शिकार हो जाती है।

यह अतिउत्पादन दरअसल मुनाफ़े की गिरती दर की एक अभिव्यक्ति होता है। मुनाफे की दर ठीक उन्हीं कारणों से गिरती जाती है, जिनसे पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाता है और अन्य पूँजीपतियों से प्रतिस्पर्द्धा में माल की क़ीमत को कम करता है: यानी, मशीनीकरण और श्रम की उत्पादकता में बढ़ोत्तरी। इसके लिए वह मशीनों पर निवेश सापेक्षिक रूप से बढ़ाता है और श्रम शक्ति ख़रीदने पर निवेश को सापेक्षिक रूप से घटाता है। लेकिन हम देख चुके हैं कि नया मूल्य केवल श्रम शक्ति के उत्पादन में लगने से ही पैदा होता है और इसीलिए अतिरिक्त मूल्य का स्रोत केवल जीवित श्रम होता है। लेकिन यदि पूँजी के संघटन में श्रम शक्ति सापेक्षिक रूप से घटती जायेगी और मृत श्रम यानी कि मशीनें सापेक्षिक रूप से बढ़ती जायेंगी तो कुल अतिरिक्त मूल्य अवश्य बढ़ सकता है, लेकिन कुल पूँजी निवेश अन्ततः उससे तेज गति से बढ़ेगा और एक निर्णायक प्रवृत्ति के तौर पर लम्बी दूरी में मुनाफे की दर गिरती जायेगी। यही पूँजीवादी व्यवस्था के संकट का मूल है। इसकी अभिव्यक्ति एक ओर अति-उत्पादन है, तो दूसरी ओर व्यापक मेहनतकश अवाम का अल्पउपभोग, जिस पर हम अभी बात करेंगे। यह अल्पउपभोग अपने आप में पूँजीपति वर्ग के संकट का कारण नहीं है, बल्कि उसका लक्षण है। पूँजीपति वर्ग मज़दूरों के उपभोग हेतु उत्पादन नहीं करता है, बल्कि मुनाफ़े के लिए उत्पादन करता है। पूँजीपति वर्ग के लिए चिन्ता की बात मूलतः तब होती है जबकि पूँजीपति वर्ग द्वारा किया जाने वाले उत्पादक उपभोग, यानी कि उत्पादन के साधनों की ख़रीद में कमी आती है, यानी जब निवेश कम होता जाता है, जो कि मुनाफ़े की दर के गिरते जाने के कारण ही होता है। लेकिन व्यापक मेहनतकश जनता का अल्पउपभोग, जो कि समाज में मुनाफे की गिरती दर के संकट के दौर में बेरोज़गारी के बढ़ने और मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में कमी आने का नतीजा होता है, एक वास्तविक परिघटना होता है और समाज में राजनीतिक व सामाजिक असन्तोष को बढ़ावा देता है और आर्थिक संकट को राजनीतिक व सामाजिक संकट में तब्दील करने में एक अहम भूमिका निभाता है। पूँजीपति मज़दूर को लगातार लूटकर ही अपने मुनाफ़े को बढ़ाता है। जब वह उत्पादन बढ़ाने के लिए उन्नत मशीनों को लगाता है तो मज़दूरों के एक हिस्से को वह निकाल बाहर करता है, क्योंकि अब कम मज़दूर ही उन्नत मशीनों पर उत्पादन को पहले के स्तर से आगे बढ़ा सकते हैं। इस प्रक्रिया में समाज में बेरोज़गारों की फ़ौज बढ़ती जाती है और बहुसंख्यक आबादी अपनी ख़रीदने की क्षमता से वंचित होती जाती है। इस तरह एक तरफ़ तो उत्पादन बढ़ता जाता

है, बाज़ार सामानों से पटता जाता है और दूसरी तरफ़ उन्हें ख़रीदने वालों की संख्या लगातार घटती जाती है। इसके पीछे जो मूल कारण होता है वह है पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर के गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति, जो कि सामाजिक उत्पादक शक्तियों के सतत् विकास से उत्पादन के लगातार अधिक से अधिक सामाजिक होते जाने और उसके पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था की सीमाओं के अतिक्रमण कर जाने के रूप में प्रकट होता है। सामाजिक उत्पादन और निजी स्वामित्व के बीच का अन्तरविरोध अपने आपको मुनाफे की औसत दर की गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति के संकट और उसके प्रातिनिधिक लक्षण यानी अति-उत्पादन के रूप में अभिव्यक्त करता है। यही है पूँजीवाद का संकट जो उसे निश्चित अन्तरालों पर, पहले से भी भयावह रूप में आकर सताता रहता है और उसे लगातार उसकी क़ब्र की ओर धकेलता रहता है। यह एक ऐसा संकट है जिससे पूँजीवादी व्यवस्था लाख चाहने पर भी निजात नहीं पा सकती है, क्योंकि एक योजनाबद्ध मानव-केन्द्रित व्यवस्था में ही इससे निजात मिल सकती है, जो उत्पादन के साधनों और समाज के पूरे ढाँचे पर मज़दरों के साझे मालिकाने के ज़रिये ही सम्भव है। पूँजीवाद अगर ऐसा हो जायेगा तो वह पूँजीवाद रह ही नहीं जायेगा। इस व्यवस्था को चलाने वाला पूँजीपति वर्ग कभी भी अपने निजी मुनाफ़ को छोड़ नहीं सकता। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था को सिर्फ तबाह किया जा सकता है. इसे सुधारा नहीं जा सकता क्योंकि यह परस्पर प्रतिस्पर्द्धा, निजी मालिकाने और निजी मुनाफे पर टिकी हुई व्यवस्था है।

साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीवाद

पूँजीवाद के इसी संकट ने मानवता को दो विश्वयुद्धों की ओर धकेला। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में पूँजीवाद ने "मुक्त प्रतिस्पर्द्धा" से साम्राज्यवाद के दौर में प्रवेश किया। पूँजीवाद में बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है। लगातार जारी प्रतिस्पर्द्धा में बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को निगलती है, पूँजी के केन्द्रों की संख्या घटती है, पूँजी का सान्द्रण और संकेन्द्रण (concentration and centralization of capital) बढ़ता जाता है और अलग-अलग सेक्टरों में इजारेदारियों का जन्म होता है। इसी प्रक्रिया में उत्पादन के बढ़ते पैमाने के कारण बैंक पूँजी और औद्योगिक पूँजी का विलय होता है और वित्तीय पूँजी अस्तित्व में आती है। इसके साथ ही एक बड़ा इजारेदार वित्तीय पूँजीपति वर्ग भी अस्तित्व में आता है। देश के भीतर मुनाफ़े की औसत दर के गिरने के साथ तमाम पूँजीवादी देशों का बड़ा पूँजीपति वर्ग देश की सीमाओं के बाहर लाभप्रद निवेश के अवसर तलाशता है। "मुक्त प्रतिस्पर्द्धा" वाले पूँजीवाद के दौर में भी कई यूरोपीय पूँजीवादी देशों के उपनिवेश थे, लेकिन तब इन उपनिवेशों का प्रमुख तौर पर इस्तेमाल पूँजी के आदिम संचय और अपने मालों के बाज़ार के रूप में किया जाता था। लेकिन साम्राज्यवाद के दौर में मालों के निर्यात के साथ पूँजी का निर्यात शुरू हुआ और यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी। हर उन्नत पूँजीवादी देश का बड़ा इजारेदार पूँजीपति वर्ग मुनाफ़े के दर के संकट से निपटने के लिए उपनिवेशों में पूँजी निर्यात कर पूँजी के अतिसंचय की समस्या के समाधान का प्रयास करने लगा।

इसका नतीजा सिर्फ यही होना था कि अब आर्थिक संकट और बड़े और वैश्विक पैमाने पर प्रकट होता।

1870 के दशक के बाद से यूरोपीय देशों में पूँजीवाद भयंकर रूप से इस मुनाफ़े की दर के गिरने के संकट और अति-उत्पादन का शिकार हो गया था। ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैण्ड, पुर्तगाल, स्पेन जैसे कुछ देशों के पास सत्रहवीं व अट्ठारहवीं शताब्दी के समय से ही स्थापित उपनिवेश थे जिनके कारण वे अपने मालों को अपने देश के बाहर अपने उपनिवेशों में भी बेच पा रहे थे और इन देशों की लूट के जरिये पूँजी का आदिम संचय भी कर रहे थे। साम्राज्यवाद के दौर की शुरुआत के साथ मालों के अतिरिक्त अब लागत को और घटाने के मक़सद से सस्ते श्रम को निचोड़ने के लिए यानी मुनाफ़े की गिरती दर के संकट से निपटने के लिए ये देश अब पूँजी को भी इन उपनिवेशों में निर्यात कर रहे थे। यानी वहीं पर कारखाने लगाकर गुलाम देशों के सस्ते श्रम को निचोड़ रहे थे। 1910 का दशक आते-आते विश्व पूँजीवाद फिर से मुनाफ़े की दर के संकट और सामान्य अति-उत्पादन का शिकार हो गया। इसके साथ साम्राज्यवादी देशों में दुनिया के आर्थिक और क्षेत्रीय पुनर्विभाजन के लिए आपसी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ी। साथ ही, कई ऐसे यूरोपीय पूँजीवादी देशों की शक्ति का उदय हुआ जिनके पास उपनिवेश नहीं थे। ऐसे देशों में अगुआ था जर्मनी। इन देशों में पूँजीवाद के संकट के पैदा होने और इनकी आर्थिक और सैन्य ताक़त बढ़ने के साथ विश्व पैमाने पर उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों की पूँजीवादी लूट के फिर से बँटवारे का सवाल पैदा हो गया।

इसी सवाल को हल करने के लिए पूँजीवादी देशों के शासक वर्ग ने पूरी दुनिया को पहले साम्राज्यवादी महायुद्ध में धकेल दिया। इसमें जर्मनी और उसके मित्र देशों को पराजय का सामना करना पड़ा। लेकिन इस युद्ध ने रूस की महान क्रान्ति के लिए भी उपजाऊ जमीन तैयार की। दरअसल, यही ज़मीन जर्मनी में भी तैयार हुई थी, लेकिन वहाँ के सामाजिक जनवाद की ऐतिहासिक गद्दारी और काउत्स्की के नेतृत्व में पूरी सामाजिक जनवादी पार्टी के साम्राज्यवादी पूँजीवाद की गोद में बैठ जाने और क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की गम्भीर भूलों के कारण वहाँ क्रान्ति नहीं हो सकी, हालाँकि जर्मनी का मज़दूर आन्दोलन रूस के मज़दूर आन्दोलन से अधिक शक्तिशाली और पुराना था। विश्वयुद्ध में जर्मनी और ऑस्ट्रिया-हंगरी की पराजय के बाद के दौर में रूस में समाजवाद के तहत वहाँ के मज़दूर वर्ग ने अभूतपूर्व तरक्की करके पूरी दुनिया के सामने एक अद्वितीय मॉडल खड़ा कर दिया। दूसरी ओर, पहले विश्वयुद्ध में हथियार बेचकर और ऋण देकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने ज़बर्दस्त मुनाफ़ा कमाया। लेकिन एक दशक बीतते-बीतते संयुक्त राज्य अमेरिका में ही पूँजीवाद के अब तक के सबसे बड़े संकट का उदय हुआ जिसे 'महा मन्दी' के नाम से जाना जाता है। 1929 से लेकर 1939 तक चली इस मन्दी ने रूस को छोड़कर दुनिया के सभी देशों को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। विशेष रूप से, अमेरिका और यूरोपीय देशों को। इस मन्दी के बाद ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद ने मज़बूती से पैर जमा लिये, हालाँकि महामन्दी की शुरुआत के पहले इटली में फासीवाद सत्ता में आ चुका था क्योंकि इटली पहले से ही

गम्भीर आर्थिक व राजनीतिक संकट का शिकार था। महामन्दी ने जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद को कैसे पैदा और मज़बूत किया, अन्य देशों में फ़ासीवाद पाँव क्यों नहीं जमा पाया, इन सवालों पर हम आगे विचार करेंगे। पहले, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संकट के इतिहास पर कुछ शब्द और।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पीछे भी मूल कारण वैश्विक संकट और उसके कारण गहराती और तीखी होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा थी, जिसने फासीवाद के उदय के साथ विशेष तौर पर प्रतिक्रियावादी और आक्रामक रूप ले लिया था। द्वितीय विश्वयुद्ध में सबसे कम नुकसान संयुक्त राज्य अमेरिका को हुआ और सबसे अधिक नुक़सान सोवियत रूस को। पूरा यूरोप भी खण्डहर में तब्दील हो चुका था। अमेरिका ने यूरोप और जापान के पुनर्निर्माण के ज़रिये निवेश की सम्भावनाओं का उपयोग किया और अपनी मन्दी को कम-से-कम तीस वर्षों के लिए टाल दिया। 1950 से लेकर 1970 तक अमेरिकी पूँजीवाद ने खूब मुनाफ़ा पीटा। 1960 के दशक को तो अमेरिका में 'स्वर्ण युग' के नाम से जाना जाता है। मुनाफ़े की दर के गिरने के संकट और उसके परिणाम के तौर पर सामान्य अति-उत्पादन को दूर करने के लिए पूँजीवाद के दायरे के भीतर एक ही विकल्प होता है- उत्पादक शक्तियों का बड़े पैमाने पर विनाश और पूँजी का अवमूल्यन ताकि उनके पुनर्निर्माण के लिए बड़े पैमाने पर सम्भावनाएँ पैदा की जा सकें। यह विनाश समय-समय पर साम्राज्यवादी युद्धों और छँटनी-तालाबन्दी के पूँजी के अवमूल्यन के ज़रिये होता है। 1970 का दशक आते-आते विश्व पूँजीवाद एक बार फिर संकट का शिकार हुआ। इसके बाद वह उबरा ही था कि 1980 के दशक के मध्य में फिर से मन्दी ने उसे ग्रस लिया। इसके बाद भूमण्डलीकरण की नीतियों की शुरुआत के साथ विश्व साम्राज्यवाद ने एक नये चरण में प्रवेश किया। भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजीवाद ने मन्दी को दूर करने के लिए एक नयी रणनीति का उपयोग किया। वित्तीय पूँजी के प्रभुत्व के इस दौर में पूँजी की प्रचुरता और मन्दी के दोमुँहे संकट को दूर करने के लिए एक ओर मज़दूर वर्ग के श्रम अधिकारों पर लगातार हमला किया गया, श्रम बाज़ार को लचीला बनाकर ठेकाकरण, दिहाड़ीकरण और कैजुअलीकरण कर मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी को कम किया गया और मुनाफ़े की गिरती दर को कुछ प्रतिसन्तुलित किया गया वहीं दूसरी ओर बैंकों के ज़रिये उपभोक्ताओं को ऋण देने की शुरुआत की गयी। मध्य वर्ग तक के लोगों को माल खरीदने के लिए ऋण देने की प्रथा को विश्वभर में बड़े पैमाने पर शुरू किया गया। यानी पहले इन लोगों के ख़रीदने की ताक़त को सापेक्षिक तौर पर ठहरावग्रस्त रखा गया और बाज़ार को मालों से पाट दिया गया और फिर जब वास्तविक प्रभावी माँग की नुमाइन्दगी करने वाले पर्याप्त ख़रीदार नहीं बचे तो खुद ही सूद पर लोगों को पैसा देकर वह माल खरीदवाया गया, ताकि मन्दी को कुछ समय के लिए टाला जा सके। लेकिन जल्दी ही मध्य वर्ग को ऋण देकर माल ख़रीदवाने की सम्भावनाएँ समाप्त हो गयीं। इसके बाद, तमाम ऐसे लोगों को भी ऋण देने की शुरुआत की गयी जो उसका सूद चुकाने की क्षमता भी नहीं रखते थे, ताकि अस्थायी रूप से मन्दी का संकट दूर हो सके। जल्दी ही यह सम्भावना भी ख़त्म हो गयी और अब 2006 में शुरू हुई मन्दी के रूप

में पूँजीवाद के सामने महामन्दी के बाद का सबसे बड़ा संकट खड़ा है, जिससे निपटने के लिए विश्व भर के पूँजीवादी महाप्रभु द्रविड़ प्राणायाम करने में लगे हुए हैं। ऋणपोषित आर्थिक तेज़ी के के ये प्रयास और अतिवित्तीयकरण और कुछ नहीं बल्कि मुनाफ़े की औसत दर के गिरने के संकट की ही अभिव्यक्ति है क्योंकि पूँजी की वही प्रचुरता वित्तीय सट्टेबाज़ी में लगती है जिसे लाभप्रद रूप से निवेश नहीं किया जा सकता।

संक्षेप में, पूँजीवाद अपने स्वभाव से ही समय-समय पर संकट को जन्म देता रहता है। संकट से निपटने के लिए युद्ध पैदा किये जाते हैं। लेकिन यह एक अस्थायी समाधान होता है और बेताल फिर से आकर पुरानी डाल पर ही लटक जाता है। साम्राज्यवाद के दौर में विश्व पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में कुछ परिवर्तन आये लेकिन उन्होंने संकट और विकराल रूप ही दिया। साम्राज्यवाद के दौर की शुरुआत के बाद सवा सौ साल बीतते-बीतते आज फिर से गम्भीर दीर्घकालिक संकट सामने मुँह बाए खड़ा है।

पूँजीवादी संकट की सम्भावित प्रतिक्रियाएँ

संकट के दौर में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ती है। मुनाफे की गिरती दर संकट के दौर में अति-उत्पादन होने, पूँजीपति वर्ग की आपसी ख़रीद में गिरावट आने और उसके नतीजे के तौर पर उत्पादित सामग्री के बाज़ारों में बेकार पड़े रहने के कारण पूँजीपति का मुनाफ़ा वापस नहीं आ पाता है और माल के रूप में बाज़ार में अटका रह जाता है। मुनाफ़े की औसत दर में गिरावट के कारण पूँजीपति निवेश नहीं करना चाहता है। वह उत्पादन के साधनों और साथ ही लग्ज़री व अन्य उपभोक्ता सामग्रियों की खरीद में कटौती करता है। इसके कारण वह उत्पादन में निवेश को घटाता है, कारखाने बन्द करता है, मज़दूरों को निकालता है। 2006 में शुरू हुई मन्दी के कारण अकेले अमेरिका में क़रीब 85 लाख लोग जून 2009 तक बेरोज़गार हो चुके हैं। भारत में मन्दी की शुरुआत के बाद क़रीब । करोड़ लोग अपनी नौकरियों से हाथ धो चुके हैं। बेरोज़गारों की संख्या में पूरे विश्व में करोड़ों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। इसके कारण न सिर्फ़ तीसरी दुनिया के गरीब पिछड़े पूँजीवादी देशों में बल्कि यूरोप के देशों में भी दंगे हो रहे हैं। यूनान, फ्रांस, इंग्लैण्ड, आइसलैण्ड, आदि देशों में पिछले दिनों हुए देंगे और आन्दोलन इसी मन्दी का असर हैं। पूरे विश्व के पूँजीवादी देशों के शासक वर्ग ने इस मन्दी के कारण पैदा हुए जन-असन्तोष का जो जवाब दिया है, उसमें कुछ भी नया नहीं है। यह जवाब है कल्याणकारी राज्य का कीन्सियाई नुस्खा। यह "कल्याणकारी" राज्य क्या करता है, इसे भी समझना ज़रूरी है।

मन्दी के कारण जो वर्ग सबसे पहले तबाह होते हैं, वे हैं मज़दूर वर्ग, गरीब और निम्न मध्यम किसान, खेतिहर मज़दूर वर्ग, शहरी निम्न मध्य वर्ग और आम मध्य वर्गी यह कुल जनता का क़रीब 90 प्रतिशत होते हैं। इसके अतिरिक्त, छोटे व्यापारियों और दलालों का भी एक वर्ग इसमें तबाह होता है। इसके कारण पूरे समाज में ही 90 प्रतिशत बहुसंख्यक आबादी के लिए एक भयंकर आर्थिक और सामाजिक असुरक्षा का माहौल पैदा होता है। इसके कारण भारी पैमाने पर व्यापक और सघन जन-असन्तोष पैदा होता है जो पूरी व्यवस्था के

लिए ही एक खतरा साबित हो सकता है। इस ख़तरे से निपटने के लिए 1930 के दशक में पूँजीवाद के एक कुशल हकीम जॉन मेनॉर्ड कीन्स ने बताया कि अराजकतापूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था को थोड़ा-थोड़ा व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है। अगर निजी प्रतिस्पर्द्धा वाले पूँजीवाद और इजारेदारियों को मुक्त बाज़ार में खुल्ला छोड़ दिया जायेगा तो पूँजी की अराजक गति आत्मघाती रूप से ऐसे हालात पैदा कर देगी जो पूँजीवाद को ही निगल जायेंगे। इसलिए थोड़ा संयम बरतने की ज़रूरत है। इस व्यवस्थापन के काम को पूँजीवादी राज्य को अंजाम देना होगा। इसे कुछ ऐसी नीतियों में निवेश करना होगा जो लोगों को थोड़ा सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा का आभास कराये। मिसाल के तौर पर, सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) को खड़ा करके उसमें रोज़गार देना होगा; बीमा योजनाएँ लागू करनी होंगी; कुछ अवसंरचनागत क्षेत्र जैसे परिवहन, संचार, आदि को सरकार को अपने हाथ में रखना होगा; निजी क्षेत्र पर कुछ लगाम रखनी होगी; लोगों को आवास उपलब्ध कराने आदि की कुछ योजनाएँ शुरू करनी होंगी; मज़दूरों की मज़दूरी को थोड़ा बढ़ाना होगा, आदि। यानी कुछ सुधार के क़दम जो कुछ समय के लिए लोगों के असन्तोष पर ठण्डे पानी का छिड़काव कर सकें। ऐसे काम करने वाले राज्य को ही "कल्याणकारी" राज्य कहा जाता है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि यह कल्याणकारी राज्य पूँजीवाद के दूरगामी कल्याण के लिए और जनता के मन में फ़ौरी कल्याण का एक झूठा अहसास पैदा करने के लिए खड़ा किया जाता है।

लेकिन इस कल्याणकारी राज्य के साथ दिक़्क़त यह होती है कि इसके अपने ख़र्चे बहुत होते हैं। तमाम कल्याणकारी नीतियों को लागू करने के लिए सरकार को पूँजीपतियों के मुनाफ़े पर थोड़ी लगाम कसनी पड़ती है और मज़दूरों को थोड़ी रियायतें और छूट देनी पड़ती है। जिन देशों में पूँजीवाद का आगमन सामन्तवाद विरोधी क्रान्तियों के ज़रिये हुआ और जहाँ पूँजीवादी विकास की गहरे तक पैठी हुई एक लम्बी प्रक्रिया चली और जो देश कालान्तर में प्रमुख साम्राज्यवादी देशों व उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों के लुटेरों के तौर पर उभरे, वहाँ पूँजीपति वर्ग आर्थिक रूप से इस हालत में था कि कल्याणकारी राज्य के "ख़र्च उठा सके" और राजनीतिक रूप से भी इतना चेतना-सम्पन्न था कि कल्याणकारी राज्य को कुछ समय तक चलने दे तथा कुछ इन्तज़ार के बाद, दोबारा "छुट्टा साँड़ ब्राण्ड" पूँजीवाद की शुरुआत करे। जिन देशों में पूँजीवाद किसी क्रान्तिकारी बदलाव के ज़रिये नहीं, बल्कि एक क्रमिक प्रक्रिया में आया वहाँ कल्याणकारी राज्य के कुछ और ही नतीजे सामने आये। इन देशों में जर्मनी और इटली अग्रणी थे। जर्मनी का पूँजीवाद में संक्रमण किसी पूँजीवादी क्रान्ति के ज़रिये नहीं हुआ। वहाँ पर क्रान्तिकारी भूमि सुधार नहीं लागू हुए, बल्कि सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी भूस्वामी में तब्दील हो जाने का मौक़ा दिया गया। औद्योगिक पूँजीपति वर्ग राज्य व बैंकों द्वारा दी गयी सहायता के बूते खड़ा हुआ, न कि एक लम्बे पूँजीवादी विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया से, जैसाकि इंग्लैण्ड और फ़्रांस में हुआ था। कल्याणकारी राज्य के नतीजों पर यहाँ के पूँजीपति वर्ग, कुलकों और धनी किसानों की प्रतिक्रिया इंग्लैण्ड, अमेरिका, और फ़्रांस के पूँजीपति वर्ग से बिल्कुल भिन्न रही। इन

शासक वर्गों की अलग क़िस्म की प्रतिक्रिया ने जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उदय की ज़मीन तैयार की। इसके अतिरिक्त, एक और कारक ने फ़ासीवाद के उभार में बहुत बड़ी भूमिका निभायी। यह कारक था जर्मनी और इटली के सामाजिक जनवादी आन्दोलन की ग़द्दारी और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन का पूँजीवाद की चौहद्दियों के भीतर ही घूमते रह जाना। जर्मनी की सामाजिक जनवादी पार्टी के नेतृत्व में जर्मनी में एक बहुत शक्तिशाली मजदूर आन्दोलन था जिसने 1919 से लेकर 1931 तक राज्य से मज़दूरों के लिए बहुत से अधिकार हासिल किये। जर्मनी में मज़दूरों की मज़दूरी किसी भी यूरोपीय देश से अधिक थी। कुल राष्ट्रीय उत्पाद में मज़दूर वर्ग का हिस्सा यूरोप के किसी भी देश के मज़दूर वर्ग के हिस्से से अधिक था। लेकिन इससे आगे सामाजिक जनवाद और कोई बात नहीं करता था। वह इसी यथास्थिति को बरकरार रखना चाहता था और इसलिए मज़दर वर्ग के आन्दोलन को सधारवादी संसदवाद और अर्थवाद की अन्धी चक्करदार गलियों में घुमाता रहा। लेकिन दसरी तरफ़ जर्मनी का पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग को मिली इन रियायतों और सुविधाओं को बर्दाश्त करने की ताक़त खोता जा रहा था, क्योंकि इसके कारण पूँजी संचय की उसकी रफ्तार बेहद कम हो गयी थी, यहाँ तक कि ठहर गयी थी। इसके कारण विश्वस्तर पर प्रतिस्पर्द्धा में उसका टिक पाना बेहद मुश्किल हो गया था। 1928 आते-आते जर्मनी संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद सबसे अधिक औद्योगिक उत्पादन वाला देश बन चुका था और उत्पादकता की रफ़्तार भी अमेरिका के बाद सबसे अधिक थी। इसके साथ ही विश्वस्तर पर जर्मनी की साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्दा भी अधिक से अधिक तीखी होती जा रही थी। लेकिन घरेलू पैमाने पर मज़दूर वर्ग के शक्तिशाली सुधारवादी आन्दोलन के कारण पहले से गिरती उसके मुनाफे की दर लगातार कम होती जा रही थी, जिसे इतिहासकारों ने लाभ संकुचन ("प्रॉफिट स्क्वीज़") का नाम दिया है। ठीक इसी समय, विश्वव्यापी महामन्दी का प्रभाव जर्मनी की अर्थव्यवस्था पर पड़ा। लाभ संकुचन की मार से बिलबिलाये हुए जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए यह बहुत त्रासद था! इसके कारण सबसे पहले छोटा पूँजीपति वर्ग तबाह होना शुरू हुआ। बड़े पूँजीपति वर्ग को भी भारी हानि उठानी पड़ी। बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी बढ़ी। शहरी वेतनभोगी निम्न मध्य वर्ग में भी बेकारी द्रुत गति से बढ़ने लगी। जिनके पास काम था, उनके सिर पर भी हर समय छंटनी की तलवार लटक रही थी। इस पूरे असुरक्षा के माहौल ने निम्न पूँजीपति वर्ग, सरकारी वेतनभोगी मध्य वर्ग, दुकानदारों और शहरी बेरोज़गारों के एक हिस्से के भीतर प्रतिक्रिया की ज़मीन तैयार की। यही वह ज़मीन थी जिसे भुनाकर राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन मज़दूर पार्टी (हिटलर की नात्सी पार्टी) ने एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा किया जिसकी अग्रिम क़तारों में निम्न पूँजीपति वर्ग, वेतनभोगी मध्य वर्ग, शहरी पढ़ा-लिखा मध्य वर्ग, लम्पट सर्वहारा और यहाँ तक कि सर्वहारा वर्ग का भी एक हिस्सा खड़ा था।

असुरक्षा का यह माहौल पैदा होने पर एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का काम था पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को बेनक़ाब करके जनता को यह बताना कि पूँजीवाद जनता को अन्ततः यही दे सकता है - ग़रीबी, बेरोज़गारी, असुरक्षा, भुखमरी! इसका इलाज सुधारवाद के

ज़रिये चन्द पैबन्द लगाकर, अर्थवाद के ज़रिये कुछ भत्ते बढ़वाकर और संसदबाज़ी से नहीं हो सकता। साथ ही, पार्टी को ज़रूरत थी कि वह फ़ासीवादियों के सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रचार का अपने क्रान्तिकारी प्रचार द्वारा मुँहतोड़ जवाब दे। फ़ासीवादी सांस्कृतिक व राजनीतिक प्रचार मूलतः आर्थिक या भौतिक प्रश्नों को गोल कर जाता है। यह वॉल्टर बेंजामिन के शब्दों में राजनीति का सौन्दर्याकरण होता है। यह प्रचार टटपुँजिया जनसमुदायों के सामाजिक मनोविज्ञान में मौजूद प्रतिक्रियावादी तत्वों पर खेलता है और उन्हें बढ़ाता है। यह समझना आवश्यक है कि फ़ासीवादी उभार टटपुँजिया व मज़दूर वर्ग के एक हिस्से का 'ब्रेन वॉश' करके नहीं होता। विशेष तौर पर टटपुँजिया आबादी में प्रतिक्रियावादी विचार या उनकी ज़मीन पहले से मौजूद होती है। इन प्रतिक्रियावादी विचारों के मूल में एक तरफ़ पूँजीवादी समाज में पैदा हुई सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा होती है, जिसका हम ज़िक्र कर चुके हैं, तो वहीं दूसरी ओर पूँजीवादी पितृसत्तात्मक मूल्य, पूँजीवादी नैतिकता और आचार भी होते हैं। इनका मुक़ाबला केवल आर्थिक प्रचार के ज़रिये नहीं किया जा सकता है। इनका मुक़ाबला करने के लिए फ़ासीवादियों के समूचे सांस्कृतिक व राजनीतिक प्रचार के मूल पर नुक्ते-दर-नुक्ते हमला करना और उसकी असलियत को जनता के सामने स्पष्ट करना बेहद ज़रूरी होता है। जनता के बीच इन विचारों को परास्त करते हुए यह स्पष्ट करना होता है कि पूँजीवादी समाज द्वारा पैदा की गयी अराजकता और सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा का एक ही इलाज है - मज़दूर वर्ग की पार्टी के नेतृत्व में, मज़दूर वर्ग की विचारधारा की रोशनी में, मज़दूर वर्ग की क्रान्ति। इन कार्यभारों को हाथ में लेने की बजाय सामाजिक जनवादियों ने पूरे मज़दूर वर्ग को गुमराह किये रखा और अन्त तक, हिटलर के सत्ता में आने तक, वह सिर्फ़ नात्सी-विरोधी संसदीय गठबन्धन बनाने में लगे रहे। नतीजा यह हुआ कि हिटलर पूँजीवाद द्वारा पैदा की गयी असुरक्षा के माहौल में जन्मे प्रतिक्रियावाद की लहर पर सवार होकर सत्ता में आया और उसके बाद मज़दूरों, कम्युनिस्टों, ट्रेड यूनियनवादियों और यहूदियों के क़त्लेआम का जो ताण्डव उसने रचा वह आज भी दिल दहला देता है। सामाजिक जनवादियों की मज़दूर वर्ग के साथ गद्दारी के कारण ही जर्मनी में फ़ासीवाद विजयी हो पाया। जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूर वर्ग को संगठित कर पाने और क्रान्ति में आगे बढ़ा पाने में असफल रही। नतीजा था फ़ासीवादी उभार, जो अप्रतिरोध्य न होकर भी अप्रतिरोध्य बन गया।

*

अब तक हमने उन आर्थिक प्रक्रियाओं के बारे में पढ़ा जिनके नतीजे के तौर पर वे स्थितियाँ पैदा होती हैं जो फ़ासीवाद को भी जन्म दे सकती हैं। हालाँकि कोई ज़रूरी नहीं है कि ये आर्थिक परिस्थितियाँ अनिवार्य रूप से फ़ासीवाद को जन्म दें। फ़ासीवाद के उभार को रोका जा सकता है या नहीं, यह काफ़ी कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि संकटपूर्ण परिस्थिति का विचारधारात्मक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व आर्थिक तौर पर कोई क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद है या नहीं। यदि क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद नहीं होगा तो जनता को प्रतिक्रिया के रास्ते पर ले जाना फ़ासीवादी ताक़ों के लिए आसान हो जायेगा।

इस परिप्रेक्ष्य में भगतसिंह का वह कथन बरबस ही याद आता है जिसमें उन्होंने कहा था, “जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है तो इंसानियत की रूह में क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की जरूरत होती है, वरना प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जनता को ग़लत रास्ते पर ले जाने में सफल हो जाती हैं।”

इस सामान्य रूपरेखा के बाद जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उदय की स्थितियों और प्रक्रियाओं पर निगाह डालना उपयोगी होगा। जर्मनी फ़ासीवाद के उदय, विकास और सशक्तीकरण का सबसे प्रातिनिधिक उदाहरण है। हालाँकि जर्मनी के मुक़ाबले इटली में फ़ासीवाद पहले सत्ता में आया, लेकिन जर्मनी ही वह देश था जहाँ फासीवादी उभार ने सबसे गहराई तक जड़ें जमायी और जहाँ यह उभार जबर्दस्त था। इसलिए हम अपना विश्लेषण जर्मनी से ही शुरू करते हैं।

जर्मनी में फ़ासीवाद

फ़ासीवादियों के बारे में अक्सर एक मिथक लोगों के दिमाग़ में होता है कि वे असांस्कृतिक, सनकी, झक्की होते हैं। जर्मनी का उदाहरण दिखलाता है कि फ़ासीवादियों की क़तार में कोई पागलों या सनकियों की भरमार नहीं थी। बल्कि वहाँ बेहद पढ़े-लिखे लोगों की तादाद मौजूद थी जो समानता, जनवाद और आज़ादी के उसूलों के बेहद सचेतन विरोधी थे। जर्मनी में फ़ासीवादियों को तमाम सामाजिक तबकों से समर्थन प्राप्त था। इनमें नौकरशाह वर्ग, कुलीन वर्ग और पढ़े-लिखे अकादमिकों (विश्वविद्यालय, कॉलेज, स्कूल के टीचर, लेखक, पत्रकार, वकील आदि) की अच्छी-खासी संख्या शामिल थी। 1934 में क़रीब एक लाख लोगों को हिटलर की हत्यारी सेना 'आइन्त्साज़ग्रुप्पेन' ने या तो गिरफ़्तार कर लिया था, या यातना शिविरों में भेज दिया था या फिर मार डाला था। आपको जानकर ताज्जुब होगा कि आइन्त्साज़ग्रुप्पेन के अधिकारियों का एक-तिहाई हिस्सा विश्वविद्यालयों से डिग्री प्राप्त किये हुए लोगों का था।

जर्मनी में फ़ासीवाद को बड़े उद्योगपतियों से जबदरस्त समर्थन प्राप्त था। पूँजीपति वर्ग के जिस हिस्से ने हिटलर की राष्ट्रीय समाजवादी मज़दूर पार्टी (नात्सी पार्टी) को सबसे पहले समर्थन दिया था, वह था घरेलू भारी उद्योगों का मालिक पूँजीपति वर्ग। बाद में पूँजीपति वर्ग के दूसरे सबसे बड़े हिस्से निर्यातक पूँजीपति वर्ग ने भी हिटलर को अपना समर्थन दे दिया। और इसके बाद उद्योग जगत के बचे-खुचे हिस्से ने भी नात्सी पार्टी को समर्थन दे दिया। इसके कारण साफ़ थे। हिटलर की नीतियों का सबसे ज़्यादा फ़ायदा बड़े पूँजीपति वर्ग को होना था। वैश्विक संकट के दौर में मज़दूर आन्दोलन की शक्ति को खण्डित करके अपनी सबसे प्रतिक्रियावादी, सबसे नग्न और सबसे क्रूर तानाशाही को लागू करने के लिए जर्मनी के बड़े पूँजीपति वर्ग को जिस राजनीतिक समूह की ज़रूरत थी, वह था नात्सी पार्टी (जो पूँजीवाद से पैदा हुई आर्थिक-सामाजिक असुरक्षा के कारण निम्न पूँजीपति वर्गों, मध्य वर्गों और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से में पनपने वाली प्रतिक्रिया का इस्तेमाल करके एक गैर-जनवादी, तानाशाह सत्ता स्थापित कर सके। जाहिर है, इस प्रतिक्रिया का निशाना किसी

न किसी को बनाना था और जर्मनी में नात्सी पार्टी ने जिन्हें प्रतिक्रिया का निशाना बनाया, वे थे नस्लीय अल्पसंख्यक, विशेष रूप से यहूदी, मज़दूर व ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता (जिन्हें नात्सी पार्टी ने आर्थिक असुरक्षा और ठहराव का ज़िम्मेदार ठहराया) और कम्युनिस्टा नात्सी पार्टी का फ़ासीवादी शासन अन्तिम विश्लेषण में निश्चित रूप से बड़े वित्तीय और औद्योगिक पूँजीपति वर्ग की तानाशाही का नग्नतम और क्रूरतम रूप था। इसे एक छोटे-से उदाहरण से समझा जा सकता है। जर्मन उद्योगपतियों ने नात्सी शासन के दौरान अपने कारखानों में गुलामों से जमकर श्रम करवाया, जो कहने की आवश्यकता नहीं कि फ़ासीवादी राज्य उन्हें मुफ़्त में मुहैया कराता था। ये गुलाम श्रम करने वाले लोग थे हिटलर द्वारा यातना शिविरों में भेजे गये यहूदी, मज़दूर, ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता और कम्युनिस्ट। आम गुलाम मज़दूर की औसत आयु मात्रा तीन महीने थी। तीन महीने इस किस्म का श्रम करने के बाद उनकी मौत हो जाया करती थी। इस गुलाम श्रम का इस्तेमाल करने वाली कम्पनियों में आज के जर्मनी की तमाम प्रतिष्ठित कम्पनियाँ शामिल थीं, जैसे फोक्सवैगन और क्रुप। ये सिर्फ़ दो उदाहरण हैं। इस घिनौने कृत्य में जर्मनी के तमाम बड़े पूँजीपति शामिल थे। इन अमानवीय कृत्यों के विरुद्ध लड़ने वाले लोग अधिकांश मामलों में कम्युनिस्ट थे। कम्युनिस्टों को ही सबसे बर्बर दमन का भी सामना करना पड़ा।

इतिहास गवाह है कि संकट के दौरों में, जब संसाधनों की "कमी" (क्योंकि यह वास्तविक कमी नहीं होती, बल्कि मुनाफ़ा-आधारित व्यवस्था द्वारा पैदा की गयी कृत्रिम कमी होती है) होती है, तभी धार्मिक और जातीय अन्तरविरोध तथा टकरावों के पैदा होने और बढ़ने की सम्भावना सबसे ज़्यादा होती है। अगर जनता के सामने वर्ग अन्तरविरोध साफ़ नहीं होते और उनमें वर्ग चेतना की कमी होती है तो उनके भीतर किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के लोगों के प्रति अतार्किक प्रतिक्रियावादी गुस्सा भरा जा सकता है और उन्हें इस भ्रम का शिकार बनाया जा सकता है कि उनकी दिक्कतों और तकलीफ़ों का कारण उस विशेष सम्प्रदाय, जाति या धर्म के लोग हैं। आज जिस तरह वैश्विक संकट के दौर में दुनिया भर में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ी है उसी प्रकार 1930 के दशक की मन्दी के समय भी दुनिया भर में बेरोज़गारी तेजी से बढ़ी थी। उस समय भी शहरी गरीबों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हुई थी। जिन देशों में औद्योगिक विकास का एक लम्बा और गहरा इतिहास था वहाँ पूँजीवादी विकास के कारण आम मेहनतकश जनता के उजड़ने की प्रक्रिया एक क्रमिक प्रक्रिया थी, जो धीरे-धीरे और कई किश्तों में पूरी हुई। लेकिन जर्मनी में औद्योगिक विकास 1860-70 के पहले बेहद कम था जो राष्ट्रीय एकीकरण के बाद द्रुत गति से हुआ और उसने गाँवों में ग़रीब किसानों को और शहरों में आम मेहनतकश आबादी को इतनी तेज गति से उजाड़ा कि पूरे समाज में एक भयंकर असुरक्षा और अनिश्चितता का माहौल पैदा हुआ। जर्मनी में भी शहरी बेरोज़गारी और शहरी तथा ग्रामीण ग़रीबी में तेज़ी से वृद्धि हुई थी। अतिवादी नस्लवाद, सम्प्रदायवाद, या जातीयतावाद अक्सर आर्थिक और सामाजिक तौर पर उजड़े हुए लोगों के जीवन को एक "अर्थ" प्रदान करने का काम करते हैं। यही कारण है कि ऐसे समाजों में जहाँ पूँजीवादी विकास क्रान्तिकारी प्रक्रिया के ज़रिये नहीं हुआ, जहाँ पूँजीवादी

विकास की प्रक्रिया इतिहास के एक लम्बे दौर में फैली हुई प्रक्रिया के रूप में नहीं मौजूद थी, बल्कि एक असमान, अधूरी, और अजीब तरीक़े से द्रुत अराजक प्रक्रिया के रूप में घटित हुई, वहाँ के समाज में फ़ासीवाद के सामाजिक आधार ज़्यादा बड़े पैमाने पर पैदा हुए।

जर्मनी में औद्योगीकरण की प्रक्रिया बहुत देर से शुरू हुई। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत 1780 के दशक में हो गयी थी। फ्रांस में 1860 आते-आते औद्योगिक क्रान्ति का एक दौर पूरा हो चुका था। दूसरी तरफ़, इस समय तक जर्मनी एक एकीकृत देश के रूप में सामने तक नहीं आ पाया था। जर्मन एकीकरण के बाद एक जर्मन राष्ट्र राज्य अस्तित्व में आया। बिस्मार्क के नेतृत्व में पूँजीवादी विकास की तेज़ी से आगे बढ़ी। जर्मनी में राष्ट्रीय पैमाने पर पूँजीवाद का विकास ही तब शुरू हुआ जब विश्व पैमाने पर पूँजीवाद साम्राज्यवाद, यानी कि एकाधिकारी पूँजीवाद, के दौर में प्रवेश कर चुका था। एकाधिकारी पूँजीवाद प्रकृति और चरित्र से ही जनवाद-विरोधी होता है। जर्मनी में पूँजीवादी विकास बैंकों की पूँजी की मदद से शुरू हुआ और उसका चरित्र शुरू से ही एकाधिकारी पूँजीवाद का था। नतीजतन, जर्मनी में पूँजीवाद का विकास 1880 के दशक से ही इतनी तेज गति से हुआ कि 1914 आते-आते वह यूरोप का सबसे अधिक आर्थिक वृद्धि दर वाला देश बन गया जिसका औद्योगिक उत्पादन अमेरिका के बाद सबसे अधिक था। लेकिन किसी जनवादी क्रान्ति के रास्ते पूँजीवाद के न आने के कारण समाज में जनवाद की ज़मीन हमेशा से ही कमज़ोर थी। जर्मनी के एक आर्थिक महाशक्ति के तौर पर उदय के बाद विश्व पैमाने पर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का तीव्र होना लाज़िमी था। उस समय ब्रिटेन दुनिया की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति था और उसका औपनिवेशिक साम्राज्य सबसे बड़ा था। जर्मनी विश्व पैमाने पर लूट का नये सिरे से बँटवारा करना चाहता था। जर्मनी की यह साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा विश्व को पहले विश्वयुद्ध की तरफ़ ले गयी। पहला विश्वयुद्ध 1914 से 1919 तक चला जिसमें मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी समेत धुरी राष्ट्रों को हरा दिया। वर्साय में युद्ध के समाप्त होने के बाद सन्धि हुई जिसे वर्साय सन्धि के नाम से जाना जाता है। इस सन्धि में जर्मनी पर भारी शर्तें थोपी गयीं। उससे भारी युद्ध हर्जाना वसूला गया। उसके सभी अधिकार-क्षेत्र उससे छीन लिये गये। उसके कुछ हिस्से अलग-अलग देशों को दे दिये गये। युद्ध की समाप्ति के बाद जर्मनी की पूरी अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। इसके कारण जर्मन पूँजीवाद के समक्ष अस्तित्व का संकट पैदा हो चुका था। पुरानी विकास दर को हासिल करने के लिए जर्मन पूँजीवाद को मज़दूरों के शोषण की ऐसी दर हासिल करनी पड़ती जो मज़दूर आबादी को बग़ावत पर आमादा कर देती। लेकिन इसी समय जर्मन पूँजीपति वर्ग के सामने रूस का उदाहरण भी था, जहाँ साम्राज्यवादी युद्ध ने सर्वहारा क्रान्ति को जन्म दिया। जर्मन पूँजीपति वर्ग को वही ग़लती करने से जर्मनी के सामाजिक जनवादियों ने बचा लिया। जर्मन बड़े पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि ह्यूगो स्टिनेस और जर्मनी के सामाजिक जनवादी पार्टी के नेता कार्ल लीजन, जो ट्रेड यूनियनों और मज़दूरों के प्रतिनिधि के तौर पर गये थे, के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के

तहत जर्मन पूँजीपति वर्ग जर्मन मज़दूर वर्ग को तमाम रियायतें और सुविधाएँ देने के लिए तैयार हो गया। ये वे रियायतें व सुविधाएँ थीं जिन्हें जर्मन पूँजीपति वर्ग युद्ध से पहले के तेज़ी के हालात में देने के लिए कभी तैयार नहीं होता। लेकिन अब अगर वह मज़दूर वर्ग से टकराव मोल लेता तो किसी क्रान्तिकारी प्रहार को झेलने की ताक़त युद्ध के बाद उसमें बची नहीं थी। लेनिन ने 1919 में जर्मनी में वाइमर गणराज्य के अस्तित्व में आने के बाद और जर्मन पूँजी और श्रम के बीच सामाजिक जनवादियों के मार्गदर्शन में समझौता होने के बाद ही कहा था कि जर्मन बड़े पूँजीपति वर्ग ने रूसी क्रान्ति के उदाहरण से सबक़ लिया और मज़दूर वर्ग से सीधे तौर पर उलझने की बजाय समझौता करना उपयुक्त समझा। 1919 के जून में जर्मन लीग ऑफ़ इण्डस्टीज के अध्यक्ष मण्डल के सदस्य अब्राहम फ्राउइन का यह कथन इस बात को अच्छी तरह दिखलाता है "सज्जनो, रूस में घटनाओं ने ग़लत मोड ले लिया और शुरुआत से ही उद्योग ने क्रान्ति को खारिज किया। अगर हम और यह काफ़ी आसान होता भी असहयोग की अवस्थिति अपनाते, तो मुझे पूरा यकीन है कि आज हमारे यहाँ भी वही स्थितियाँ होतीं जोकि रूस में हैं।" एक जर्मन उद्योगपति का यह कथन जर्मन संशोधनवादियों की मज़दूर वर्ग से गद्दारी को साफ़ तौर पर दिखलाता है।

श्रम और पूँजी के बीच हुए समझौते ने जर्मनी में एक अन्तरविरोध को तीखा होने से कुछ समय तक के लिए टाल दिया। लेकिन इससे वह अन्तरविरोध खत्म नहीं हुआ और न ही हो सकता था। युद्ध के बाद जर्मन पूँजी को श्रम की और तेज़ रफ़्तार से शोषण करने की ज़रूरत थी। लेकिन जर्मन पूँजीवाद को बचाने के लिए मज़दर वर्ग को कई रियायतें देना पूँजीपति वर्ग की मजबूरी थी। इसके कारण जनवाद के सबसे धुर शत्रु वर्गों को अपने कई विशेषाधिकारों का परित्याग करना पड़ा। इन वर्गों में जर्मनी का युंकर वर्ग (धनी भूस्वामी वर्ग, जो पहले सामन्ती ज़मींदार हुआ करता था और जिसे क्रमिक भूमि सुधारों के रास्ते पूँजीवादी भूस्वामी वर्ग में तब्दील कर दिया गया) और जर्मनी का बड़ा पूँजीपति वर्ग प्रमुख थे जिसमें घरेलू भारी उद्योग के मालिक पूँजीपति और निर्यातक पूँजीपति शामिल थे। इन वर्गों का मज़दूर वर्ग के साथ अन्तरविरोध समय-समय पर सिर उठाता रहता था, लेकिन संगठित मज़दूर आन्दोलन के कारण हिटलर के आने से पहले के समय तक ये वर्ग मज़दूरों का नग्न दमन और शोषण शुरू नहीं कर पाये। 1924 तक इन प्रतिक्रियावादी वर्गों की तरफ़ से तख़्तापलट की कुछ कोशिशें भी हुई जिनका लक्ष्य मज़दूर वर्ग पर बुर्जुआ वर्ग की हिंस्र तानाशाही लागू करना था। लेकिन इनके बावजूद जर्मनी का प्रतिक्रियावादी बड़ा पूँजीपति वर्ग सफल नहीं हो पाया। 1924 से 1929 तक का दौर जर्मन पूँजीवाद में तुलनात्मक स्थिरता का दौर था जिसमें श्रम और पूँजी के बीच का समझौता कम-से-कम ऊपरी तौर पर सुगम रूप से चला और मज़दूर वर्ग ने अपनी सहूलियतों और रियायतों को क़ायम रखा। लेकिन 1929 में महामन्दी आयी और उसने जर्मन पूँजीपति वर्ग को भारी धक्का दिया। इस धक्के के कारण जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए मुनाफ़े की दर को स्वस्थ स्तर पर बनाये रख पाना असम्भव हो गया और यहीं से उस राजनीतिक संकट की

शुरुआत हुई, जिसने अन्ततः हिटलर के नेतृत्व में नात्सी पार्टी को 1933 में सत्ता में पहुँचा दिया।

1927 तक जर्मनी ने अपना औद्योगिक उत्पादन उसी स्तर पर पहुँचा दिया था जिस स्तर पर वह प्रथम विश्वयुद्ध से पहले था। जर्मनी यूरोप की सबसे बड़ी और दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी औद्योगिक महाशक्ति बन चुका था। लेकिन अन्दर से जर्मन पूँजीवाद मज़दूर आन्दोलन के साथ समझौते के दबाव के कारण अभी भी उतना ही अस्थिर था। जर्मन पूँजीपति वर्ग की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ फिर से ज़ोर मारने लगी थीं और जर्मन पूँजीपति वर्ग के कई प्रतिनिधियों की ओर से फिर से युद्धोन्मादी और अन्धराष्ट्रवादी नारे सुनायी देने लगे थे। विश्वस्तर पर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में फिर से अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए अब जर्मन पूँजीपति वर्ग को खुले हाथ की ज़रूरत थी, जिसके कारण मज़दूर वर्ग से समझौते को ख़ारिज कर देने का दबाव बढ़ता जा रहा था। यही कारण था कि जर्मन नेशनल पीपुल्स पार्टी और सेण्टर पार्टी के नेतृत्व में अन्धराष्ट्रवादी नेताओं की विजय हुई। 1928 में नात्सी पार्टी को चुनावों में काफ़ी सफलता प्राप्त हुई। 1929 में महामन्दी की शुरुआत के बाद जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए मज़दूरों को दी गयी सभी रियायतों को रद्द करना अस्तित्व का प्रश्न बन गया। अब वे इन रियायतों का ख़र्च नहीं उठा सकते थे। महामन्दी के कारण देश में बेरोज़गारी और ग़रीबी तेज़ी से बढ़ी लेकिन मज़दूर आबादी की मोलभाव करने की क्षमता इससे कम नहीं हुई क्योंकि उनका प्रतिरोध संगठित था। नतीजतन, महामन्दी का पूरा दबाव पूँजीपति वर्ग पर पड़ने लगा और उसके मुनाफे की दर में तेज़ी से कमी आयी। मज़दूर वर्ग के खिलाफ़ कोई आक्रामक रवैया न अपना पाने के कारण आर्थिक संकट के दबाव को निम्न मध्य वर्ग और मध्य वर्गों की ओर निर्देशित कर दिया गया। संकट के कारण जो वर्ग सबसे तेज़ी से तबाह होकर सड़कों पर आ रहा था वह था छोटे उद्योगपतियों और व्यापारियों का वर्गी कारण यह था कि वह श्रम के शोषण की दर को बढ़ा पाने में पूरी तरह अक्षम था।

बड़े पूँजीपति वर्ग को इस समय किसी ऐसी राजनीतिक शक्ति की आवश्यकता थी जो तबाह हो रहे निम्न मध्य वर्ग, आम शहरी मेहनतकश आबादी के एक हिस्से, मध्य वर्गों की प्रतिक्रिया के निशाने पर संगठित मज़दूर आन्दोलन को ला सके और उन्हें इस बात पर सहमत कर सके कि सारी दिक़्क़त की जड़ कम्युनिस्ट, ट्रेड यूनियन और संगठित मज़दूर आबादी है। इस काम को नात्सी पार्टी से बेहतर कोई अंजाम नहीं दे सकता था।

इस संकट के दौर में यदि कोई क्रान्तिकारी नेतृत्व मज़दूर आन्दोलन को मौजूदा व्यवस्था से बाहर ले जाने की ओर आगे बढ़ा पाता तो तस्वीर कुछ और होती, लेकिन सामाजिक जनवादियों की जकड़बन्दी में मज़दूर आन्दोलन बस मिली हुई रियायतों और सहलियतों से चिपके रहना चाहता था, उससे आगे नहीं जाना चाहता था। या यूँ कहें कि सामाजिक जनवादी नेतत्व ने उसे पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर मिले सुधारों से आगे बढ़ने के बजाय उन्हें बचाये रखने तक सीमित रखने को प्रेरित किया। लेकिन इन सुधारों को क़ायम रखने

के लिए जर्मन पूँजीपति वर्ग अब तैयार नहीं था क्योंकि अब यह उसकी मजबरी नहीं रह गयी थी और यह उसके लिए अब सम्भव भी नहीं रह गया था। वह हमले के लिए तैयार था। लेकिन मज़दूर वर्ग वहीं का वहीं खड़ा रह गया। नतीजा यह हुआ कि आर्थिक संकट बढ़ने के साथ संगठित मज़दूर वर्ग से बाहर की मेहनतकश आबादी, यानी निम्न मध्य वर्गीय आबादी और मध्य वर्गीय आबादी के समक्ष बेरोज़गारी, असुरक्षा और अनिश्चितता का संकट बढ़ता गया जिसने उस प्रतिक्रिया को जन्म दिया जिसका इस्तेमाल नात्सियों ने किया। इसी प्रतिक्रिया को उन्होंने एक नस्लवादी शक्ल भी दे दी क्योंकि इसके बिना उतने बड़े पैमाने पर प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी सम्भव नहीं थी। नतीजतन, इस तमाम अनिश्चितता और असुरक्षा के लिए यहूदियों को ज़िम्मेदार ठहराया गया। वैसे भी नात्सियों द्वारा कम्युनिज़्म और बोल्शेविज़्म को एक यहूदी षडयंत्र एक रूप में पेश किया गया था।

दूसरी ओर, सामाजिक जनवादियों ने कृषि क्षेत्र में युंकरों और धनी किसानों के प्रभुत्व को तोड़ने वाले भूमि सुधारों के लिए भी सत्ता पर दबाव नहीं डाला। गौरतलब है कि सामाजिक जनवादियों के पास यह दबाव डालने के लिए पर्याप्त ताक़त थी। इसकी मिसाल तब देखने को मिली थी जब 1926 में राजकुमारों को राज्य से मिलने वाले ख़र्च को ख़त्म करने के लिए उन्होंने सफल आन्दोलन चलाया था। इसी जनवादीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए वे रैडिकल भूमि सुधारों के ज़रिये शासक वर्गों के सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्से ईस्ट एल्बे के युंकरों के प्रभुत्व को तोड़कर शासक वर्ग की ताक़त को कमज़ोर कर सकते थे। ऐसा इसलिए भी आसान था क्योंकि युंकरों और बड़े पूँजीपति वर्ग और बैंकों के बीच पहले से ही अन्तरविरोध मौजूद थे। लेकिन सामाजिक जनवादियों ने ऐसा नहीं किया और बस मज़दूर आन्दोलन को मिली रियायतों से चिपके रहने के हिमायती बने रहे। मिली हुई सहूलियतों को क़ायम रखने के लिए सामाजिक जनवादी बड़े पूँजीपति वर्ग की शर्तों पर उस समझौते को क्रायम रखना चाहते थे। जबकि पूँजीपति वर्ग इन सहूलियतों को खत्म कर अपना हमला करने की तैयारी कर चुका था। 1926 में जर्मन लीग ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़ में दिया गया पॉल सिल्वरबर्ग का एक वक्तव्य गौरतलब है। उन्होंने कहा, "सामाजिक जनवाद को वास्तविकता में लौट आना चाहिए और रैडिकल सिद्धान्तवाद का त्याग कर सड़क और बल की नीति को छोड़ देना चाहिए, जो हमेशा नुक़सान दे रही है। उसे ज़िम्मेदार तरीक़े से मालिकों के साथ उनके निर्देशन में सहयोग करना चाहिए।" अब ज़रा इस कथन की तुलना बुद्धदेव भट्टाचार्य के उस कथन से कीजिए जो उन्होंने कुछ समय पहले ट्रेड यूनियन करने वालों की एक बैठक में दिया था। इसमें बुद्धदेव भट्टाचार्य ने कहा कि कम्युनिस्टों को बदले हालात को समझना चाहिए और मालिकों से सहयोग करना चाहिए। वर्ग संघर्ष का दौर अब बीत चुका है। आज श्रम को पूँजी के साथ विकास के लिए उसकी शर्तों पर सहयोग करना चाहिए!

1929 में जर्मन पूँजीपति वर्ग ने पहला बड़ा हमला करते हुए रेड फ्रण्ट यूनियन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। दूसरी ओर नात्सियों के गुण्डों और हत्यारों के दस्ते छुट्टे घूम रहे थे। सामाजिक जनवादी चुप रहे। इसके बाद 1932 तक ऐसे हमले जारी रहे और सामाजिक

जनवादी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। कारण यह था कि इसका जवाब क्रान्तिकारी रास्ते से ही दिया जा सकता था और उस रास्ते पर सर्वहारा वर्ग के ग़द्दार संशोधनवादी चल नहीं सकते थे। अपनी इस चुप्पी से सामाजिक जनवादी उस संगठित मज़दूर आन्दोलन में भी अपना आधार खोते गये जो उनका गढ़ था। मज़दूर आबादी का भी एक हिस्सा नात्सियों के शिविर की ओर जाने लगा। नतीजा यह हुआ कि 1932 में वॉन पेपन नामक दक्षिणपन्थी नेता के नेतृत्व में तख्तापलट हुआ और वह गठबन्धन सरकार गिर गयी जिसका प्रमुख हिस्सा सामाजिक जनवादी थे। कुछ ही समय में वाइमर गणराज्य के बुर्जुआ जनवादी संविधान की ही ख़ामियों का फ़ायदा उठाकर एक इनेबलिंग एक्ट लाया गया और संसदीय जनतंत्र को तानाशाही में तब्दील कर दिया गया। संसद में सामाजिक जनवादियों और बुर्जुआ उदारवादियों के खिलाफ़ मुख्य तौर पर दो पार्टियाँ साथ आ गयीं नेशनल जर्मन पीपुल्स पार्टी और नात्सी पार्टी। चुनावों के पहले सामाजिक जनवादियों और उदारवादियों के खिलाफ़ ज़बर्दस्त प्रचार अभियान चलाया गया। उन्हें देशद्रोही और संकट का ज़िम्मेदार बताया गया। 1932 के चुनावों में इन दोनों पार्टियों को मिलाकर 42 प्रतिशत वोट मिले जिसमें से 33 प्रतिशत नात्सी पार्टी के थे। 1933 में फिर से चुनाव हुए जिसमें नात्सी पार्टी को अकेले 44 प्रतिशत वोट मिले। इसके साथ ही हिटलर सत्ता में आया और जर्मनी में फ़ासीवाद को विजय हासिल हुई।

जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय के इस संक्षिप्त इतिहास पर निगाह डालने के बाद हम कुछ नतीजों को बिन्दुवार समझ सकते हैं।

जर्मनी में फ़ासीवाद की ज़मीन किस रूप में मौजूद थी? जर्मनी में पूँजीवादी विकास देर से शुरू हुआ। लेकिन शुरू होने के बाद यह बेहद द्रुत गति से हुआ और बिना किसी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के हुआ। नतीजतन, दो परिघटनाएँ सामने आयी। एक, तमाम क्षेत्रों और तमाम रूपों में पिछडापन कायम रहा और आधुनिकीकरण तथा जनता की चेतना के सुसंगत और पर्याप्त जनवादीकरण के बिना ही अद्वितीय रफ़्तार से पूँजीवादी विकास हुआ। इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे देशों में पूँजीवाद क्रान्तिकारी प्रक्रिया से आया और उसके बाद उसका एक लम्बा और गहराई से पैठा विकास हुआ जिसने सामन्ती और गैर-जनवादी रुझानों को समाज के पोर-पोर से समाप्त कर दिया। दूसरी परिघटना यह थी कि इस तीव्र पूँजीवादी विकास ने जिस रफ़्तार से गाँवों और शहरों में मेहनतकश जनता को उसकी जगह-ज़मीन से उजाड़ा, उसने भयंकर असुरक्षा और अनिश्चितता को जन्म दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस असुरक्षा और अनिश्चितता को पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ़ एक क्रान्तिकारी ताक़त में तब्दील किया जा सकता था। लेकिन सामाजिक जनवादी आन्दोलन की सर्वहारा वर्ग के साथ गद्दारी और जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी की असफलता के कारण ऐसा नहीं हो सका। नात्सीवाद द्रुत गति से हुए उस पूँजीवादी विकास का प्रतिक्रियावादी जवाब था जिसने करोड़ों लोगों को आर्थिक-सामाजिक और भौगोलिक रूप से विस्थापित कर दिया था।

जर्मनी में भूमि सुधार क्रान्तिकारी तरीक़े से नहीं हुए, जिसमें जोतने वाले को ही ज़मीन का मालिक बना दिया गया हो। वहाँ प्रशियाई रास्ते से भूमि सुधार हुए जिसमें सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी कुलकों और फ़ार्मरों में तब्दील हो जाने दिया गया। यह वर्ग भयंकर प्रतिक्रियावादी वर्ग था। इसके अलावा अधूरे भूमि सुधारों से धनी काश्तकारों का एक वर्ग पैदा हुआ। ये वर्ग पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ गहराई से जुड़े थे और अन्दर से धुर जनवाद-विरोधी थे। पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के कारण पैदा हुई प्रतिक्रिया का एक अहम हिस्सा यही वर्ग थे। ये वर्ग नात्सी पार्टी के सामाजिक आधार बने। युंकरों के विशेषाधिकारों के बचे रहने के कारण सामाजिक जनवादियों का आम किसान आबादी में कोई आधार नहीं बन पाया। यह किसान आबादी फ़ासीवादी उभार के दौर में या तो निष्क्रिय पड़ी रही या फ़ासीवादियों की समर्थक बनी। उसे भी अपनी अनिश्चितता का इलाज एक फ़ासीवादी सत्ता में नज़र आ रहा था। ज़ाहिर है, बाद में यह एक भ्रम साबित हुआ, लेकिन तब तक काफ़ी देर हो चुकी थी।

1919 के बाद वाइमर गणराज्य की शुरुआत के साथ जो राज्य अस्तित्व में आया, वह एक कल्याणकारी राज्य था। कल्याणकारी नीतियाँ जर्मन पूँजीपति वर्ग की मजबूरी थीं, क्योंकि युद्ध के बाद मज़दूर आन्दोलन के साथ वह सीधा टकराव नहीं मोल ले सकता था और रूस का उदाहरण उसके सामने था। यह समझ बनाने में सामाजिक जनवादियों ने पूँजीपति वर्ग की काफ़ी मदद की। मज़दूर वर्ग को तमाम रियायतें दी गयीं। लेकिन पूँजीवादी विकास की अपनी एक गति होती है। मुनाफे की दर को बढ़ाते जाना साम्राज्यवादी दुनिया में जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए अस्तित्व की शर्त थी। मज़दूर वर्ग को दी गयी छूटें उसके लिए जल्दी ही बोझ बन गयीं। कल्याणकारी नीतियाँ मुनाफ़े की दर पर एक ब्रेक के समान थीं। वित्तीय, औद्योगिक पूँजीपति वर्ग और कुलकों-युंकरों को जल्दी ही एक तानाशाह सत्ता की जरूरत महसूस होने लगी जो मज़दूर वर्ग पर उनकी नग्न और क्रूर तानाशाही को लागू कर सके।

सामाजिक जनवाद ने मज़दूर आन्दोलन को सुधारवाद की गलियों में ही घुमाते रहने का काम किया। उसने पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं दिया और साथ ही पूँजीवाद के भी पैरों में बेड़ी बन गया। उसका कुल लक्ष्य था पूँजीवादी जनवाद के भीतर रहते हुए वेतन-भत्ता बढ़वाते रहना, कुल नये उत्पादित मूल्य में मुनाफ़े के अनुपात में मज़दूरी को बढ़ाना और जो मिल गया है उससे चिपके रहना। लेकिन अगर पूँजीवादी व्यवस्था पर्याप्त मुनाफ़ा पैदा ही न कर पाये तो क्या होगा? इस सवाल का उनके पास कोई जवाब नहीं था। वे यथास्थिति को सदा बनाये रखने का दिवास्वप्न पाले हुए थे। जबकि पूँजीवाद की नैसर्गिक गति कभी ऐसा नहीं होने देती और चक्रीय क्रम में मुनाफे के संकट को जन्म देती रहती है। पूँजीपति वर्ग को मुनाफ़े की दर बढ़ानी ही थी। उसका टिकाऊ स्रोत एक ही था मज़दूरों के शोषण को बढ़ाना। संगठित मज़दूर आन्दोलन के बूते पर सामाजिक जनवादी ऐसा करने नहीं दे रहे थे। अब पूँजीपति वर्ग जनवादी दायरे में रहकर मुनाफे की दर को बढ़ाने का काम नहीं कर सकता था। बड़े पूँजीपति वर्ग को एक सर्वसत्तावादी राज्य की आवश्यकता थी जो उसे

वाइमर गणराज्य नहीं दे सकता था, जो श्रम और पूँजी के समझौते पर टिका था। यह काम नात्सी पार्टी ही कर सकती थी।

पूँजीवादी राजसत्ता का काम होता है पूँजीवादी उत्पादन के सुचारू रूप से चलते रहने की गारण्टी करना और पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की हिफ़ाज़त करना। राजसत्ता के ज़रिये पूँजीपति वर्ग अपने वर्ग हितों को संगठित करता है और व्यक्तिगत पूँजीवादी हितों से ऊपर उठता है। बीच-बीच में आपसी अन्तरविरोध अधिक बढ़ते हैं, अराजकता फैलती है और राजसत्ता अपने हस्तक्षेप से चीज़ों को फिर से सही स्थान पर पहुँचाती है। साथ ही पूँजीवादी राजसत्ता मेहनतकश जनता को एक वर्ग के रूप में संगठित नहीं होने देती और उन्हें किसी राष्ट्र, समुदाय या धर्म के सदस्य के रूप में. यानी एक नागरिक के तौर पर अस्तित्वमान रखने का प्रयास करती है। वाइमर गणराज्य के दौरान जर्मनी में पूँजीवादी राजसत्ता बुर्जुआ वर्गों के हितों को संगठित कर पाने में असफल रही। कल्याणकारी नीतियों ने पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक और आर्थिक एकता को तोड़ दिया। संकट के दौरों में पूँजीवादी हितों और जनता के हितों के बीच तारतम्य बैठा पाना कठिन हो जाता है। वहीं जनता की राजसत्ता से उम्मीदें बढ़ जाती हैं। जबकि राजसत्ता उन्हें पूरा कर पाने में और अधिक असमर्थ हो चुकी होती है। ऐसे में बुर्जुआ वर्ग के कुछ हिस्से राजसत्ता से अपने पक्ष में तानाशाहीपूर्ण रवैया अपनाने की उम्मीद रखते हैं। ऐसा न होने पर बड़ा पूँजीपति वर्ग अधिक से अधिक प्रतिक्रियावादी और अनुदार होता जाता है। वाइमर गणराज्य में यही हुआ। श्रम और पूँजी के बीच का सामाजिक जनवादी समझौता राजसत्ता को बड़े पूँजीपति वर्ग की ज़रूरतों के मुताबिक़ खुलकर काम नहीं करने दे रहा था जिससे पूँजीवादी संकट गहराता जा रहा था। इस संकट के कारण जनता का एक ख़ासा बड़ा हिस्सा उजड़ता जा रहा था और उसमें भी असन्तोष पैदा हो रहा था। बड़े पूँजीपति वर्ग ने नात्सी पार्टी के ज़रिये इसी असन्तोष का लाभ उठाया और उसे प्रतिक्रिया की लहर में तब्दील कर दिया। नात्सी पार्टी ने इसके लिए यहूदी-विरोध, नस्लीय श्रेष्ठता, कम्युनिज्म-विरोध, जनवाद-विरोध जैसे सिद्धान्तों का सहारा लिया।

सामाजिक जनवादियों के जुझारू अर्थवाद और ट्रेड यूनियनवाद के कारण मज़दूरी बढ़ती रही, लेकिन पूँजीवादी संकट के कारण मुनाफ़े की दर ठहरावग्रस्त रही। इसके कारण एक लाभ संकुचन की स्थिति पैदा हो गयी। इसके कारण सबसे पहले तबाह हुआ छोटे उद्यमियों का वर्ग आगे चलकर फ़ासीवाद का सबसे तगड़ा समर्थक बना। यह बात दीगर है कि फ़ासीवाद ने उसे बाद में कुछ भी नहीं दिया और वह पूरी तरह इज़ारेदार पूँजीवाद की सेवा में लगा रहा। बड़ा पूँजीपति वर्ग तबाह होकर सड़क पर तो नहीं आया लेकिन अगर वह नात्सी उभार का समर्थन नहीं करता तो सड़क पर आ जाता क्योंकि उसे अपने मुनाफ़े में भारी कमी का सामना करना पड़ रहा था। संगठित मज़दूर आन्दोलन के कारण पूँजीपति वर्ग पर जो दबाव पड़ रहा था उसका अन्दाज़ा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि 1928 में कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 67 प्रतिशत हिस्सा मज़दूरों को मज़दूरी के रूप में दिया जा रहा था। संकट के दौर में बढ़ी बेरोज़गारी के बावजूद पूँजीपति वर्ग की मोलभाव करने

की ताक़त में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई क्योंकि एक मज़बूत और जुझारू मज़दूर आन्दोलन मौजूद था। कुलकों और युंकरों ने अपने विशेषाधिकारों को क़ायम रखने और संकट के दौर से निपटने के लिए नात्सियों का समर्थन किया। लेकिन यह मज़बूत मज़दूर आन्दोलन सामाजिक जनवाद के नेतृत्व में पूँजीवादी सुधारवाद की अन्धी गली में ही भटकता रह गया। पूँजीपति वर्ग को आक्रामक होने की पहल तोहफे के रूप में दे दी गयी और फ़ासीवाद का प्रतिरोध्य उभार अप्रतिरोध्य बन गया।

इटली में फ़ासीवाद

इटली में फ़ासीवाद की हमारी चर्चा के इतना विस्तृत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम यहाँ उन कारकों की चर्चा करेंगे जिनके मामले में इटली में फ़ासीवादी उभार जर्मनी से अलग था।

इटली में फ़ासीवादी आन्दोलन की शुरुआत 1919 में हुई। युद्ध की समाप्ति के बाद इटली के मिलान शहर में बेनिटो मुसोलिनी ने फ़ासीवादी आन्दोलन की शुरुआत करते हुए एक सभा बुलायी। इस सभा में कुल जमा क़रीब 100 लोग इकट्ठा हुए। इसमें से अधिकांश युद्ध में भाग लेने वाले नौजवान सिपाही थे। पहले विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों की तरफ़ से युद्ध में हिस्सा लेने के बावजूद इटली को उसका उचित पुरस्कार नहीं मिला जबकि युद्ध में उसे काफ़ी क्षति उठानी पड़ी थी। इससे पूरे देश में एक प्रतिक्रिया का माहौल था, ख़ासकर सैनिकों के बीच। दूसरी तरफ़, देश की आर्थिक स्थिति बुरी तरह से डावाँडोल थी। सरकार एकदम अप्रभावी और कमज़ोर थी और कोई भी क़दम नहीं उठा पा रही थी। एक ऐसे समय में मुसोलिनी ने फ़ासीवादी आन्दोलन की शुरुआत की। मुसोलिनी ने इस सभा में खुले तौर पर ऐलान किया कि फ़ासीवाद मार्क्सवाद, उदारवाद, शान्तिवाद और स्वतंत्रता का खुला दुश्मन है। यह राजसत्ता के हर शक्ति से ऊपर होने, उग्र राष्ट्रवाद, नस्ली श्रेष्ठता, युद्ध, नायकवाद, पवित्रता और अनुशासन में यक़ीन करता है। आर्थिक और सामाजिक तौर पर बिखरे हुए और असुरक्षा और अनिश्चितता का सामना कर रहे राष्ट्र को ऐसे जुमले आकृष्ट करते हैं, ख़ासतौर पर तब, जबकि कोई क्रान्तिकारी सम्भावना उनकी दृष्टि में न हो। फ़ासीवाद के आर्थिक और सामाजिक आधारों के बारे में हम आगे चर्चा करेंगे। पहले उसके वैचारिक आधारों की बात कर लें। मुसोलिनी पहले इतालवी समाजवादी पार्टी में शामिल था। 1903 से 1914 तक वह समाजवादी पार्टी का एक महत्त्वपूर्ण नेता था। इसके बाद वह जॉर्ज सोरेल नामक एक संघाधिपत्यवादी चिन्तक के प्रभाव में आया, जो कहता था कि संसदीय जनतंत्र नहीं होना चाहिए और श्रम संघों द्वारा सरकार चलायी जानी चाहिए। मुसोलिनी पर दूसरा गहरा प्रभाव फ्रेडरिख नीत्शे नामक जर्मन दार्शनिक का था, जो मानता था कि इतिहास में अतिमानव और नायकों की केन्द्रीय भमिका होती है, जिनमें सत्ता प्राप्त करने की इच्छाशक्ति होती है। इन सारे विचारों का मेल करके ही इटली में जेण्टाइल नामक फ़ासीवादी चिन्तक की सहायता से मुसोलिनी ने पूरे फ़ासीवादी सिद्धान्त की रचना की। यह सिद्धान्त मज़दूर-विरोधी पूँजी के पक्ष में खुली तानाशाही, अधिनायकवाद, जनवाद-विरोध, कम्युनिज्म-विरोध और साम्राज्यवादी विस्तार की खुले तौर पर वकालत करता था।

लेकिन यह सिद्धान्त कोई जेण्टाइल और मसोलिनी के दिमाग़ की उपज नहीं था। यदि जेण्टाइल व मुसोलिनी न होते तो कोई और होता क्योंकि समाज में इस प्रकार एक के प्रतिक्रियावादी विचार और आन्दोलन की जमीन मौजद थी। इस जमीन को समझकर ही इटली में फ़ासीवादी उभार को समझा जा सकता है।

जर्मनी के समान इटली में भी पूँजीवादी विकास बहुत देर से शुरू हुआ। इटली का एकीकरण 1861 से 1870 के बीच हुआ। जैसाकि हम पिछले उपशीर्षक में हो बता चुके हैं, इस समय तक ब्रिटेन, फ्रांस और हॉलैण्ड जैसे देश पूँजीवादी विकास की एक लम्बी यात्र तय कर चुके थे और औद्योगिक क्रान्ति को भी अंजाम दे चुके थे। इन देशों में रैडिकल भूमि-सुधार लागू किये गये थे। पूँजीवादी विकास एक लम्बी प्रक्रिया में हुआ था और साथ ही ये प्रमुख साम्राज्यवादी देश भी थे जिनके औपनिवेशिक लूट से मिलने वाला अति-मुनाफ़ा भी मौजूद था, जिसके कारण इससे पैदा होने वाले सामाजिक तनाव को व्यवस्था आम तौर पर जनवादी दायरे के भीतर रहते हुए ही झेल सकती थी। इटली में 1890 के दशक में औद्योगीकरण की शुरुआत हुई और जर्मनी के ही समान इसकी रफ़्तार काफ़ी तेज़ रही। जर्मनी से अलग इटली में यह विकास क्षेत्रीय तौर पर बहुत असमानतापूर्ण रहा। उत्तरी इटली में मिलान, तूरिन और रोम से बनने वाले त्रिभुजाकार इलाक़े में उद्योगों का ज़बर्दस्त विकास हुआ और एक मज़दूर आन्दोलन भी पैदा हुआ। पहले इसका नेतृत्व इतालवी समाजवादी पार्टी कर रही थी और बाद में इसके नेतृत्व में इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी का भी प्रवेश हुआ। उत्तरी इटली के क्षेत्रों में भूमि-सुधार भी एक हद तक लागू हुए और कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ जिससे कृषि में पूँजीवादी विकास हुआ। नतीजतन, औद्योगिक और कृषि क्षेत्र, दोनों में ही एक मज़दूर आन्दोलन पैदा हुआ। दूसरी ओर दक्षिणी इटली था जहाँ सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों का वर्चस्व कायम था। यहाँ कोई भूमि सुधार लागू नहीं हुए थे और विशाल जागीरें थीं जिन पर बड़े भूस्वामियों का क़ब्ज़ा था। इसके अतिरिक्त, छोटे किसानों और खेतिहर मज़दूरों की एक विशाल आबादी थी जो पूरी तरह इन बड़े भूस्वामियों के नियंत्रण में थी। ये भूस्वामी अपने सशस्त्र गिरोहों द्वारा इस नियंत्रण को कायम रखते थे। इन्हीं गिरोहों को इटली में माफिया कहा जाता था जो बाद में स्वायत्त शक्ति बन गये और पैसे के लिए लूटने, मारने और चोट पहुँचाने का काम करने लगे। फ़ासीवादियों ने इन माफ़िया गिरोहों का खूब लाभ उठाया। दक्षिणी इटली में औद्योगिक विकास न के बराबर था। इस फ़र्क़ के बावजूद, या यूँ कहें कि इसी फ़र्क के कारण फ़ासीवादियों को दो अलग-अलग प्रकार के प्रतिक्रियावादी वर्गों का समर्थन प्राप्त हुआ। यह कैसे हुआ इस पर हम बाद में आते हैं, पहले उस प्रक्रिया पर निगाह डालें जिसके जरिये मुसोलिनी सत्ता में आया।

1896 में इटली को अपना साम्राज्य इरिट्रिया से इथियोपिया तक फैलाने के प्रयास में अडोवा नामक जगह पर एक शर्मनाक पराजय का सामना करना पड़ा। इसके कारण देश में चार वर्ष तक एक भयंकर अस्थिरता का माहौल पैदा हो गया। लेकिन 1900 से 1914 तक के दौर में उदारवादी पूँजीवादी प्रधानमंत्री गियोवान्नी गियोलिटी के नेतृत्व में थोड़ी स्थिरता वापस लौटी और इटली में औद्योगिक विकास ने और गति पकड़ी। 1913 में सर्वमताधिकार के आधार पर इटली में पहले आम चुनाव आयोजित किये गये। लेकिन यह जनवादी संसदीय व्यवस्था अभी अपने पाँव जमा ही पायी थी कि 1915 में इटली ने मित्र राष्ट्रों की तरफ़ से प्रथम विश्वयुद्ध में प्रवेश किया। इसके बाद इटली में जो अस्थिरता पैदा हुई, उसने संसदीय व्यवस्था को जमने ही नहीं दिया। अक्टूबर 1917 में कापोरेट्टो नामक

जगह पर इटली बुरी तरह हारते-हारते बचा। युद्ध के बाद इटली को कुछ ख़ास हासिल नहीं हुआ। इन सभी कारकों की वजह से पूरा देश विभाजित था। इसका प्रमुख कारण इटली का आर्थिक रूप से छिन्न-भिन्न हो जाना भी था। 1919 में जो चुनाव हुए, उसमें किसी को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। समाजवादियों और उदारवादियों को सबसे अधिक 38 वोट मिले थे, लेकिन वे साथ में सरकार बनाने को तैयार नहीं थे। समाजवादियों ने 1919 में बोल्शेविक क्रान्ति के प्रभाव में वक़्त से पहले ही सशस्त्र संघर्ष शुरू कर दिया। 1919-20 में इटली की पो घाटी में यह संघर्ष काफ़ी आगे तक गया। समाजवादियों ने कई शहरों पर एक तरह से क़ब्ज़ा कर लिया था। ऐसा लग रहा था कि इटली एक गृहयुद्ध की कगार पर खड़ा है। लेकिन समाजवादियों ने इस उभार को सँभाल पाने के लिए न अपनी तैयारी की थी और न ही जनता की। नतीजतन, यह उभार कुचल दिया गया। इसे कुचलने में जहाँ एक भूमिका बुर्जुआ राजसत्ता ने निभायी, वहीं फ़ासीवादी सशस्त्र गिरोहों ने भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1919 के चुनावों में फ़ासीवादियों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली थी। लेकिन 1919-20 के मज़दूर उभार ने सम्पत्तिधारी वर्गों के दिल में एक ख़ौफ़ पैदा कर दिया था। रूस में जो कुछ हुआ था, वह उनके सामने था। ऐसे मौक़े पर उन्हें किसी ऐसी ताक़त की ज़रूरत थी जो मज़दूर उभार को कुचलने के लिए एक वैकल्पिक गोलबन्दी कर सके। यह वायदा मुसोलिनी ने उनसे किया। मुसोलिनी ने उद्योगपतियों से वायदा किया कि अगर वे उसे समर्थन देते हैं तो वह औद्योगिक अनुशासन को फिर से स्थापित करेगा। इसके बाद से ही मुसोलिनी को उद्योगपतियों से भारी आर्थिक मदद मिलनी शुरू हुई जिसके बूते पर फ़ासीवादियों ने ज़बर्दस्त प्रचार किया और जनता के दिमाग़ में जहर घोला। शहरों में फ़ासीवादियों के सशस्त्र दस्तों ने मज़दूर कार्यकर्ताओं, ट्रेडयूनियनिस्टों, कम्युनिस्टों, हड़तालियों आदि पर हमले और उनकी हत्याएँ करनी शुरू की। फ़ासीवाद पूँजी, और विशेषकर बड़ी पूँजी की सेवा में अपने हरबे-हथियारों के साथ हाज़िर था।

दक्षिणी इटली में बड़े भूस्वामी अपने तई स्वयं फ़ासीवादी तरीक़ों से किसानों और खेतिहर मज़दूरों के संघर्ष का दमन कर रहे थे। फ़ासीवाद की यह क़िस्म जल्दी ही मुसोलिनी के फ़ासीवाद में समाहित हो गयी और बड़ा भूस्वामी वर्ग मुसोलिनी का एक बड़ा समर्थक बनकर उभरा। 1920 के अन्त में एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी फ़ासीवादी संगठन जिसका नेता गेब्रियेल द'अनुंसियो था, मुसोलिनी की फ़ासीवादी धारा में शामिल हो गया। 1921 तक इतालवी समाजवादी पार्टी द्वारा बिना किसी तैयारी के किया गया सशस्त्र विद्रोह कुचला जा चुका था। शहरों में क़ायम हुआ मज़दूर नियंत्रण योजना और हथियारबन्द तैयारी के अभाव में कुचला जा चुका था। फ़ासीवादी आन्दोलन की बढ़त स्पष्ट रूप से हासिल हो चुकी थी। अक्टूबर 1922 में मुसोलिनी ने नेपल्स में फ़ासीवादी पार्टी की कांग्रेस में निर्णय लिया कि फ़ासीवादी रोम पर हमला करेंगे। फ़ासीवादी सशस्त्र गिरोहों ने रोम पर चढ़ाई शुरू कर दी। राजा विक्टर इमानुएल तृतीय ने घुटने टेक दिये और मुसोलिनी को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। इसके साथ 1922 में मुसोलिनी इटली का प्रधानमंत्री बना। उसने

एक गठबन्धन सरकार गठित की जिसमें इतालवी संशोधनवादी शामिल थे, जिस पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए! उनका मानना था कि मुसोलिनी को वे उदारवादी धारा का अंग बना लेंगे। इतिहास ने उनकी इस इच्छा को मूर्खतापूर्ण साबित किया।

1924 के चुनावों में फ़ासीवादी पार्टी को 65 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। हालाँकि, सामाजिक जनवादी नेता मात्तिओत्ती ने संसद में प्रमाण सहित साबित किया कि चुनाव में फ़ासीवादियों ने घपले और बल के आधार पर दो-तिहाई के क़रीब वोट हासिल किये हैं, लेकिन फ़ासीवादियों ने संसद में शोर मचाकर उसे आगे बोलने ही नहीं दिया। दो महीने बाद फ़ासीवादी गुण्डों ने मात्तिओत्ती को चाकू से गोद-गोदकर मार डाला। यही हाल जल्दी ही उन सभी राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों का हुआ जिन्होंने मुसोलिनी की मुखालफत की हिम्मत की। 1925 में मुसोलिनी ने अपनी खुली तानाशाही को स्थापित करने की प्रक्रिया शुरू कर दी। एक-एक करके सभी अन्य पार्टियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। नवम्बर, 1926 में "अपवादस्वरूप पेश क़ानूनों" के साथ यह प्रक्रिया पूरी हो गयी। इसके बाद के 17 वर्षों में मुसोलिनी ने अपने सभी राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों को ख़त्म करने का काम किया और किसी को भी सिर नहीं उठाने दिया।

फ़ासीवादी शासन के सुदृढ़ रूप से स्थापित होने के बाद मज़दूर प्रतिरोध को बुरी तरह कुचल दिया गया। कहने के लिए मालिकों और मज़दूरों के संघ बनाये गये, जिसमें कि फ़ासीवादी पार्टी के लोग भी होते थे। इन संघों को ही निर्णय लेने का अधिकार था कि उत्पादन कितना, कैसे और किसके लिए किया जाये। लेकिन यह बात बस दिखावा थी। वास्तव में मज़दूर प्रतिनिधि इसमें कुछ भी नहीं बोल सकते थे। सारे निर्णय पूँजीपतियों के प्रतिनिधि फ़ासीवादियों के साथ मिलकर लेते थे। मज़दूरों के एक हिस्से को फ़ासीवादियों ने अपने साथ मिला रखा था जिसके कारण मज़दूर कोई संगठित प्रतिरोध नहीं खड़ा कर पाते थे। अपने साथ मज़दूरों को शामिल करने के लिए फ़ासीवादियों ने उनके बीच सुधार के काम किये और उनके मनोरंजन के लिए क्लब आदि बनाये। साथ ही, उनके बीच आपसी आर्थिक सहयोग के संगठन बनाये जिनका फ़ायदा 10 से 15 फ़ीसदी मज़दूरों को मिलता था। लेकिन सिर्फ़ इतने मज़दूरों को एक भ्रामक और बेहद मामूली फ़ायदा पहुँचाकर और अच्छे-खासे मज़दूरों को इस फ़ायदे का सपना दिखलाकर वे मज़दूरों की वर्ग चेतना और एकजुटता को तोड़ने में सफल हो गये। यही कारण था कि ऐसे मालिक-मज़दूर संघों में मज़दूरों का ज़बर्दस्त शोषण जारी रहा और उसका कोई कारगर प्रतिरोध भी नहीं हो सका। बाद में बात यहाँ तक पहुँच गयी कि हड़ताल पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, किसी भी प्रकार के प्रदर्शन या जुटान को अपराध घोषित कर दिया गया, ट्रेड यूनियनों पर रोक लगा दी गयी और उनकी जगह पूँजी के तलवे चाटने वाले मज़दूर संघों ने ले ली जिनमें फ़ासीवादी घुसे होते थे। फ़ासीवादियों ने वर्ग सहयोग के नाम पर उजरती श्रम की गुलामी को और अधिक बढ़ाया तथा मज़दूरों को पूँजीपतियों का और अधिक गुलाम बनाया।

इतालवी फ़ासीवाद को कृषक पूँजीपति वर्ग का भी ज़बर्दस्त समर्थन प्राप्त था। हम पहले भी बता चुके हैं कि उत्तरी इटली में पूँजीवादी कृषि का विकास हो गया था और वहाँ एक उन्नत कृषक पूँजीपति वर्ग सामने आ चुका था। लेकिन साथ ही ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों का एक आन्दोलन भी कम्युनिस्टों और समाजवादियों के नेतृत्व में पैदा हो चुका था। संगठित किसान व खेतिहर मज़दूर संघर्षों के कारण मुनाफ़े की दर को बढ़ा पाना मुमकिन नहीं हो पा रहा था। इससे निपटने के लिए इन पूँजीपतियों को राजसत्ता के समर्थन की आवश्यकता थी। लेकिन इतालवी एकीकरण के बाद उदारवादी पूँजीवादी राजसत्ता इतनी ताक़तवर नहीं थी कि पूँजी के पक्ष में कोई खुला दमनात्मक क़दम उठा सके। नतीजतन यहाँ पर फ़ासीवादियों के उभार की एक ज़मीन मौजूद थी। फ़ासीवादियों ने कृषक पूँजीपतियों से इन मजदूर आन्दोलनों पर नकेल कसने का वायदा किया और इसके बदले में उन्हें उनका सहयोग-समर्थन प्राप्त हुआ। राज्य हस्तक्षेप की जगह फ़ासीवादियों के नग्न हस्तक्षेप ने ली। दक्षिणी इटली में बड़े भूस्वामी वर्ग को फ़ासीवादी पार्टी के समर्थन की ज़रूरत नहीं थी क्योंकि वह सभी फ़ासीवादी क़दम और हिंस्र हमले अपने माफ़िया गिरोहों के दम पर कर लेता था और अपने यहाँ की ग़रीब किसान व काश्तकार आबादी व खेतिहर मज़दूरों को कुचलकर रखता था। यहाँ का बड़ा भूस्वामी वर्ग भी फ़ासीवाद का जबर्दस्त समर्थक बना।

इटली में फ़ासीवाद के उदय की पृष्ठभूमि और प्रक्रिया के इस विश्लेषण के बाद साफ़ है कि यहाँ पर भी फ़ासीवादी उभार की मूल वजहें कमोबेश वही रही हैं जो जर्मनी में थीं। जर्मनी में फ़ासीवाद के उदय का कालानुक्रम अलग था, लेकिन वहाँ भी प्रेरक शक्तियाँ कमोबेश वे ही थीं। लेकिन इटली और जर्मनी में फ़ासीवाद की परिघटना का स्वरूप और चरित्र काफ़ी हद तक भिन्न था। इनमें समानता केवल इस मूल कारण के धरातल पर थी कि फ़ासीवाद की प्रतिक्रियावादी सम्भावना पूँजीवादी आर्थिक व राजनीतिक संकट के परिणामस्वरूप पैदा होती है। इन दोनों ही देशों में अलग-अलग रूपों यह संकट उपस्थित था और यही इन दोनों ही देशों में फ़ासीवाद के उभार का मूल कारण बना।

फ़ासीवादी उभार की ज़मीन हमेशा पूँजीवादी विकास से पैदा होने वाली बेरोज़गारी, गरीबी, भुखमरी, अस्थिरता, असुरक्षा, अनिश्चितता और आर्थिक संकट से तैयार होती है। फ़ासीवादी प्रतिक्रिया के पैदा होने की उम्मीद उन देशों में सबसे अधिक होती है जहाँ पूँजीवादी विकास किसी क्रान्तिकारी प्रक्रिया के द्वारा नहीं बल्कि एक विकृत, विलम्बित और ठहरावग्रस्त प्रक्रिया से होता है। जर्मनी और इटली विश्व इतिहास के पटल पर बहुत देर से पैदा होने वाले राष्ट्र थे। इन देशों में एकीकृत पूँजीवाद और उसकी मण्डी में पैदा होने वाला अन्धराष्ट्रवाद तब अस्तित्व में आया जब विश्व पैमाने पर पूँजीवाद अपनी चरम अवस्था साम्राज्यवाद, यानी इजारेदार पूँजीवाद, की अवस्था में प्रवेश कर चुका था। नतीजतन, इन दोनों ही देशों में पूँजीवादी विकास बेहद द्रुत गति से हुआ जिसने आम मेहनतकश आबादी, निम्न मध्यवर्गीय आबादी और आम मध्यवर्गीय आबादी को इस गति से उजाड़ा जिसे सोख

पाने की क्षमता इन देशों के पूँजीवाद विकास और उसके अविकसित पूँजीवादी जनवाद में नहीं थी।

दूसरी तरफ, विश्वव्यापी पूँजीवादी मन्दी ने इन दोनों ही देशों के पूँजीपति वर्ग की हालत खस्ता कर दी थी। पूँजीपति वर्ग अब उदार पूँजीवादी जनवाद और उसकी कल्याणकारी नीतियों का ख़र्च उठाने के लिए कतई तैयार नहीं था। वह मज़दूरों को उनके श्रम अधिकार देने के लिए भी तैयार नहीं था। इसके लिए सभी जनवादी अधिकारों का दमन और मज़दूर आन्दोलन को कुचलना ज़रूरी था। इस आन्दोलन को एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के ज़रिये ही कुचला जा सकता था। जर्मनी में नात्सी पार्टी और इटली में फ़ासीवादी पार्टी ने यह प्रतिक्रियावादी आन्दोलन निम्न पूँजीपति वर्ग, लम्पट सर्वहारा वर्ग, धनी और मँझोले किसान वर्ग की प्रतिक्रिया की लहर पर सवार होकर खड़ा किया। हालाँकि समय ने यह साबित किया कि फ़ासीवादी उभार ने निम्न पूँजीपति वर्ग और लम्पट सर्वहारा या मँझोले किसान को कुछ भी नहीं दिया। आगे चलकर उनका भी दमन किया गया। वास्तव में, फ़ासीवादी उभार ने हर हमेशा मुख्य तौर पर दो ही वर्गों को फ़ायदा पहुँचाया क्योंकि वह उन्हीं का प्रतिनिधि था – वित्तीय और औद्योगिक बड़ा पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी धनी किसान, कुलक व फार्मरों का वर्ग, यानी बड़ा कृषक पूँजीपति वर्ग।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इतिहास के समक्ष और कोई रास्ता नहीं था। सच्चाई तो यह है कि ऐसे देशों में पूँजीवादी संकट पैदा होने के बाद क्रान्तिकारी सम्भावना और प्रतिक्रियावादी सम्भावना, दोनों ही समान रूप से मौजूद रहती हैं। इटली और जर्मनी, दोनों ही देशों में फ़ासीवादी उभार का एक बहुत बड़ा कारण मज़दूर वर्ग के ग़द्दार सामाजिक जनवादियों की हरकतें रहीं। इन दोनों ही देशों में क्रान्तिकारी सम्भावना जबर्दस्त रूप से मौजूद थी, लेकिन सामाजिक जनवादियों ने मज़दूर आन्दोलन को अर्थवाद, सुधारवाद, संसदवाद और ट्रेड यूनियनवाद की चौहद्दी में ही क़ैद रखा। पूरा मज़दूर आन्दोलन जर्मनी में सर्वाधिक संगठित था, लेकिन वह महज़ एक दबाव डालने वाला कारक बनकर रह गया जो प्राप्त कर लिये गये जनवादी अधिकारों से चिपका रह गया, जबकि पूँजीवाद का संकट अब पूँजीवाद के विकल्प की माँग कर रहा था। कोई विकल्प न होने की सूरत में वही क्रान्तिकारी सम्भावना प्रतिक्रियावाद की दिशा में मुड़ गयी और जर्मनी में नात्सी पार्टी तथा इटली में फ़ासीवादी पार्टी इसके इस्तेमाल के लिए तैयार खड़ी थीं।

अन्त में, हम समाहार करते हुए कह सकते हैं कि फ़ासीवादी उभार की सम्भावना ऐसे पूँजीवादी देशों में हमेशा पैदा होगी जहाँ पूँजीवाद बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के ज़रिये नहीं आया, बल्कि किसी प्रकार की क्रमिक प्रक्रिया से आया; जहाँ क्रान्तिकारी भूमि सुधार लागू नहीं हुए; जहाँ पूँजीवाद का विकास किसी लम्बी, सुव्यवस्थित, गहरी पैठी प्रक्रिया के ज़रिये नहीं बल्कि असामान्य रूप से अव्यवस्थित, अराजक और द्रुत प्रक्रिया से हुआ; जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में पूँजीवाद इस तरह विकसित हुआ कि सामन्ती अवशेष किसी न किसी मात्रा में बचे रहे। ऐसे सभी देशों में पूँजीवाद का संकट बेहद जल्दी उथल-पुथल की स्थिति पैदा कर

देता है। समाज में बेरोज़गारी, गरीबी, अनिश्चितता, असुरक्षा का पैदा होना और करोड़ों की संख्या में जनता का आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक तौर पर उजड़ना बहुत तेज़ी से होता है। ऐसे में पैदा होने वाली क्रान्तिकारी परिस्थिति को कोई तपी-तपायी क्रान्तिकारी पार्टी सम्हाल सकती है। फ़ासीवादी उभार होना ऐसी परिस्थिति का अनिवार्य नतीजा नहीं होता है। फ़ासीवादी उभार हर-हमेशा सामाजिक जनवादियों की घृणित गद्दारी के कारण और क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की अकुशलता के कारण सम्भव हुआ है। जर्मनी और इटली दोनों ही इस तथ्य के साक्ष्य हैं।

*

अब तक हमने फ़ासीवाद के उदय की आम पृष्ठभूमि और आर्थिक-सामाजिक स्थितियों के बारे में पढ़ा और साथ ही जर्मनी तथा इटली में फ़ासीवाद के क्लासिकीय विनाशकारी प्रयोग के बारे में भी जाना। अब हम भारत में फ़ासीवादी उभार के इतिहास, पृष्ठभूमि, विशेषताओं और उसके वर्तमान हालात के बारे में पढ़ेंगे।

भारत में फ़ासीवाद जर्मनी या इटली की तरह कभी सत्ता में नहीं आया। हालाँकि भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में एक गठबन्धन सरकार भारत में क़रीब 6 वर्षों तक रही लेकिन वह हिटलर या मुसोलिनी के सत्ता में आने से बिल्कुल भिन्न था। इसके अतिरिक्त, भाजपा ने अपने बूते सरकार नहीं बनायी थी। वह एक गठबन्धन सरकार थी जिसके अपने आन्तरिक खिंचाव और तनाव थे, जिनके कारण भाजपा अपने फ़ासीवादी एजेण्डे को खुलकर लागू नहीं कर सकती थी। लेकिन भाजपा ने एक गठबन्धन सरकार के रहते जितना किया उतने से ही साफ़ हो गया था कि अगर वह पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आती तो क्या करती। (यह स्थिति अब, यानी मई 2016 के बाद साफ़ हो रही है- लेखक) जर्मनी या इटली की तरह फ़ासीवाद भारत में कभी सत्ता में नहीं आया लेकिन समाज के पोर-पोर में पैठी एक बड़ी ताक़त के रूप में भारत में लम्बे समय से मौजूद रहा है। सबसे पहले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में कुछ बुनियादी जानकारियाँ साझा कर लेना उपयोगी होगा। उसके बाद हम भारत में फ़ासीवाद के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्स के बारे में भी चर्चा करेंगे।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ :

भारतीय फ़ासीवादियों की असली जन्मकुण्डली

भारत में फ़ासीवाद का इतिहास लगभग उतना ही पुराना है जितना कि जर्मनी और इटली में। जर्मनी और इटली में फ़ासीवादी पार्टियाँ 1910 के दशक के अन्त या 1920 के दशक की शुरुआत में बनीं। भारत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना 1925 में नागपुर में विजयदशमी के दिन हुई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक थे केशव बलिराम हेडगेवार। हेडगेवार जिस व्यक्ति के प्रभाव में फ़ासीवादी विचारों के सम्पर्क में आये थे वह था बालकृष्ण शिवराम मुंजे। मुंजे 1931 में इटली गया था और वहाँ उसने मुसोलिनी से भी मुलाक़ात की

थी। 1924 से 1935 के बीच आरएसएस से क़रीबी रखने वाले अख़बार 'केसरी' ने मुसोलिनी और उसकी फ़ासीवादी सत्ता की प्रशंसा में लगातार लेख छापे। मुंजे ने हेडगेवार को मुसोलिनी द्वारा युवाओं के दिमाग़ों में ज़हर घोलकर उन्हें फ़ासीवादी संगठन में शामिल करने के तौर-तरीक़ों के बारे में बताया। हेडगेवार ने उन तौर-तरीक़ों का इस्तेमाल उसी समय से शुरू कर दिया और आरएसएस आज भी उन्हीं तरीक़ों का इस्तेमाल करती है। 1930 के दशक के अन्त तक भारतीय फ़ासीवादियों ने बम्बई में उपस्थित इतालवी कांसुलेट से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया। वहाँ मौजूद इतालवी फ़ासीवादियों ने हिन्दू फ़ासीवादियों से सम्पर्क क़ायम रखा।

लगभग इसी समय एक अन्य हिन्दू कट्टरपन्थी विनायक दामोदर सावरकर, जिनके बड़े भाई राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापकों में से एक थे, ने जर्मनी के नात्सियों से सम्पर्क स्थापित किया। सावरकर ने जर्मनी में हिटलर द्वारा यहूदियों के सफाये को सही ठहराया और भारत में मुसलमानों की "समस्या" के समाधान का भी यही रास्ता सुझाया। जर्मनी में 'यहूदी प्रश्न' का 'अन्तिम समाधान' सावरकर के लिए एक मॉडल था। सावरकर के लिए नात्सी राष्ट्रवादी थे जबकि यहूदी राष्ट्र-विरोधी और साम्प्रदायिक। लेनिन ने बहुत पहले ही आगाह किया था कि नस्लवादी अन्धराष्ट्रवादी पागलपन अक्सर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चोला पहनकर आ सकता है। भारत में हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक अन्धराष्ट्रवाद भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का जामा पहनकर ही सामने आ रहा था।

आरएसएस ने भी खुले तौर पर जर्मनी में नात्सियों द्वारा यहूदियों के क़त्लेआम का समर्थन किया। हेडगेवार ने मृत्यु से पहले गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। गोलवलकर ने अपनी पुस्तक 'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड' और बाद में प्रकाशित 'बंच ऑफ़ थॉट्स' में जर्मनी में नात्सियों द्वारा उठाये गये क़दमों का अनुमोदन किया था। गोलवलकर आरएसएस के लोगों के लिए सर्वाधिक ने बनारस हिन्द विश्वविद्यालय में मेडिकल की पढाई की और उसके बाद कुछ समय पूजनीय सरसंघचालक थे। उन्हें आदर से संघ के लोग 'गुरुजी' कहते थे। गोलवलकर के लिए वहाँ पढ़ाया भी। इसी समय उन्हें 'गुरुजी' नाम मिला। हेडगेवार के कहने पर गोलवलकर ने संघ की सदस्यता ली और कुछ समय तक संघ में काम किया। अपने धार्मिक रुझान के कारण गोलवलकर कुछ समय के लिए आरएसएस से चले गये और किसी गुरु के मातहत संन्यास रखा। इसके बाद 1939 के क़रीब गोलवलकर फिर से आरएसएस में वापस आये। इस समय तक हेडगेवार अपनी मृत्युशैया पर थे और उन्होंने गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। 1940 से लेकर 1973 तक गोलवलकर आरएसएस के सुप्रीमो रहे।

गोलवलकर के नेतृत्व में ही आरएसएस के वे सभी संगठन अस्तित्व में आये जिन्हें आज हम जानते हैं। आरएसएस ने इसी दौरान अपने स्कूलों का नेटवर्क देश भर में फैलाया। संघ की शाखाएँ भी बड़े पैमाने पर इसी दौरान पूरे देश में फैलीं। विश्व हिन्दू परिषद् जैसे आरएसएस के आनुषंगिक संगठन इसी दौरान बने। गोलवलकर ने ही आरएसएस की फ़ासीवादी विचारधारा

को एक सुव्यवस्थित रूप दिया और उनके नेतृत्व में ही आरएसएस की पहुँच महाराष्ट्र के ब्राह्मणों से बाहर तक गयी। आरएसएस सही मायनों में एक अखिल भारतीय संगठन गोलवलकर के नेतृत्व में ही बना। यही कारण है कि गोलवलकर आज भी संघ के लोगों में सबसे आदरणीय माने जाते हैं और अभी दो वर्ष पहले ही संघियों ने देश भर में उनकी जन्मशताब्दी मनायी थी।

आरएसएस ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ किसी भी स्वतंत्रता संघर्ष में हिस्सा नहीं लिया। संघ हमेशा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ तालमेल करने के लिए तैयार था। उनका निशाना शुरू से ही मुसलमान, कम्युनिस्ट और ईसाई थे। लेकिन ब्रिटिश शासक कभी भी उनके निशाने पर नहीं थे। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के दौरान संघ देशव्यापी उथल-पुथल में शामिल नहीं हुआ था। उल्टे जगह-जगह उसने इस आन्दोलन का बहिष्कार किया और अंग्रेज़ों का साथ दिया था। श्यामाप्रसाद मुखर्जी द्वारा बंगाल में अंग्रेज़ों के पक्ष में खुलकर बोलना इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण था। ग़लती से अगर कोई संघ का व्यक्ति अंग्रेज़ों द्वारा पकड़ा या गिरफ़्तार किया गया तो हर बार उसने माफ़ीनामा लिखते हुए ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी क़ादारी को दोहराया और हमेशा क़ादार रहने का वायदा किया। स्वयं पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भी यह काम किया। ऐसे संघियों की फेहरिस्त काफ़ी लम्बी है जो माफ़ीनामे लिख-लिखकर ब्रिटिश जेलों से बाहर आये और जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम सेनानियों के खिलाफ अंग्रेज़ों से मुखबिरी करने का घिनौना काम तक किया। ब्रिटिश उपनिवेशवादी राज्य ने भी इसी क़ादारी का बदला चुकाया और हिन्दू साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों को कभी भी निशाना नहीं बनाया। संघ आज राष्ट्रवादी होने का चाहे जितना गुण गा ले वह स्वतंत्रता आन्दोलन में शामिल न होने और अंग्रेज़ों का साथ देने का दाग़ अपने दामन से कभी नहीं मिटा सकता है। इतिहास को फिर से लिखने के संघ के प्रयासों के पीछे का मुख्य कारण यही है। वे अपने ही इतिहास से डरते हैं। वे जानते हैं कि उनका इतिहास ग़द्दारियों और क़ायरताओं का एक काला इतिहास रहा है। हिंसा से उनको बहुत प्रेम है, लेकिन झुण्ड में पौरुष प्रदर्शन वाली हिंसा से। वे कभी किसी जनान्दोलन में शामिल नहीं हुए और उनमें किसी दमन को झेलने की ताक़त नहीं है। हमेशा सत्ता के साथ नाभिनालबद्ध रहते हुए व्यवस्था के खिलाफ़ लड़ने वालों पर कायराना हिंस्र हमले करना इनकी फ़ितरत रही है। चाहे वे मुसलमान रहे हों, ईसाई या फिर कोई भी राजनीतिक विरोधी। बहादुराना संघर्ष से इनका दूर-दूर तक कभी कोई वास्ता नहीं रहा है।

संघ का पूरा ढाँचा शुरू से ही फ़ासीवादी रहा था। यह लम्बे समय तक सिर्फ़ पुरुषों के लिए ही खुला था। संघ की महिला शाखा बहुत बाद में बनायी गयी। संघ का पूरा आन्तरिक ढाँचा हिटलर और मुसोलिनी की पार्टियों से हूबहू मेल खाता है। हर सदस्य यह शपथ लेता है कि वह सरसंघचालक के हर आदेश का बिना सवाल किये पालन करेगा। सरसंघचालक सबसे ऊपर होता है और उसके नीचे एक सरकार्यवाह होता है जिसे सरसंघचालक ही नियुक्त करता है। एक केन्द्रीय कार्यकारी मण्डल होता है जिसे स्वयं सरसंघचालक चुनता है। अपना उत्तराधिकारी भी सरसंघचालक चुनता है। यानी पूरी तरह एक 'कमाण्ड स्ट्रक्चर' जिसमें

जनवाद की कोई जगह नहीं है। नात्सी और फ़ासीवादी पार्टी का पूरा ढाँचा इसी प्रकार का था। नात्सी पार्टी में 'फ़्यूहरर' के नाम पर शपथ ली जाती थी और फ़ासीवादी पार्टी में 'डचूस' के नाम पर शपथ ली जाती थी।

यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि यह हमेशा से सिर्फ़ हिन्दुओं के लिए खुला रहा है। यह खुले तौर पर कहता है कि यह हिन्दुओं के हितों की सेवा करने के लिए है। संघ ने कभी भी निचली जातियों या निचले वर्गों के हिन्दुओं के लिए कोई काम नहीं किया है। इनका समर्थन भी हमेशा से उजड़े टुटपूँजिया पूँजीपति वर्ग, नवधनाढ्यों और लम्पट सर्वहारा के बीच रहा है। संघ के सामाजिक आधार पर हम आगे आयेंगे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भारत में फ़ासीवाद का अपना मौलिक संस्करण तैयार किया। इसकी हिटलर और मुसोलिनी के फ़ासीवाद से काफ़ी समानताएँ थीं और उनसे इन्होंने काफ़ी कुछ सीखा। गोलवलकर लिखते हैं – "आज जो दूसरा राष्ट्र दुनिया की नज़रों में सबसे ज़्यादा है, वह है जर्मनी। यह राष्ट्रवाद का बहुत ज्वलन्त उदाहरण है। आधुनिक जर्मनी कर्मरत है तथा जिस कार्य में वह लगा हुआ है, उसे काफ़ी हद तक उसने हासिल भी कर लिया है... पितृभूमि के प्रति जर्मन गर्वबोध, जिसके प्रति उस जाति का परम्परागत लगाव रहा है, सच्ची राष्ट्रीयता का ज़रूरी तत्व है। आज वह राष्ट्रीयता जाग उठी है तथा उसने नये सिरे से विश्वयुद्ध छेड़ने का जोखिम उठाते हुए अपने "पुरखों के क्षेत्र" पर एकजुट, अतुलनीय, विवादहीन, जर्मन साम्राज्य की स्थापना करने की ठान ली है।..." (गोलवलकर, 'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड, पृ. 34-35)

गोलवलकर ने इसी पुस्तक में यहूदियों के क़त्लेआम का भरपूर समर्थन किया और इसे भारत के लिए एक सबक़ मानते हुए लिखा- "...अपनी जाति और संस्कृति की शुद्धता बनाये रखने के लिए जर्मनी ने देश से सामी जातियों यहूदियों - का सफ़ाया करके विश्व को चौंका दिया है। जाति पर गर्वबोध यहाँ अपने सर्वोच्च रूप में व्यक्त हुआ है। जर्मनी ने यह भी बता दिया है कि सारी सदिच्छाओं के बावजूद जिन जातियों और संस्कृतियों के बीच मूलगामी फ़र्क़ हों, उन्हें एक रूप में कभी नहीं मिलाया जा सकता। हिन्दुस्तान में हम लोगों के लाभ के लिए यह एक अच्छा सबक़ है।" (गोलवलकर, वही, पृ. 35)। हिटलर की इसी सोच को गोलवलकर भारत पर लागू कैसे करते हैं, देखिये : "...जाति और संस्कृति की प्रशंसा के अलावा मन में कोई और विचार न लाना होगा, अर्थात हिन्दू राष्ट्रीय बन जाना होगा और हिन्दू जाति में मिलकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को गँवा देना होगा, या इस देश में पूरी तरह हिन्दू राष्ट्र की गुलामी करते हुए, बिना कोई माँग किये, बिना किसी प्रकार का विशेषाधिकार माँगे, विशेष व्यवहार की कामना करने की तो उम्मीद ही न करें; यहाँ तक कि बिना नागरिकता के अधिकार के रहना होगा। उनके लिए इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं छोड़ना चाहिए। हम एक प्राचीन राष्ट्र हैं। हमें उन विदेशी जातियों से जो हमारे देश में रह रही हैं उसी प्रकार निपटना चाहिए जैसे कि प्राचीन राष्ट्र विदेशी नस्लों से निपटा करते हैं।" (गोलवलकर, वही, पृ. 47-48) । बात बिल्कुल साफ़ है। मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति संघ के विचार वही हैं जो यहूदियों के प्रति हिटलर के थे।

संघ का राष्ट्र कौन है? हिन्दू, लेकिन सारे हिन्दू नहीं। उच्च जाति के पुरुष हिन्दू स्त्रियों को हिटलर और मुसोलिनी के समान ही पुरुष का सेवक और स्वस्थ बच्चे पैदा करने के यंत्र से अधिक और कुछ नहीं माना गया है। हिन्दुओं में भी, वे हिन्दू जिनके पास समाज के संसाधनों का मालिकाना है। मज़दूर वर्ग का काम है कि महान प्राचीन हिन्दू राष्ट्र की उन्नति और प्रगति के लिए बिना सवाल उठाये खटते रहें – 12 घण्टे और कभी-कभी तो 14-15 घण्टे तक। इस पर सवाल खड़े करना या श्रमिक अधिकारों की बात करना राष्ट्र-विरोधी माना जायेगा। हर कोई अपना 'कर्म' करे, सवाल नहीं! कर्म आपके जन्म से तय होता है। आप जहाँ, जिस घर में, जिस परिवार में जन्मे आपको वैसा ही कर्म करना है। या फिर जैसा आपके राष्ट्र, धर्म और जाति का नेता आपसे कहे ! प्रतिरोध, विरोध और प्रश्न राष्ट्रद्रोह है! श्रद्धा-भाव से कर्म कीजिए! मज़दूरों का यही धर्म है कि वे 'राष्ट्र प्रगति' में अपना हाड़-मांस गला डालें! बताने की ज़रूरत नहीं है कि संघ और भाजपा के लिए राष्ट्र का अर्थ है पूँजीपतियों, दुकानदारों, टुटपूँजियों की बिरादरी। जब ये मुनाफाखोर तरक्की करते हैं और मुनाफ़ा कमाते हैं तो ही राष्ट्र तरक़्क़ी करता है। हिटलर और मुसोलिनी ने भी अपने-अपने देशों में मज़दूरों के प्रति यही रुख़ अपनाया था। इन देशों में फ़ासीवादी सत्ताएँ आने के साथ ही ट्रेड यूनियनों को प्रतिबन्धित कर दिया गया था। ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर हिंस्र हमले इटली और जर्मनी में फ़ासीवादियों की गुण्डा फ़ौजों ने तब भी किये जब वे सत्ता में नहीं थे। मुम्बई में ट्रेड यूनियन नेताओं, मज़दूरों और उनकी हड़तालों पर ऐसे ही हमले शिव सेना (जिसका फ़ासीवाद प्रेम जगजाहिर है) ने भी किये थे। देश भर में जगह-जगह बजरंग दल और विहिप के गुण्डों ने समय-समय पर पूँजीपतियों के पक्ष से मज़दूरों, उनके नेताओं और हड़तालों को तोड़ने का काम किया है। जब वे इस क़िस्म की आतंकवादी कार्रवाइयाँ नहीं कर रहे होते हैं तो वे मज़दूरों की वर्ग एकता को तोड़ने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। मिसाल के तौर पर, मज़दूरों के बीच ऐसे संगठन बनाये जाते हैं जो मज़दूरों की दुर्दशा के लिए पूँजीपति वर्ग को ज़िम्मेदार नहीं ठहराते। पूँजीपतियों से खैरात लेकर और साथ ही मज़दूरों के बीच से पैसे जुटाकर 'फ़ण्ड पूल' बनाये जाते हैं जो मज़दूरों को बेरोज़गारी और भुखमरी की हालत में कुछ पैसे दे देता है।

कई बार ये पैसे सूद पर भी दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, धार्मिक अवसरों पर मज़दूरों के बीच पूजा आदि करवाना, कीर्तन करवाना – ये ऐसे संगठनों का मुख्य काम होता है। साथ ही मजदूरों के दिमाग़ में यह बात भरी जाती है कि उनके हालात के ज़िम्मेदार अल्पसंख्यक हैं जो उनके रोजगार आदि के अवसर छीन रहे हैं। इन फ़ासीवादी संगठनों के नेताओं के मुँह से अक्सर ऐसी बात सुनने को मिल जाती है - "17 करोड़ मुसलमान मतलब 17 करोड़ हिन्दू बेरोज़गार।" यह बरबस ही फ्रांस के फ़ासीवादी नेता मरीन ल पेन के उस कथन की याद दिलाता है जिसमें उसने कहा था - "दस लाख प्रवासी मतलब दस लाख फ्रांसीसी बेरोज़गार।" मज़दूरों के बीच सुधार के कार्य करते हुए ये संघी संगठन मज़दूरों की वर्ग चेतना को भोथरा बनाने का काम करते हैं। वे उन्हें हिन्दू मज़दूर के तौर पर संगठित करने की कोशिश करते हैं, और इस प्रकार वे मज़दूरों की वर्ग एकता को तोड़ते हैं। साथ ही, 'कमेटी' डालने (सूद पर

पैसा देने वाली एक संस्था जिसे संघी संगठन मज़दूरों के पैसे से ही बनाते हैं, जो देखने में आपसी सहकार जैसी लगती है) जैसी गतिविधियों के जरिये थोड़ी देर के लिए ही सही, मगर पूँजीपति वर्ग से अन्तरविरोधों को तीखा नहीं होने देते। संघ का एक ऐसा ही संगठन है 'सेवा भारती'। साथ ही संघी ट्रेड यूनियन भारतीय मज़दूर संघ अक्सर मुसोलिनी की तर्ज पर औद्योगिक विवादों के निपटारे के लिए 'कॉरपोरेटवादी' समाधान सुझाती है। इसमें फ़ासीवादी नेतृत्व में एक संघीय निकाय बनाया जाता है जिसमें मज़दूरों और पूँजीपतियों के प्रतिनिधि बैठते हैं। फ़ासीवादी पार्टी विवादों का निपटारा करती है और ऐसा वह हमेशा पूँजीपतियों के पक्ष में अधिक झुकते हुए करती है। या फिर हिटलर की तरह मज़दूरों पर पूर्ण नियंत्रण के लिए विभिन्न आतंकवादी संगठन बनाने का रास्ता भी आरएसएस हमेशा खोलकर रखता है। बजरंग दल एक ऐसा ही आतंकवादी संगठन है जिसे संघ ने हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को असंवैधानिक रास्ते से सड़क पर झुण्ड हिंसा के ज़रिये निपटाने के लिए खड़ा किया है। यह कम्युनिस्टों, उदारवादियों, साहित्यकारों समेत मज़दूरों और ट्रेड यूनियन प्रतिरोध को गुण्डों और मवालियों के झुण्ड के हिंस्र हमलों द्वारा शान्त करने में यक़ीन करता है। यानी, भारत के फ़ासीवादियों ने जर्मन और इतालवी तरीक़ों का मेल किया है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि फ़ासीवादी हमेशा राष्ट्रवाद की ओट में पूँजीपति वर्ग की सेवा करते हैं। राष्ट्र से उनका मतलब पूँजीपति वर्ग और उच्च मध्य वर्ग हैं, बाक़ी वर्गों की स्थिति अधीनस्थ होती है और उन्हें उच्च राष्ट्र की सेवा करनी होती है; यही उनका कर्तव्य और दायित्व होता है। प्रतिरोध करने वालों को 'दैहिक और दैविक ताप से पूर्ण मुक्ति' दे दी जाती है। समाज में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए फ़ासीवाद हमेशा ही सड़क पर झुण्डों में की जाने वाली हिंसा का सहारा लेता है। जर्मनी और इटली में भी ऐसा ही हुआ था और भारत में भी संघ ने यही रणनीति अपनायी। विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल जैसे संघ के आनुषंगिक संगठन अक्सर इस तरीके को अपनाते हैं। भोपाल में प्रो. सभरवाल की हत्या इसी का एक उदाहरण था।

भारतीय फ़ासीवाद की कार्यपद्धति और उसके उभार का इतिहास

फ़ासीवाद ने भारत में जिस कार्यपद्धति को लागू किया उसकी भी जर्मन और इतालवी फ़ासीवादियों की कार्यपद्धति से काफ़ी समानता रही है। जर्मनी और इटली की तरह यहाँ भी फ़ासीवाद ने जिन तौर-तरीक़ों का उपयोग किया, वे थे सड़क पर की जाने वाली झुण्ड हिंसा; पुलिस, नौकरशाही, सेना और मीडिया का फ़ासीवादीकरण; क़ानून और संविधान का खुलेआम मखौल उड़ाते हुए अपनी आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देना और इस पर उदारवादी पूँजीवादी नेताओं की चुप्पी; शुरुआत में अल्पसंख्यकों को निशाना बनाना और फिर अपने हमले के दायरे में हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को ले आना; शाखाओं, शिशु मन्दिरों, सांस्कृतिक केन्द्रों और धार्मिक त्योहारों का उपयोग करते हुए मिथकों को समाज के 'सामान्य बोध' (कॉमन सेंस) के तौर पर स्थापित कर देना (जैसे, आज उदारवादी हिन्दुओं में भी यह धारणा प्रचलित है कि मुसलमान बहुविवाह करते हैं, ज़्यादा बच्चे पैदा करते हैं, शातिर होते हैं,

हिन्दू राष्ट्र को निगल जाना चाहते हैं, गन्दे रहते हैं, आदि-आदि, जिनका सच्चाई से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है)। झूठा प्रचार : यह दुनिया भर के फ़ासीवादियों की साझा रणनीति रही है। फ़ासीवादी हमले का निशाना संस्थाएँ नहीं बल्कि व्यक्ति हुआ करते हैं (कम-से-कम तब तक जब तक कि वे सत्ता में न हों) और भारत में भी विरोधियों को आतंकित करने की यही नीति फ़ासीवादियों द्वारा अपनायी गयी। अफ़वाहों का कुशलता से इस्तेमाल करना भी भारतीय फ़ासीवादियों की एक प्रमुख निशानी रही है। जर्मनी और इटली की तरह ही एक ही साथ कई बातें बोलने का तरीक़ा भी भारतीय फ़ासीवादियों ने खूब लागू किया है। उनका एक नर्म चेहरा होता है, एक उग्र चेहरा, एक मध्यवर्ती चेहरा और जब जिस चेहरे की ज़रूरत पड़ती है उसे आगे कर दिया जाता है। भारत में भी संघ का कोई एक स्थायी संविधान नहीं रहा है। ये जब जैसी ज़रूरत वैसा चाल-चेहरा-चरित्र अपनाने के हामी होते हैं। क्योंकि सभी फ़ासीवादी अवसरवादी होते हैं और अपने तात्कालिक राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए वे किसी भी हद तक जा सकते हैं।

ये संघी फ़ासीवादियों की आम कार्यपद्धति रही है। इन तौर-तरीक़ों में से अधिकांश संघियों ने अपने जर्मन और इतालवी पिताओं से ही सीखा है। इन्हीं कार्यपद्धतियों के इस्तेमाल के ज़रिये फ़ासीवाद ने भारतीय समाज और जनमानस में जड़ें जमानी शुरू की।

आज़ादी के पहले 1890 के दशक और 1900 के दशक में भी हिन्दू और इस्लामी पुनरुत्थानवादियों के कारण हिन्दू-मुस्लिम तनाव पैदा हुए थे। लेकिन उस दौर में राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा किये गये प्रयासों के चलते ये तनाव ज्यादा तीव्र नहीं हो सके। 1910 के दशक में भी ऐसे तनाव पैदा हुए थे लेकिन 1916 के लखनऊ समझौते और खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन के मिलने से हिन्दुओ और मुसलमानों के बीच सौहार्द्र की स्थिति थी और वे अपने साझा दुश्मन के तौर पर अंग्रेज़ी औपनिवेशिक सत्ता को देखते थे। इस दौरान भी हिन्दू महासभा नामक एक हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन मौजूद था। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा बनी साम्प्रदायिक एकता असहयोग आन्दोलन के पहले तक पूरी तरह टूट नहीं सकी, हालाँकि उसमें दरारें आनी शुरू हो गयी थीं। असहयोग आन्दोलन के अचानक वापस लिये जाने के साथ यह एकता टूटनी शुरू हो गयी। यही समय था जब देश में तमाम हिस्सों में हिन्दू पुनरुत्थानवादियों का उभार हो रहा था। सावरकर बन्धुओं का समय यही था। लगभग यही समय था जब बंकिम चन्द्र का उपन्यास 'आनन्दमठ' प्रकाशित हुआ और राष्ट्रवाद के स्वरूप को लेकर एक पूरी बहस देश भर में चल पड़ी। इसमें एक धारा कांग्रेस के राष्ट्रवाद की थी जो पूँजीपति वर्ग के हितों के नेतृत्व में आम जनता को साम्राज्यवाद के खिलाफ़ लेने की बात करता था। यह समझौतापरस्त धारा थी। यह सेक्युलर तो थी मगर इसका सेक्युलरिज्म स्वयं हिन्दू पुनरुत्थानवाद की ओर झुकाव रखता था। जो कांग्रेसी नेता पुनरुत्थानवादी रुझान नहीं रखते थे उनका सेक्युलरिज्म पुंसत्वहीन था और कभी साम्प्रदायिक कट्टरता के खिलाफ़ लड़ नहीं सकता था। दूसरी अवस्थिति उस साम्राज्यवाद-विरोध की थी जो कम्युनिस्टों ने अपनायी। उन्होंने लगातार ईमानदारी से जनता को एकजुट करते हुए संघर्ष किया लेकिन तमाम रणनीतिक और कूटनीतिक मसलों पर साफ़ न हो पाने के कारण पूरे

स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान उनसे तमाम गलतियाँ हुई जिसके कारण वे कभी भी आन्दोलन के नेतृत्व को अपने हाथ में नहीं ले सके। और तीसरा पक्ष था हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों का जिन्होंने अपनी फ़ासीवादी विचारधारा को हिन्दू राष्ट्रवाद के चोगे में पेश किया। वे कितने राष्ट्रवादी थे यह तो हम देख ही चुके हैं। उनका असली प्रोजेक्ट फ़ासीवाद का था जिसे राष्ट्रवाद के चोगे में छिपाया गया था।

1925 में आरएसएस की स्थापना के समय तक कांग्रेसी राष्ट्रवाद साम्प्रदायिक एकता को क़ायम रखने की इच्छा और इरादा दोनों ही खोने लग गया था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने हिन्दू साम्प्रदायिकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने और उन्हें आपस में लड़ाने का शुरू से ही हर सम्भव प्रयास किया। कई इतिहासकार तो यहाँ तक मानते हैं कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता अंग्रेज़ों की ही पैदा की हुई चीज़ है। अंग्रेज़ों के आने से पहले किसी साम्प्रदायिक दंगे का कहीं कोई हवाला नहीं मिलता है। यह पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद और अंग्रेज़ों के प्रयास के संगम से पैदा हुई थी। बंगाल का विभाजन करने के पीछे अंग्रेज़ों का सबसे बड़ा मक़सद यही था। कहीं वे हिन्दू फ़ासीवादियों का साथ देते तो कहीं इस्लामी कट्टरपन्थियों का। जनगणना का भी अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता बढ़ाने के लिए बखूबी इस्तेमाल किया। कम्युनिस्टों ने इन प्रयासों का प्रतिरोध किया लेकिन फ़ासीवाद से लड़ने की कोई सुसंगत रणनीति न होने के कारण यह प्रतिरोध सफल न हो पाया।

साम्प्रदायिकता का कारगर विरोध और ध्वंस न होने का नतीजा यह था कि 1925 में संघ की स्थापना के 15 वर्ष बीतते-बीतते उसकी सदस्यता क़रीब एक लाख तक पहुँच चुकी थी। उस समय तक संघ एक हिन्दू पुनरुत्थानवादी और कट्टरपन्थी अवस्थिति को अपनाता और उसका प्रचार करता था। उसके निशाने पर मुसलमान प्रमुख तौर पर थे। औपनिवेशिक सत्ता का विरोध करना संघ ने कभी अपना कर्तव्य नहीं समझा और हमेशा अंग्रेज़ों का वफ़ादार बना रहा। लेकिन हिन्दू राष्ट्रवाद की बात करना वह शुरू कर चुका था। उसके प्रचार में प्राचीन भारत के "हिन्दू" गौरव का गुणगान होता था। अभी फ़ासीवादी विचारधारा को लागू करने में संघ स्वयं प्रशिक्षित हो रहा था। 1930 के दशक के अन्त तक गोलवलकर के नेतृत्व में संघ आधुनिक फ़ासीवादी विचारधारा और कार्यप्रणाली को भारतीय सन्दर्भों में लागू करने की शुरुआत कर चुका था। शाखाओं का विराट ताना-बाना देश के तमाम हिस्सों में फैलना शुरू हो चुका था। आज़ादी के आन्दोलन में अपनी शर्मनाक भूमिका को संघ ने आज़ादी के बाद अपने झूठे प्रचारों से ढँकना शुरू किया। यह काम संघ को आज तक करना पड़ता है क्योंकि संघ के नेताओं की गद्दारी के दस्तावेज़ी प्रमाण बड़े पैमाने पर मौजूद हैं, जैसे कि माफ़ीनामे, मुखबिरी, क़ादारी के वायदे, आदि, जो संघी फ़ासीवादियों ने अंग्रेज़ों से किये।

आज़ादी मिलने के बाद सत्ता कांग्रेस के हाथ में आयी और नेहरू प्रधानमंत्री बने। गोलवलकर इस पर काफ़ी हताश हुए और उन्होंने इसे मुसलमानों के हाथों से मिली हार माना। इसके बाद संघ ने अपने तमाम संगठनों की स्थापना शुरू की जिनमें विश्व हिन्दू परिषद प्रमुख था। बाद में बजरंग दल, वनवासी कल्याण परिषद, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, दुर्गा वाहिनी

इत्यादि संगठनों की भी स्थापना की गयी। इन सभी संगठनों के ज़रिये संघ ने देश के कोने-कोने में और हर सामाजिक श्रेणी में अपने पाँव पसारने शुरू किये। संघ 1980 के आते-आते देश का सबसे बड़ा संगठन बन चुका था। भाजपा सत्ता में आये या न आये पूँजीवादी व्यवस्था के रहते संघी फ़ासीवादी हमेशा एक ख़तरे के तौर पर मौजूद रहेंगे। एक अर्थशास्त्री माइकल कालेकी ने सत्ता से बाहर फ़ासीवाद को ज़ंजीर से बँधे कुत्ते की संज्ञा दी थी। भारत में यह रूपक हूबहू लागू होता है। अगर यह कुत्ता जंजीर से न बँधा रहे और इसके हाथ में पूरी सत्ता हो तो वह क्या कर सकता है यह जर्मनी और इटली में हम देख चुके हैं। लेकिन जंजीर से बँधे होने की चिड़चिड़ाहट में भी यह कुत्ता बहुत से कुकृत्य कर सकता है, यह बात भारत के इतिहास से साबित होती है।

भारत में पिछले 4 दशकों में संघी फ़ासीवाद के अभूतपूर्व विस्तार के क्या कारण थे? भारत में फ़ासीवाद की ज़मीन क्या थी? कौन-से वर्ग फ़ासीवाद के सामाजिक आधार बने? यह समझना फ़ासीवाद से मुक़ाबले की रणनीति बनाने में सबसे ज्यादा अहमियत रखता है।

भारतीय समाज में फ़ासीवाद की ज़मीन और उसके सामाजिक अवलम्ब

जर्मनी में फ़ासीवाद के लिए उपजाऊ ज़मीन की चर्चा करते हुए हमने बताया था कि किसी पूँजीवादी क्रान्ति, किसी क्रान्तिकारी भूमि सुधार और एक क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग की अनुपस्थिति; दो दशकों के भीतर अचानक तेज़ी से हुए अभूतपूर्व पूँजीवादी विकास और औद्योगिकीकरण के कारण बड़े पैमाने पर मज़दूरों का उजड़ना, बेरोज़गारी का बढ़ना, गरीबी का बढ़ना, असुरक्षा का बढ़ना, निम्न-पूँजीपति वर्ग का उजड़ना; किसी क्रान्तिकारी विकल्प के मौजूद न होने और सामाजिक जनवादियों द्वारा मज़दूर आन्दोलन को सुधारवाद की गलियों में भटकाते रहना और इसके कारण समाज में प्रतिक्रिया का आधार पैदा होना; बड़े पूँजीपति वर्ग के लिए संकट की स्थिति में किसी नग्न बुर्जुआ तानाशाही की ज़रूरत और इसके कारण नात्सी पार्टी का समर्थन करना; समाज में जनवादी मूल्यों और संस्कृति का अभाव; क्रान्तिकारी भूमि सुधार न होने के कारण बड़े भूस्वामियों (युंकरों) के एक धुर प्रतिक्रियावादी वर्ग की मौजूदगी; एक प्रतिक्रियावादी धनी व उच्च-मँझोले किसान वर्ग की मौजूदगी आदि ही वे कारण थे जिन्होंने जर्मनी में नात्सी पार्टी को सत्ता में पहुँचाया। इटली में औद्योगिक विकास जर्मनी के मुक़ाबले काफ़ी कम था। उत्तरी इटली में कुछ औद्योगिक विकास हुआ था और वहाँ भी यह विकास बेहद द्रुत गति से हुआ था जिसने समाज में मज़दूर और निम्न-पूँजीपति वर्ग को उजाड़ने के कारण समाज में एक आम असुरक्षा का माहौल पैदा किया था। दूसरी ओर दक्षिणी इटली था जहाँ पर बड़े जमींदारों की बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, जिन्हें लातीफ़ुंदिया कहा जाता था। ये ज़मींदार भयंकर प्रतिक्रियावादी थे और इन्होंने शुरुआत में फ़ासीवादियों से अन्तरविरोध के बावजूद बाद में उनका पूरा साथ दिया। इटली में कम्युनिस्टों ने एक शानदार आन्दोलन चलाया और समाजवादी क्रान्ति के निकट तक पहुँचे। लेकिन अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह के कारण वह सफल नहीं हो पाया। तमाम शहरों में मजदूरों की परिषदें खड़ी हुई लेकिन उन्हें कुचल दिया गया। दूसरे इण्टरनेशनल में एक बार लेनिन ने इतालवी कम्युनिस्ट

पार्टी के प्रतिनिधि मण्डल से क़ाफ़ी क्षुब्ध होकर कहा था कि "क्रान्ति को पैदा करना होता है, यह उस तरह नहीं आती जैसे आप लोग उसे लाना चाहते हैं।" लेनिन का इशारा इसी अपरिपक्वता की तरफ़ था जिसके कारण इटली में आसन्न क्रान्ति को कम्युनिस्ट अंजाम नहीं दे सके। दूसरी तरफ़ इटली में समाजवादियों ने मज़दूर आन्दोलन के साथ वही किया जो जर्मनी में सामाजिक जनवादियों ने मज़दूर आन्दोलन के साथ किया था – ट्रेड यूनियनवाद, अर्थवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद और सुधारवाद।

भारत में वे दोनों ही ज़मीनें मौजूद थीं जिन्होंने जर्मनी और इटली में फ़ासीवादी उभार को जन्म दिया। यहाँ पर जर्मनी जैसा औद्योगिक विकास हुआ है और दक्षिणी इटली जितना पिछड़ा कोई इलाक़ा तो नहीं है मगर प्रशियाई मार्ग से हुए क्रमिक भूमि सुधारों के कारण युंकरों जैसा एक पूँजीवादी भूस्वामी वर्ग मौजूद है। इसके अलावा भारत में एक नया धनी किसान वर्ग भी है जो हरित क्रान्ति के बाद पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, और कई अन्य प्रान्तों में पैदा हुआ है। यह धनी किसान वर्ग व्यवस्था समर्थक है और इसकी व्यवस्था से रार सिर्फ़ इस बात पर होती है कि वह कृषि उत्पादों का अधिक मूल्य पाना चाहता है। अपनी इस माँग पर वह मँझोले और ग़रीब किसान को भी अपने साथ लेने में अक्सर सफल हो जाता है। चरण सिंह के दौर तक यह धनी किसान और युंकर वर्ग चरण सिंह के साथ रहा। लेकिन चरण सिंह के दौर के बाद यह या तो क्षेत्रीय पार्टियों जैसे तेलुगूदेशम, समाजवादी पार्टी, आदि का आधार बना या फिर भाजपाई फ़ासीवाद का। (पिछले दो-तीन वर्षों में यह प्रक्रिया पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा में बड़े पैमाने पर होते हुए नज़र आ रही है – लेखक) यह भी ग़ौरतलब है कि ये सभी किसानी क्षेत्रीय पार्टियाँ कई मौक़ों पर फ़ासीवाद का ही साथ देती हैं। दरअसल जर्मनी और इटली में भी यही हुआ था। ऐसे सभी दलों ने फ़ासीवादी पार्टी या नात्सी पार्टी का साथ दिया था। युंकरों, धनी किसानों और मँझोले और यहाँ तक कि ग़रीब किसानों तक का एक हिस्सा फ़ासीवाद का समर्थक बनता है। इसके दो प्रमुख कारण समझ में आते हैं, हालाँकि अलग-अलग क्षेत्रों में और कारण भी हो सकते हैं। पहला कारण है किसान वर्ग की पीछे देखने की अन्तर्निहित प्रवृत्ति। अपने आप में किसान वर्ग का कोई प्रगतिशील या भविष्योन्मुखी 'यूटोपिया' या स्वप्न नहीं होता, हालाँकि सामन्तवाद व अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक व्यवस्था के दौर में समूची किसान आबादी की और पूँजीवादी व्यवस्था के प्रभावी बन जाने के बाद ग़रीब व मँझोले किसान वर्ग की सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में एक प्रगतिशील भूमिका बनती है। पूँजीवादी विकास के साथ किसानों का एक बड़ा हिस्सा उजड़ता है। ऐसे में वह स्वतःस्फूर्त तरीके से पूँजीवादी समाज के भीतर अपने सर्वहाराकृत हो जाने की नियति को नहीं समझता। अपने से तो वह ज़मीन के बचे-खुचे टुकड़े से चिपके रहना ही चाहता है (जो वास्तव में उसे कुछ नहीं देता)। वह अतीत के उन दिनों के बारे में बहुत लगाव के साथ सोचता है जब जीवन में पूँजीवादी गलाकाटू प्रतिस्पर्ध नहीं थी और वह अपने खेत पर चैन से गुज़र करता था (फिर से, ऐसा अतीत कभी था नहीं, यह उसकी रूमानी कल्पनाओं में ही होता है)। जब भी कोई पुनरुत्थानवादी ताक़त अतीत की ओर पश्चगमन के नारे देती है, स्वदेशी का राग अलापती है और इस सारी लफ़्फ़ाज़ी को धर्म की चाशनी में लपेटती है तो वह

बरबादी की कगार पर खड़े किसानों समेत मँझोले और धनी किसानों को बहुत रुचता है। दूसरा कारण होता है किसानी जीवन का सांस्कृतिक पिछड़ापन। फ़ासीवादी ताक़तें किसानों के जीवन और संस्कृति में जनवादी मूल्यों की कमी, पिछड़ेपन और निरंकुशता का पूरा लाभ उठाती हैं और उन्हें सहयोजित करती हैं, यानी अपना लेती हैं। फ़ासीवाद एक आधुनिक विचारधारा है जो पुरातनपन्थी और आधुनिकता-विरोधी, जनवाद और समानता विरोधी विचारों का अवसरवादी इस्तेमाल करते हुए एक आधुनिक किस्म की राजसत्ता की स्थापना करता है और सबसे नग्न क़िस्म की तानाशाही को लागू करके पूँजीवादी हितों की रक्षा करता है। किसानों के इन विभिन्न संस्तरों को, जो फ़ासीवाद का सम्भावित सामाजिक आधार हो सकते हैं, आप ग्रामीण छोटे पूँजीपति वर्ग और निम्न-पूँजीपति वर्ग के रूप में गिन सकते हैं। यह वर्ग 1980 के दशक के मध्य से भाजपा का समर्थक बनने लगा था। उस समय तक चरण सिंह की राजनीति हाशिये पर जा चुकी थी और धनी किसान हितों को बुर्जुआ जनवादी फ्रेमवर्क के भीतर पेश करने वाली कोई प्रभावी ताक़त राष्ट्रीय पैमाने पर मौजूद नहीं थी। भाजपा ने इसी ख़ालीपन का लाभ उठाते हुए धनी किसान लॉबी को अपने साथ लेना शुरू किया और किसानों के सभी संस्तरों के बीच अपना फ़ासीवादी प्रचार शुरू किया।

ग्रामीण निम्न-पूँजीपति वर्ग के अतिरिक्त शहरों का निम्न-पूँजीपति वर्ग भी फ़ासीवाद का ज़बर्दस्त समर्थक होता है। बल्कि यूँ कहें कि फ़ासीवाद का सबसे ताक़तवर और परम्परागत सामाजिक आधार यही वर्ग मुहैया कराता है। इस वर्ग में छोटे पूँजीपति, दुकानदार, दलाल, एजेण्ट, निम्न माल उत्पादन करने वाले छोटे उत्पादक, सरकारी वेतनभोगी वर्ग, कर्मचारी वर्ग और सफ़ेद कॉलर वाले वे मज़दूर होते हैं जिन्हें अभिजात्य या क्लीन मज़दूर वर्ग कहा जा सकता है। 1980 के दशक के पहले यह पूरा वर्ग कांग्रेस का परम्परागत समर्थक रहा था। उस समय तक सार्वजनिक क्षेत्र के पूँजीवाद का ज़माना था। नेहरू के ज़माने की परछाइयाँ अभी पूरी तरह से धूमिल नहीं हुई थीं। आज़ादी के बाद समृद्ध, प्रगति और विकास के जो सपने सार्वजनिक क्षेत्र, बैंकों के राष्ट्रीकरण, और "समाजवाद" और कल्याणकारी राज्य के नारे के साथ दिखलाये गये थे, वे टूटने शुरू हो चुके थे लेकिन अभी गायब नहीं हुए थे। 1965-66 का भारतीय अर्थव्यवस्था का संकट पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद का पहला संचय का संकट था। 1980 के दशक के मध्य तक भारतीय पूँजीवाद सार्वजनिक क्षेत्र की चौहद्दी के भीतर बड़ा होते-होते कसमसाने लगा था। 1947 से 1980 तक के दौर में पब्लिक सेक्टर भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत थी। गुलामी से बौने और अधमरे हुए पूँजीपति वर्ग को अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए पहले राज्य को ही एक बड़े पूँजीपति की भूमिका निभानी थी। यही समय इंस्पेक्टर राज और लाइसेंसी राज का था। बाद में सार्वजनिक क्षेत्र का यह पिंजड़ा, जो पहले पूँजीपति वर्ग की सुरक्षा के लिए बनाया गया था, उसके विकास में बाधक बनने लगा। भारतीय निजी पूँजी अब इस पिंजड़े में ठीक से साँस नहीं ले पा रही थी और उसे खुले बाज़ार और खुली प्रतिस्पर्धा की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। अगर यह नहीं होता तो वह पूँजी के जीवन के लिए घातक होता। नतीजतन, भारतीय पूँजीपति वर्ग के नुमाइन्दे भारतीय राज्य ने सार्वजनिक क्षेत्र, विनियमन, लाइसेंसी राज, इंस्पेक्टर राज की दीवारों को गिराना शुरू

किया। जब तक कल्याणकारी पब्लिक सेक्टर वाले राज्य का ढाँचा क़ायम था, जीवन निम्न पूँजीपति वर्ग के लिए अपेक्षाकृत आसान था और असुरक्षा और अनिश्चितता उसके लिए उतनी अधिक नहीं थी। लेकिन ज्यों ही उदारीकरण-निजीकरण की नीतियाँ लागू होनी शुरू हुई वैसे ही उसकी आँच इन वर्गों तक भी पहुँचने लगी। कम ही लोग जानते हैं कि भारतीय पूँजीवादी राज्य ने पहली बार 'नई आर्थिक नीति' के जुमले का इस्तेमाल 1991 में नरसिंह राव-मनमोहन सिंह की सरकार के दौरान नहीं किया था। 1985 में राजीव गाँधी की सरकार के दौरान पहली बार नई आर्थिक नीति का नाम लिया गया और उदारीकरण और निजीकरण को शुरू करने की बात की गयी। राजीव गाँधी तमाम सभाओं और जमावड़ों में लाइसेंसी राज और इंस्पेक्टर राज को विकास-विरोधी क़रार देते थे और उदारीकरण करने की ओर इशारा करते थे। 1986 में नयी शिक्षा नीति द्वारा इसी काम को आगे बढ़ाया गया। इसके बाद 1991 में पूँजीपति वर्ग ने यह प्रक्रिया सार्वजनिक क्षेत्र पूँजीवाद के भयंकर आर्थिक संकट के बाद खुलेआम शुरू की। इसके सूत्रधार थे तत्कालीन वित्त मंत्र मनमोहन सिंह जो आज देश के प्रधानमंत्री हैं। तब से लगभग 18 वर्ष बीत चुके हैं। लेकिन नयी आर्थिक नीति की शुरुआत 1980 के दशक के मध्य को माना जाना चाहिए। अगर हम ऐसा मानते हैं तो उदारीकरण की नीतियों को लागू होने की शुरुआत हुए क़रीब 25 वर्ष बीत चुके हैं। इस दौरान पूरे देश में गरीबी और बेरोज़गारी अभूतपूर्व रफ़्तार से बढ़ी है। 1980 के दशक के आते-आते मध्य वर्ग और पेटी-बुर्जुआ वर्ग और साथ ही आम जनता के सभी सपने भी धूल-धूसरित होने लगे थे जिसने पूरी आम जनता में एक हताशा और निराशा को जन्म दिया था। स्वदेशी और छोटे उद्योग-धन्धों के हित की बात करते हुए भाजपा ने भी अपनी गठबन्धन सरकार के काल में भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को तेज़ रफ़्तार से लागू किया। बल्कि भाजपा के नेतृत्व में ही पहली बार विनिवेश मंत्रालय अरुण शौरी के नेतृत्व में बनाया गया, जिसे क़ायदे से निजीकरण-बेरोज़गारी मंत्रालय कहा जाना चाहिए। छोटी पूँजी की बात करते हुए भाजपा ने किसी भी पार्टी से ज़्यादा बड़ी पूँजी की चाकरी की। ऐसे में फ्रांसीसी प्रगतिशील इतिहासकार डेनियल गुएरिन का वह कथन बरबस ही याद आता है- "फ़ासीवाद न सिर्फ़ बड़ी पूँजी का चाकर होता है, बल्कि साथ ही यह टुटपूँजिये वर्ग का रहस्यवादी उभार भी होता है।" भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के 25 वर्षों ने बड़े पैमाने पर छोटे पूँजीपति वर्ग को उजाड़ा, छोटे पैमाने के उत्पादकों, दुकानदारों, वेतनभोगियों को उजाड़ा और साथ ही ग्रामीण पेटी-बुर्जुआ वर्ग को भी उजाड़ा है। बड़े पैमाने पर लोग सड़कों पर आ गये और जो सड़कों पर नहीं आये, उनके सिर पर भी लगातार छँटनी और तालाबन्दी, नौकरी से निकाल दिये जाने, ठेके पर कर दिये जाने की तलवार लटकी रहती है। यानी पूरे पेटी-बुर्जुआ वर्ग के सामने भविष्य की असुरक्षा और अनिश्चितता बेहद तेज़ रफ़्तार से बढ़ी है। ऐसे में यदि आम जनता और इन वर्गों को यह बात समझाने के लिए कोई क्रान्तिकारी ताक़त मौजूद नहीं है कि इस सारी असुरक्षा और अनिश्चितता का असली ज़िम्मेदार पूँजीवाद है और पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर पेटी-बुर्जुआ वर्ग की यही नियति है कि उसके मुट्ठी भर हिस्से को ऊपर की ओर जाना है और बाक़ी विशाल हिस्से को सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा की

क़तार में शामिल हो जाना है, तो निश्चित रूप से उसके भीतर एक प्रतिक्रिया की ज़मीन भी मौजूद रहती है।

यह ज़मीन लम्बी असुरक्षा और अनिश्चितता के कारण पैदा हुई चिड़चिड़ाहट और हताशा से तैयार होती है। इसी ज़मीन का फ़ायदा फ़ासीवादी ताक़तें उठाती हैं और उन्होंने भारत में भी उठाया। इस पूरे गुस्से का निशाना संघ ने अल्पसंख्यकों को और विशेषकर मुसलमानों और शरणार्थियों को बनाया। गतिरोध की स्थिति में जनता के गुस्से को अतार्किक और प्रतिक्रियावादी रास्ते पर ले जाना फ़ासीवादियों के लिए ख़ास तौर पर आसान होता है। संघ इसकी पृष्ठभूमि तो अपने जन्म के बाद से ही तैयार कर रहा था। अपनी शाखाओं, संस्कृति केन्द्रों, शिशु मन्दिरों में लगातार मुसलमानों को अतीत से लेकर वर्तमान तक हिन्दुओं की सारी तकलीफ़ों का ज़िम्मेदार बताया जा रहा था। 1980 के बाद दिमाग़ों में बोये गये ज़हर के इस बीज के अंकुरित होने के लिए सभी अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार होने लगीं। यही कारण है कि संघ की मौजूदगी तो आज़ादी के बाद से लगातार बनी रही थी और साम्प्रदायिक तनाव फैलाने में हमेशा उसकी भूमिका भी रही थी, लेकिन 1980 के पहले तक संघ को एक ब्राह्मण-बनिया संगठन के रूप में जाना जाता था। लेकिन 1980 के बाद संघ की अपील कहीं ज़्यादा व्यापक हुई और फ़ासीवाद का उभार एक परिघटना के रूप में वास्तविकता बनकर उभरा। राम जन्मभूमि आन्दोलन, रथयात्रओं, बाबरी मस्जिद ध्वंस, 1991 के संकट के बाद और 1995 तक उदारीकरण-निजीकरण के विनाशकारी परिणामों के बाद भारत में फ़ासीवादी आन्दोलन हिन्दुत्ववाद, स्वदेशीवाद और राष्ट्रवाद के चोगे में कहीं ज़्यादा ताक़तवर होकर उभरा। 1980 के बाद फ़ासीवाद का एक आन्दोलन की शक्ल में आना कोई संयोग नहीं था। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि 'आन्दोलन' शब्द का उपयोग हमेशा ऐसे किया जाता है मानो वह कोई अनिवार्य रूप से सकारात्मक वस्तु हो, जबकि इस शब्द में ऐसा कुछ नहीं है जो इसे अपने आप में सकारात्मक बना देता हो। यह निर्भर करता है वह आन्दोलन किसका है और किसके नेतृत्व में है।) आर्थिक और भौतिक तौर पर फ़ासीवाद की ज़मीन के मज़बूत होने के कारण फ़ासीवाद एक आन्दोलन की शक्ल अख्तियार कर पाया था।

उदारीकरण और निजीकरण के एक चौथाई दशक ने भारतीय समाज में भी लोगों को बड़े पैमाने पर अपनी जगह-ज़मीन और काम-धन्धे से उजाड़कर निम्न-पूँजीपति वर्ग, मज़दूर वर्ग और अन्य मध्य वर्गों में वैसी ही असुरक्षा और अनिश्चितता का माहौल पैदा किया जो जर्मनी में 20 वर्षों के द्रुत औद्योगिकीकरण के बाद पैदा हुआ था। यह सच है कि इस प्रक्रिया का पैमाना उतना ज़्यादा नहीं था जितना कि यह जर्मनी में था। कुछ मार्क्सवादी सिद्धान्तकार यह बात समझ नहीं पाये हैं। ऐसे ही एक सिद्धान्तकार प्रभात पटनायक और उन्हीं के साथ एजाज़ अहमद इस तथ्य पर काफ़ी चकित दिखलायी पड़ते हैं कि भारत में औद्योगिकीकरण उतना द्रुत तो था नहीं जितना कि वह जर्मनी में था (नतीजतन, भारत में बेरोज़गारी, उजड़ना और ग़रीबी भी उतनी तेज़ रफ़्तार से नहीं पैदा हुई थी जितनी तेज़ रफ़्तार से जर्मनी में) फिर भारत में इसने फ़ासीवादी उभार को जन्म कैसे दिया? लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि भारत के औपनिवेशिक इतिहास के कारण भारतीय समाज को दीर्घकालिक और भयंकर रूप से पैठी

हुई ग़रीबी और बेरोज़गारी विरासत में मिली थी। यहाँ पर ग़रीबी और बेरोज़गारी और सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा व अनिश्चितता पहले से ही जड़ जमाये हुए थी जिसे निजीकरण और उदारीकरण ने और भयंकर रूप दे दिया। जर्मनी या इटली के समाज की तरह ये समस्याएँ किसी एक औद्योगिकीकरण के दौर की ही पैदावार नहीं थीं, ये पहले से मौजूद थीं। जो काम जर्मनी और इटली में द्रुत औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने किया था वह काम यहाँ पर भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रियाओं ने किया यानी पूरे समाज में असुरक्षा और अनिश्चितता के माहौल को पैदा करके फ़ासीवादी प्रतिक्रिया की ज़मीन को पैदा करना।

कुछ मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों ने जर्मनी और इटली से एक और फ़र्क़ की ओर इशारा किया है। इन लोगों का कहना है कि जर्मनी और इटली में जिस समय फ़ासीवादी उभार हुआ उस समय एक शक्तिशाली समाजवादी देश और साथ ही इन्हीं देशों में शक्तिशाली कम्युनिस्ट आन्दोलन मौजूद थे। जर्मनी और इटली में बड़े पूँजीपति वर्ग ने बेहद तत्परता से फ़ासीवाद का साथ दिया तो इसका एक कारण यह भी था कि वे समाजवाद और आसन्न मज़दूर क्रान्तियों से डरे हुए थे। भारत में ऐसा नहीं है। लेकिन भारत में बड़े पूँजीपति वर्ग ने इतनी तत्परता के साथ फ़ासीवाद का साथ दिया भी नहीं है। उसने बीच-बीच में अलग-अलग मौक़ों पर भाजपा का साथ दिया है लेकिन पूँजीपति वर्ग ने वक़्त और ज़रूरत के मुताबिक़ कांग्रेस का भी साथ दिया है। मिसाल के तौर पर, आज कल्याणकारी राज्य और नीतियों की ज़रूरत है। इस बात को पूँजीपति वर्ग का एक बड़ा हिस्सा भी समझ रहा है। संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार के दिखावटी सुधारवाद को पूँजीपति वर्ग अभी समर्थन दे रहा है। दूसरी बात यह है कि साथ ही यह सरकार क्रान्तिकारी ताक़तों के ऊपर शिकंजा कसने का काम भी कर रही है। नरेगा और खाद्य सुरक्षा जैसी कुछ नीतियों के साथ सरकार उदारीकरण और निजीकरण को खुले तौर पर जारी रख रही है और उसके पास अभी यह क्षमता भी है कि वह ऐसा कर सके। इसलिए आज नग्न पूँजीवादी तानाशाही की कोई आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि भाजपा आज राष्ट्रीय पैमाने पर दयनीय हालत में पहुँच गयी है। लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का फ़ासीवादी नेटवर्क अपनी पूरी ताक़त के साथ मौजूद है। ज्यों ही कल्याणकारी राज्य की सम्भावनाएँ रिक्त होंगी वैसे ही पूँजीपति वर्ग को फ़ासीवादी चाल-चेहरे की आवश्यकता पड़ सकती है। और जब वह सत्ता में नहीं है तब भी जंजीर से बँधे कुत्ते की भूमिका तो वह आज भी निभाता रहता है। मज़दूर आन्दोलन में इसे ख़ास तौर पर देखा जा सकता है। साथ ही, पूरे समाज में संघी आतंक समूहों की मौजूदगी क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए एक 'काउण्टर वेट' का काम करती रहती है। हमने पहले जर्मनी के उदाहरण से स्पष्ट किया था कि कल्याणकारी पूँजीवादी राज्य की परिणति अक्सर अधिक प्रतिक्रियावादी पूँजीवादी राज्य के रूप में होती है। भारत में इसकी पर्याप्त सम्भावनाएँ मौजूद हैं। मौजूदा वैश्विक साम्राज्यवादी दीर्घकालिक आर्थिक संकट की मौजूदा लहर तो बीत जायेगी लेकिन चक्रीय क्रम में आने वाला संकट इससे भी भयंकर होगा, इसके संकेत अभी से ही मिलने लगे हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था वित्तीय बाज़ारों से पूरी तरह न जुड़ी होने के कारण थोड़ी-सी बची रही लेकिन

आगे यह सम्भव नहीं होगा। भारतीय अर्थव्यवस्था के किसी गहरे संकट में फँसने के साथ ही बेरोज़गारी और ग़रीबी, जो पहले ही ख़तरे के निशान से ऊपर है, और ज़्यादा बढ़ेगी। ऐसे में, क्रान्तिकारी सम्भावना भी पैदा होगी, यानी जन-असन्तोष को एक तार्किक दिशा में मोड़ते हुए, गोलबन्द और संगठित करते हुए व्यवस्था परिवर्तन की दिशा में ले जाने की सम्भावना; और साथ ही, फ़ासीवादी सम्भावना भी पैदा होगी, यानी किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व की गैर-मौजूदगी में पूरे समाज में मौजूद हताशा और असुरक्षा की भावना को प्रतिक्रियावादी दिशा में मोड़ते हुए नग्न पूँजीवादी फ़ासीवादी तानाशाही की ओर ले जाना (2010-11 तक इक्कीसवीं सदी की नयी महामन्दी के असर के भारतीय अर्थव्यवस्था तक पहुँचने के साथ यह प्रक्रिया शुरू हो गयी थी जिसने अन्ततः 2014 में मोदी को सत्ता में पहुँचाया - लेखक)। दूसरी सम्भावना को वास्तविकता में बदलने वाली नेतृत्वकारी फ़ासीवादी ताक़त आज देश में बड़े पैमाने पर मौजूद है। लेकिन ऐसी कोई अखिल भारतीय क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद नहीं है। अब सारा भविष्य इसी बात पर निर्भर करता है कि हम ऐसी ताक़त को खड़ा करने की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर लेने को तैयार हैं या नहीं।

आख़िरी फ़र्क़ जिसकी ओर कुछ मार्क्सवादी विचारकों द्वारा इशारा किया जाता है वह यह है कि पहले यूरोपीय फ़ासीवादी उभार के समय जिस क़िस्म की महामन्दी विश्व पूँजीवाद झेल रहा था वैसी कोई मन्दी आज नहीं है। हालाँकि, मौजूद वैश्विक मन्दी में उन्हें अपने शब्दों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता पड़ रही है। लेकिन यह सच है कि वैसी चीज़ दुबारा नहीं आने वाली। इतिहास अपने आपको दुहराता नहीं है। अब विश्व साम्राज्यवाद में हुए परिवर्तनों के मद्देनज़र कुछ बातें साफ़ हैं। विश्व पूँजीवाद में अब मन्दी और तेज़ी के अपेक्षाकृत छोटे चक्रों में नहीं चलता।

आज हम एक दीर्घकालिक मन्दी के साक्षी बन रहे हैं। पूँजी के पर्याप्त अवमूल्यन और उत्पादक शक्तियों के पर्याप्त बड़े पैमाने पर विनाश की अनुपस्थिति में मौजूदा मन्दी एक दीर्घकालिक रूप ले रही है। एक मन्द मन्दी लगातार बनी रहती है जो बीच-बीच में गहराती रहती है। 1995 से 2006 के बीच चार बड़ी मन्दियाँ आयीं जिसमें हाल की मन्दी सबसे भयंकर थी। संकट अभी भी आवर्ती क्रम में आने वाला संकट ही है, लेकिन इसमें मन्दी के चक्र की अवधि बढ़ गयी है। जितना रोज़गार पूँजीवाद पहले दे सकता था अब वह किसी हालत में नहीं दे सकता क्योंकि पूँजी कहीं ज़्यादा परजीवी हो चुकी है और उत्पादक निवेश की सम्भावनाएँ नहीं के बराबर रह गयी हैं। इसलिए बेरोज़गारी अचानक होने वाले विस्फोट की तरह नहीं बढ़ी बल्कि वह सघन रूप में एक स्थायी परिघटना बन चुकी है। जो इतिहासकार नये फ़ासीवादी उभार की हर विशेषता को इतिहास में ढूँढना चाहते हैं उन्हें काफ़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि इतिहास में दुहराव नहीं हो सकता। कोई ज़बरन करने की कोशिश करेगा तो वह मार्क्स के शब्दों में प्रहसन बन जायेगा। यांत्रिक मार्क्सवादी विश्लेषकों के साथ यही दिक़्क़त है। आज का फ़ासीवादी उभार भी पहले जैसा नहीं होगा। विश्व पूँजीवाद में भूमण्डलीकरण के दौर में जो परिवर्तन आये हैं उनके अनुसार फ़ासीवादी उभार के स्वरूप में भी निश्चित रूप में परिवर्तन आयेंगे। यह एक अलग चर्चा का विषय है जो एक

अलग लेख की माँग करता है। एक महत्त्वपूर्ण कारक की ओर इशारा करके हम आगे बढ़ना चाहेंगे।

जर्मनी में नात्सी पार्टी को और इटली में फ़ासीवादी पार्टी को संकट का समाधान आज की अपेक्षा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के दायरे में अधिक करना था। जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के 20 से 25 वर्षों के भीतर ही सत्ता में आ जाने का कारण यही था कि उस समय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में राष्ट्र-राज्य की भूमिका बेहद प्रत्यक्ष थी। वह आज भी है लेकिन बदल चुकी है। पूँजी के लिए साँस लेने की जगह कहीं ज़्यादा कम थी। उसके विपरीत, भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजी के राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार खुले प्रवाह के साथ पूँजी के लिए अपने अन्तरविरोधों और संकटों को निपटाने का मंच राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था नहीं बल्कि वैश्विक अर्थव्यवस्था है। इसलिए फ़ासीवाद भूमण्डलीकरण के दौर में उतनी द्रुत गति से और उस तरह से सत्ता में नहीं आ सकता है जैसे जर्मनी और इटली में आया था। फ़ासीवाद अगर फिर सत्ता में आता है तो उसका रूप क्या होगा यह बता पाना मुश्किल है। लेकिन यह बात सच है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सीमाएँ सन्तृप्त हो गयी थीं वैसे ही वैश्विक अर्थव्यवस्था की सीमाएँ भी सन्तृप्त हो जायेंगी और होने लगी भी हैं, जैसा कि नवीनतम साम्राज्यवादी संकट ने दिखलाया है। अब इस नये वैश्विक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विधान में फ़ासीवाद के सत्ता में आने की सूरत में पूरा रूप और रास्ता क्या होगा, यह अलग से शोध का विषय है।

फासीवाद के उभार के कुछ बुनियादी कारणों की हमने व्याख्या की है जो कहीं भी फ़ासीवाद के उभार का सामान्य कारण होते हैं। वे कारण जर्मनी में भी मौजूद थे, इटली में भी मौजूद थे और भारत में भी मौजूद थे। सामाजिक जनवाद की गद्दारी इसमें हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। यह भारत में भी मौजूद है। सी.पी.आई. और सी.पी.एम. के नेतृत्व में ट्रेड यूनियन आन्दोलन भारत में भी वही भूमिका निभा रहा है जो वह जर्मनी में निभा रहा था। यहाँ भी संशोधनवाद और ट्रेड यूनियन नेतृत्व मज़दूर आन्दोलन को सुधारवाद, अर्थवाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद की गलियों में घुमा रहा है। यहाँ पर ट्रेड यूनियन आन्दोलन और सामाजिक जनवाद पूँजीपति वर्ग को उस क़िस्म के सौदे पर मजबूर नहीं कर सकता जैसा कि जर्मनी में किया था। लेकिन भारत का पूँजीपति वर्ग तत्कालीन जर्मनी के पूँजीपति वर्ग से कहीं कमज़ोर है और जितना दबाव ट्रेड यूनियन आन्दोलन से भारत में पूँजी पर बना है वह उसके मुनाफे के मार्जिन को सिकोड़ने के लिए काफ़ी है। श्रम क़ानूनों के कारण भारतीय पूँजी का दम काफ़ी घुटता है। गौरतलब है कि भारत में आज मौजूद श्रम क़ानून उस समय के जर्मनी या इटली में मौजूद श्रम क़ानूनों से पीछे नहीं हैं बल्कि कई मायनों में ज़्यादा आगे हैं। हाल ही में फ़िक्की के एक पूँजीपति ने कहा भी था कि श्रम क़ानूनों के चलते हमें "प्रॉफिट स्क्वीज़" (मुनाफ़े में कमी) का सामना करना पड़ रहा है। हूबहू यही शब्द जर्मन पूँजीपतियों ने भी इस्तेमाल किया था। यह कोई संयोग नहीं है। इसलिए भारत का संशोधनवाद और सामाजिक जनवाद उतना ताक़तवर नहीं है जितना कि जर्मनी का सामाजिक जनवाद था,

लेकिन भारत का पूँजीवाद भी उतना शक्तिशाली नहीं है जितना कि जर्मनी का पूँजीवाद था। अनुपात उन्नीस-बीस के अन्तर से समान ही मिलेगा!

भारत में भी कोई जनवादी क्रान्ति नहीं हुई जिसके कारण पूरे समाज में जनवादी चेतना की एक भारी कमी है और भयंकर निरंकुशता है जो जनता के मनोविज्ञान में फ़ासीवाद का आधार तैयार करती है। यहाँ भी क्रान्तिकारी भूमि सुधार नहीं हुए और क्रमिक भूमि सुधारों ने प्रतिक्रियावादी युंकर वर्ग को और हरित क्रान्ति ने प्रतिक्रियावादी आधुनिक धनी किसान वर्ग को जन्म दिया। यहाँ भी छोटे पूँजीपति वर्ग, पेटी बुर्जुआ वर्ग और छोटे उत्पादकों की एक भारी तादाद मौजूद है जो पूँजीवादी विकास के साथ तेज़ी से उजड़ती है और प्रतिक्रियावाद के समर्थन में जाकर खड़ी होती है। साथ ही, यहाँ भी ऊपर की ओर गतिमान एक प्रतिक्रियावादी नवधनाढय वर्ग है जो भूमण्डलीकरण के रास्ते हो रहे विकास की मलाई चाँप रहा है। इनमें मोटा वेतन पाने वाला वेतनभोगी वर्ग, ठेकेदार वर्ग, व्यापारी वर्ग, नौकरशाह आदि शामिल हैं। यहाँ पर मज़दूर वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो किसानी मानसिकता का शिकार है और पूरी तरह उत्पादन के साधनों से महरूम नहीं हुआ है। वह भौतिक स्थितियों से सर्वहारा चेतना की ओर खिंचता है, तो अतीतोन्मुखी आकांक्षाओं और दो-चार मामूली उत्पादन के साधनों का स्वामी होने के कारण निम्न-पूँजीवादी चेतना की ओर खिंचता है। नतीजतन, सर्वहारा चेतनाकरण की प्रक्रिया मुक़ाम तक नहीं पहुँचती और इस आबादी का भी एक हिस्सा फ़ासीवादी प्रचार और प्रतिक्रिया के सामने अरक्षित होता है और उसका अक्सर शिकार बन जाता है।

भारत में भी लम्पट सर्वहारा की बड़ी उजड़ी आबादी है जो फ़ासीवादी भीड़ का हिस्सा बनती है। ये कुछ आम कारक हैं जो फ़ासीवाद के उभार की ज़मीन तैयार करते हैं। आज के ज़माने में भी ये कारक तो लागू होते ही हैं। आज के सम्भावित फ़ासीवादी उभार में नयेपन और परिवर्तन के कुछ तत्वों की ओर हमने संक्षेप में इशारा किया है, जो पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में बदलाव के कारण पैदा होते हैं। इन पर कभी आगे।

*

आज के भारत में फ़ासीवादी रुझान का मुक़ाबला करने के लिए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को क्या करना होगा? हमें मज़दूरों, छात्रों, युवाओं, स्त्रियों, दलितों और धार्मिक अल्पसंख्यकों के बीच सर्वहारा क्रान्तिकारी संगठन कैसे खड़े करने होंगे? मज़दूर मोर्चे से लेकर अन्य सभी मोर्चों पर हमें फ़ासीवादियों को शिकस्त कैसे देनी होगी? कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को फ़ासीवादी आतंक समूहों का मुक़ाबला कैसे करना होगा? निम्न-पूँजीपति वर्ग के सवाल पर हमारा रुख़ क्या होना चाहिए? मज़दूर आबादी में फ़ासीवादी विचारधारा की घुसपैठ को रोकने के लिए हमें कौन-से क़दम उठाने होंगे? शहरी मध्य वर्गीय आबादी में फ़ासीवादी विचारधारा को शिकस्त देने के लिए हमें क्या करना होगा?

ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिनका जवाब हमें देना ही होगा और आगे हम यही प्रयास करेंगे। हमने पहले बताया है कि पूँजीवादी संकट फ़ासीवादी प्रतिक्रिया की भी ज़मीन तैयार करता है और मज़दूर क्रान्ति की भी। सवाल यही होता है कि क्रान्तिकारी नेतृत्व तैयार है या नहीं। हम डेनियल गुएरिन के एक कथन के साथ यहाँ रुकेंगे – "अगर हमने समाजवाद की घड़ी को निकल जाने दिया, तो हमारी सज़ा होगी फ़ासीवाद।"

फ़ासीवाद का मुक़ाबला कैसे करें?

इटली, जर्मनी और भारत में फ़ासीवाद के पैदा होने से लेकर उसके विकास तक का ऐतिहासिक विश्लेषण करने के बाद हमने फ़ासीवादी उभार के प्रमुख सामान्य ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों को समझा। एक सामान्य निष्कर्ष के तौर पर यह बात हमारे विश्लेषण से सामने आयी कि पूँजीवादी व्यवस्था का संकट क्रान्तिकारी और प्रतिक्रियावादी, दोनों ही सम्भावनाओं को जन्म देता है। अगर किसी समाज में क्रान्तिकारी सम्भावना को मूर्त रूप देने के लिए एक अनुभवी और विवेक-सम्पन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद नहीं है, और फ़ासीवादी शक्तियों ने समाज के पोर-पोर में अपनी पैठ बना ली है, तो प्रतिक्रियावादी सम्भावना भी हक़ीक़त में बदल सकती है। जर्मनी और इटली में यही हुआ था और एक दूसरे क़िस्म से भारत में भी भगवा फ़ासीवादी उभार के पीछे एक बड़ा कारण किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व का गैर-मौजूद होना भी था। इस बात को हम पहले ही विस्तार में समझ चुके हैं। दूसरी बात, जो हमने समझी वह यह थी कि मज़दूर आन्दोलन में सामाजिक-जनवादियों और संशोधनवादियों की गद्दारी एक बड़ा कारण थी जिसने एक रोके जा सकने वाले फ़ासीवादी उभार को न रोके जा सकने वाले फ़ासीवादी उभार में तब्दील कर दिया। ज़ाहिर है कि यह दूसरा कारण पहले कारण से नज़दीकी से जुड़ा हुआ है। मज़दूर आन्दोलन का नेतृत्व अगर पूँजीवादी संकट की स्थिति में क्रान्तिकारी विकल्प मुहैया नहीं कराता है और पूरे आन्दोलन को सुधारवाद, पैबन्दसाज़ी, अर्थवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद और ट्रेड यूनियनवाद की अन्धी गलियों में घुमाता रहेगा तो निश्चित रूप से अपनी गति से पूँजीवाद अपनी सबसे प्रतिक्रियावादी तानाशाही की ओर ही बढ़ेगा। बल्कि कहना चाहिए एक संगठित और मज़बूत, लेकिन अर्थवादी, सुधारवादी और ट्रेड यूनियनवादी मज़दूर आन्दोलन पूँजीवाद को संकट की घड़ी में और तेज़ी से फ़ासीवाद की ओर ले जाता है (जर्मनी और इटली में फ़ासीवादी उभार के विश्लेषण वाले हिस्से को देखें)। तीसरी बात : यह सच है कि फ़ासीवाद अन्त में और वास्तव में बड़ी पूँजी के हितों की सेवा करता है, लेकिन ऐसा नहीं है कि इसका सामाजिक आधार महज़ बड़ा पूँजीपति वर्ग होता है। बड़े पूँजीपति वर्ग को मज़दूर आन्दोलन के दबाव को तोडने के लिए एक ऐसी ताक़त की ज़रूरत होती है जिसका व्यापक सामाजिक आधार हो। फ़ासीवाद के रूप में उसे वह ताक़त मिलती है। पूँजीवादी संकट बडे पैमाने पर शहरी और ग्रामीण निम्न पूँजीपति वर्ग और मध्य वर्गों को उजाड़कर असुरक्षा और अनिश्चितता की स्थिति में पहुँचा देता है। दिशाहीन शहरी बेरोज़गार युवा आबादी तथा शहरी और ग्रामीण निम्न पूँजीपति वर्ग के बीच फ़ासीवादी ताक़तें अपना प्रचार करती हैं और उनके

दिमाग़ों में किसी अल्पसंख्यक समुदाय और संगठित मज़दूर आन्दोलन के खिलाफ जहर भरती हैं। असुरक्षा और अनिश्चितता से चिड़चिड़ाये और बिलबिलाये टुटपूँजिया वर्ग में प्रतिक्रिया की ज़मीन पहले से तैयार होती है और वह फ़ासीवादी प्रचार का शिकार बन जाता है। फ़ासीवाद ग्रामीण और शहरी मध्य वर्गों, निम्न पूँजीपति वर्गों और लम्पट सर्वहारा वर्ग के जीवन की दिशाहीनता, हताशा, लक्ष्यहीनता और सांस्कृतिक पिछड़ेपन का फायदा उठाते हुए उनके बीच लम्बी तैयारी के साथ प्रतिक्रिया की ज़मीन तैयार करता है। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप एक फ़ासीवादी आन्दोलन का पैदा होता है और ये वर्ग उसके सामाजिक अवलम्ब के तौर पर काम करते हैं। फ़ासीवाद की विजय या उसके सत्ता में आने के साथ ही ये वर्ग इस सच्चाई से वाक़िफ़ हो जाते हैं कि फ़ासीवाद वास्तव में बड़ी पूँजी का सबसे निर्मम और बर्बर चाकर है और उससे दूर भी होने लगते हैं। लेकिन यह तो बाद की बात है। प्रभावी क्रान्तिकारी प्रचार और पार्टी के अभाव में फ़ासीवाद उभार की ज़मीन भी इन्हीं वर्गों के बीच तैयार होती है।

चौथी बात जो हमने नतीजे के रूप में समझी, वह यह थी कि जिन देशों में पूँजीवाद किसी क्रान्ति के ज़रिये सत्ता में नहीं आया, वहाँ पूरी अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति में गैर-जनवादी और निरंकुश प्रवृत्तियों का बोलबाला होता है। यहाँ तक कि भावी समाजवादी क्रान्ति के मित्र वर्गों में भी इन प्रवृत्तियों ने जड़ जमा रखी होती है। रैडिकल भूमि सुधार के अभाव में गाँव में युंकरों और नये धनी किसानों का एक पूरा वर्ग होता है जो फ़ासीवाद के लिए एक मज़बूत सामाजिक आधार का काम करता है। मँझोले किसानों का एक बड़ा हिस्सा भी क्रान्तिकारी प्रचार, आन्दोलन और संगठन के अभाव में फ़ासीवादी प्रचार में बह जाता है। पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति के अभाव में शहरी मध्यवर्गों में भी जनवादी विचारों और प्रथाओं का भारी अभाव होता है। यह मध्य वर्ग उस यूरोपीय मध्य वर्ग के समान नहीं है जिसमें तार्किकता, वैज्ञानिकता और गतिमानता कूट-कूटकर भरी हुई थी और जो मानवतावाद और जनवाद के सिद्धान्तों का जनक था। आर्थिक तौर पर यह मध्य वर्ग बन चुका है, लेकिन वैचारिक और आत्मिक तौर पर उसमें ऐसा कुछ नहीं है जिसे आधुनिक मध्य वर्ग जैसा कहा जा सके। यही कारण है कि यह शहरी पढ़ा-लिखा मध्य वर्ग भी फ़ासीवादी प्रचार के समक्ष अरक्षित होता है और उसके प्रभाव में आ जाता है। पूँजीवादी क्रान्ति का अभाव ही था जिसने जर्मनी और इटली को फ़ासीवाद के उदय और विकास की ज़मीन बनाया और फ्रांस को नहीं। यह बेवजह नहीं था कि फ्रांस में फ़ासीवादी समूहों को कभी कोई बड़ी सफलता नहीं मिली।

ये कुछ प्रमुख नतीजे थे जिन पर हम अपने विश्लेषण के ज़रिये पहुँचे थे। अपने इन नतीजों के आधार पर ही हमें यह तय करना होगा कि हमें फ़ासीवाद से किस प्रकार लड़ना है। ज़ाहिर है कि हमें फ़ासीवाद पर विचारधारात्मक और राजनीतिक चोट करनी ही होगी; हमें पूरी फ़ासीवादी विचारधारा के वर्ग मूल और चरित्र को आम जनता के सामने उजागर करना होगा; हमें फ़ासीवादियों की असली जन्मकुण्डली और उनके इतिहास को जनता के समक्ष खोलकर रख देना होगा; हमें उनके भर्ती केन्द्रों पर चोट करनी होगी और उन सभी वर्गों के बीच सघन और व्यापक राजनीतिक प्रचार चलाना होगा जो उनका सामाजिक अवलम्ब बन सकते हैं; हमें मज़दूर आन्दोलन के अन्दर ज़बर्दस्त राजनीतिक प्रचार चलाते हुए मज़दूर वर्ग को उसके

ऐतिहासिक लक्ष्य और उत्तरदायित्व, यानी समाजवादी क्रान्ति और कम्युनिज्म की ओर आगे बढ़ने से, अवगत कराना होगा; इसी प्रक्रिया में हमें मज़दूर वर्ग के भीतर मौजूद वर्ग विजातीय प्रवृत्तियों पर चोट करनी होगी और उसे अर्थवाद, संशोधनवाद और सुधारवाद के गड्ढे में जाने से बचाना होगा; हमें सामाजिक जनवादियों और संशोधनवादियों को पूरी जनता के सामने नंगा करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़नी होगी। हमारा विश्लेषण हमें स्पष्ट तौर पर दिखलाता है कि फ़ासीवाद को एक अप्रतिरोध्य उभार बनाने में अगर किसी एक शक्ति की सबसे अधिक भूमिका थी तो वह संशोधनवाद ही था। भारत में भी इस मामले में कोई अपवाद नहीं है। आज मज़दूर आन्दोलन के भीतर भारतीय मज़दूर संघ सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन बन चुका है तो इसकी ज़िम्मेदार एटक, सीटू और एक्टू जैसी अर्थवादियों-सुधारवादियों-ट्रेड यूनियनवादियों और संशोधनवादियों की गद्दार यूनियनें ही हैं। इन बातों को हम अच्छी तरह समझते हैं, लेकिन फिर भी कम्युनिस्ट क़तारों और कार्यकर्ताओं के लिए बिन्दुवार कुछ ठोस बातों को समझ लेना बहुत ज़रूरी है। हमारी समझ में ये कुछ चन्द ज़रूरी बातें हैं, जिन पर अमल फ़ासीवाद को शिकस्त देने के हमारे संघर्ष में हमारी भारी मदद कर सकता है :

1) मज़दूर मोर्चे पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के सामने सबसे अहम कार्यभार है, मज़दूर आन्दोलन और ट्रेड यूनियन आन्दोलन के भीतर संशोधनवाद, ट्रेड यूनियनवाद, अर्थवाद, सुधारवाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद के खिलाफ़ फ़ैसलाकुन, समझौताहीन और निर्मम संघर्ष। ये ही वे भटकाव हैं जो मज़दूर वर्ग को फ़ासीवाद के राक्षस के समक्ष वैचारिक और राजनीतिक तौर पर अरक्षित छोड़ देते हैं। इन भटकावों को मज़दूर आन्दोलन के भीतर घुसाने और पैदा करने का अपराध और ग़द्दारी जिन ताक़तों ने की है, वे हैं इस देश की संसदीय वामपन्थी पार्टियाँ जो अरसे पहले मार्क्सवाद का दामन छोड़ संशोधनवाद का रास्ता चुन चुकी हैं। मज़दूर वर्ग के बीच भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) लिबरेशन जैसी पार्टियों की गद्दारी और उनके दोगलेपन को नंगा कर देना कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए सबसे ज़रूरी काम है। फ़ासीवाद से लड़ने के लिए मज़दूर वर्ग को जिस स्वप्न की ज़रूरत होती है, ये पार्टियाँ उसकी हत्या करती हैं। हमें उसी स्वप्न को मज़दूर वर्ग के बीच पुनर्जीवित करना और फैलाना है। इसके बगैर हम फ़ासीवाद से लड़ने के लिए मज़दूर वर्ग की जुझारू और लड़ाकू एकता और संगठन खड़े नहीं कर सकते। हमें मज़दूर वर्ग के भीतर अराजनीतिक प्रवृत्तियों का भी जबर्दस्त विरोध करना चाहिए। अराजनीतिक प्रवृत्तियों में सबसे प्रमुख है अराजकतावाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद जो मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक लक्ष्य के प्रति उसके सचेत होने को भारी नुक़सान पहुँचाता है। ये मज़दूर वर्ग के बीच गैर-पार्टी क्रान्तिवाद और मज़दूर वर्ग के "स्वायत्त" संगठन की सोच को प्रोत्साहित करता है। स्वायत्त का अर्थ है विचारधारात्मक और राजनीतिक रूप से अनाथ ! इस स्वायत्तता की लफ़्फ़ाजी का पर्दाफ़ाश करना चाहिए और मजदूर वर्ग में क्रान्तिकारी विचारधारा और पार्टी की ज़रूरत को हर-हमेशा रेखांकित किया जाना चाहिए। ज्ञात हो कि अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी जॉर्ज

सोरेल के अधिकांश अनुयायी इटली में फ़ासीवादियों की शरण में चले गये थे। यह अनायास नहीं था।

2) मज़दूर मोर्चे के बाहर भी आम मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग और साथ ही ग्रामीण क्षेत्र की सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा, ग़रीब और मँझोले किसानों की आबादी में भी हमें संशोधनवादी संसदीय वामपन्थी पार्टियों को नंगा करना होगा और बताना होगा कि ये छद्म कम्युनिस्ट हैं और कम्युनिस्ट विचारधारा और मज़दूर वर्ग के साथ गद्दारी कर चुके हैं। शहरी और ग्रामीण मध्य वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी करने के इनके दावे भी खोखले हैं और वास्तव में इनका लक्ष्य इसी पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा करना है जिसके भीतर आम मध्य वर्ग का भी कोई भविष्य नहीं है और उसकी नियति में बरबाद होकर सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा की क़तारों में शामिल होते जाना ही लिखा है। यह इसलिए भी बेहद ज़रूरी बन जाता है क्योंकि मध्य वर्ग और आम मेहनतकश जनता का एक बड़ा हिस्सा संशोधनवादी नेतृत्व की कारगुज़ारियों को देखकर संसदीय वामपन्थी पार्टियों से तो नफ़रत करता ही है, वह अज्ञानता में समाजवाद और कम्युनिज्म के आदर्शों से भी दूर हो जाता है। इसलिए छद्म मार्क्सवादियों को मज़दूर वर्ग में ही नहीं बल्कि भावी समाजवादी क्रान्ति के सभी मित्र वर्गों के सामने नंगा करना बेहद ज़रूरी कार्यभार बन जाता है।

3) क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी को सबसे प्रमुख तौर पर मज़दूर वर्ग में, लेकिन साथ ही शहरी और ग्रामीण निम्न पूँजीपति वर्ग, अर्द्धसर्वहारा आबादी, ग़रीब और मँझोले किसानों, खेतिहर मज़दूरों और वेतनभोगी निम्न मध्य वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार की कार्रवाइयाँ चलाते हुए यह दिखलाना होगा कि पूँजीवाद एक परजीवी और मरणासन्न व्यवस्था है जो अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाकर अपनी प्रासंगिकता खो चुकी है। अब यह जनता को बेरोज़गारी, महँगाई, गरीबी, भुखमरी, असुरक्षा, अनिश्चितता आदि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दे सकता। यह अपनी जड़ता की ताक़त से टिका हुआ है और इसकी सही जगह इतिहास का कूड़ेदान है। पूँजीवादी समाज और व्यवस्था की रोज़मर्रे की और प्रतीक घटनाओं के ज़रिये लगातार उसे नंगा करना होगा। मज़दूरों, युवाओं, छात्रों, बुद्धिजीवियों और स्त्रियों की पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हर सम्भव मौके पर पूँजीवाद की ऐतिहासिक व्यर्थता को प्रदर्शित करना होगा। पूँजीवादी संकट के दौर में और पूँजीवादी चुनावों के दौर में इस व्यवस्था और समाज का क्रान्तिकारी विकल्प लेकर ज़ोरदार तरीक़े से आम मेहनतकश जनता के सभी वर्गों में जाना होगा। ये वे वक़्त होते हैं जब जनता राजनीतिकरण के लिए मानसिक तौर पर खुली और तैयार होती है। लेकिन जब ऐसे मौक़े न हों तब भी निरन्तरता के साथ, बिना थके और तात्कालिक परिणामों की आकांक्षा किये बगैर पूँजीवाद विरोधी कम्युनिस्ट राजनीतिक प्रचार को जारी रखना होगा, कभी विलम्बित ताल में तो कभी द्रुत ताल में।

4) मज़दूर वर्ग की पार्टी को मज़दूर मोर्चे, छात्र-युवा मोर्चे, बुद्धिजीवी मोर्चे, स्त्री मोर्चे समेत सभी मोर्चों पर उन अतार्किक, अवैज्ञानिक और निरंकुश विचारों के खिलाफ़ प्रचार चलाना होगा जिनका इस्तेमाल फ़ासीवादी ताक़तें निम्न पूँजीपति वर्गों, मध्य वर्गों, लम्पट सर्वहारा,

आदि को साथ लेने के लिए करती हैं। मिसाल के तौर पर, नस्लवाद, साम्प्रदायिकतावाद, क्षेत्रवाद, भाषाई कट्टरता, जातीयतावाद, जातिवाद आदि। ये वे विचारधाराएँ हैं जिनका इस्तेमाल कर फ़ासीवादी ताक़तें जन-असन्तोष की दिशा को पूँजीवादी व्यवस्था की दिशा में मुड़ने से रोकती हैं और उन्हें किसी अल्पसंख्यक समुदाय या जाति की ओर मोड़ देती हैं और एक निरंकुश प्रतिक्रियावादी और बहसंख्यावादी राजनीति करते हुए फ़ासीवादी सत्ता कायम करती हैं। इन विचारधाराओं का विरोध हमें बुर्जुआ मानवतावाद और धर्मनिरपेक्षता की जमीन पर खड़ा होकर नहीं बल्कि सर्वहारा वर्ग की वर्ग चेतना की ज़मीन पर खड़ा होकर करना होगा। बुर्जुआ मानवतावादी अपीलें और धर्मनिरपेक्षता का राग अलापना कभी भी साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का मुक़ाबला नहीं कर पाया है और न ही कर पायेगा। सर्वहारा वर्ग चेतना की ज़मीन पर खड़ा होकर किया जाने वाला जुझारू और आक्रामक प्रचार ही इन विचारों के असर को तोड़ सकता है। हमें तमाम आर्थिक और सामाजिक दिक़्क़तों के स्रोत को आम जनता के सामने नंगा करना होगा और साम्प्रदायिक प्रचार के पीछे के असली इरादे पर से सभी नक़ाब नोच डालने होंगे। साथ ही, यह प्रचार करने वाले व्यक्तियों की असलियत को भी हमें जनता के बीच लाना होगा और बताना होगा कि उनका असली मक़सद क्या है। धार्मिक कट्टरपन्थी फ़ासीवाद का मुक़ाबला इसी ज़मीन पर खड़े होकर किया जा सकता है। वर्ग निरपेक्ष धर्म निरपेक्षता और 'मज़हब नहीं सिखाता' जैसी शेरो-शायरी का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

5) फ़ासीवाद सत्ता में हो या कभी सत्ता में रह चुका हो, तो उसकी सच्चाई को जनता के सामने उजागर करना अधिक आसान होता है। भाजपा के नेतृत्व में छह वर्ष तक राजग सरकार के चलने से वे काम हो गये जो सामान्य परिस्थितियों में करने पर किसी क्रान्तिकारी ताक़त को दुगुना वक़्त लगता है। सत्ता में आते ही फ़ासीवादियों का धनलोलुप, पतित, चरित्रहीन, सत्ता-लोलुप, कुर्सी-प्रेमी, अनैतिक चरित्र सामने आने लगता है और उनके चेहरे पर से धार्मिक पावनता, नैतिकता और अनुशासन का सारा नक़ाब चिथड़ा हो जाता है। क्रान्तिकारी ताक़तों को इस कारक का पूरा इस्तेमाल करना चाहिए और जनता के हर हिस्से में फ़ासीवादियों के भ्रष्टाचार, अनैतिकता, पतन और धनलोलुपता को जमकर निशाना बनाना चाहिए और उनका भण्डाफोड़ करना चाहिए। ऐसा प्रचार निरन्तरता के साथ लम्बे समय तक चलाया जाना चाहिए। इससे हम उनकी विश्वसनीयता को प्राणान्तक चोट पहुँचा सकते हैं। यह बेहद ज़रूरी है कि फ़ासीवादियों को जनता के बीच किसी भी रूप में पैर न जमाने दिया जाये। इस मक़सद में यह प्रचार बहुत बड़ी भूमिका निभाएगा। इनका राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति का दावा भी इसी प्रचार के ज़रिये सबसे ज़्यादा नंगा होता है। चूँकि फ़ासीवादी उभार अक्सर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की शक्ल में आता है इसलिए इनके देशद्रोही चरित्र और देश-विरोधी नीतियों का पर्दाफाश करना सबसे अहम है। उन्हें वहाँ मारो जहाँ उन्हें सबसे ज़्यादा चोट लगती है। मिसाल के तौर पर, आज़ादी के आन्दोलन में और आपातकाल के दौरान संघ की भूमिका, 84 के सिख विरोधी दंगों के दौरान हाफ़पैण्टियों की भूमिका, कारगिल युद्ध के बाद हुए ताबूत घोटाला, सेना के लिए शस्त्रों की ख़रीद में दलाली का

घोटाला, बंगारू लक्ष्मण और दिलीप सिंह जूदेव जैसे संघियों का कैमरे पर घूस लेते हुए पकड़े जाना, आदि को जनता के सामने पेश किया जाना चाहिए और इनकी नकली और फ़र्जी देशभक्ति का भण्डाफोड़ किया जाना चाहिए। इससे ज़्यादा चोट उन्हें कोई और चीज़ नहीं पहुँचा सकती।

6) फ़ासीवाद अपने सामाजिक अवलम्बों में जिन वर्गों को अपनी पेशीय शक्ति के रूप में भ्रष्ट करता है वे हैं आर्थिक और क्षेत्रीय रूप से पूँजीवादी विकास के कारण उजड़े हुए वर्ग। क्रान्तिकारी पार्टी को इन वर्गों को संगठित करने का प्रयास एकदम शुरू से कर देना चाहिए और उनके बीच शुरू से ही पूँजीवाद-विरोधी राजनीतिक प्रचार करना चाहिए। उन्हें पहले क़दम से ही यह दिखलाना होगा कि उनके उजड़ने, उनके जीवन की असुरक्षा और अनिश्चितता और दर-बदर होने के लिए और कोई नहीं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था ज़िम्मेदार है। उन्हें बताना होगा कि यह व्यवस्था और कुछ कर भी नहीं सकती है। ऐसे वर्गों में लम्पट सर्वहारा वर्ग, असंगठित और अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाला सर्वहारा वर्ग, शहरी निम्न मध्यवर्गीय बेरोज़गार और अर्द्ध-बेरोज़गार, गाँवों में उजड़े हुए या उजड़ते हुए ग़रीब किसान आदि प्रमुख हैं।

7) लेनिन ने बहुत पहले बताया था कि फ़ासीवाद और प्रतिक्रियावाद दस में से नौ बार जातीयतावादी, नस्लवादी, साम्प्रदायिकतावादी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चोला पहनकर आता है। वैसे तो हमें शुरू से ही बुर्जुआ राष्ट्रवाद के हर संस्करण का पुरजोर विरोध करना चाहिए, लेकिन ख़ास तौर पर फ़ासीवादी प्रजाति का सांस्कृतिक अन्धराष्ट्रवाद मज़दूर वर्ग के सबसे बड़े शत्रुओं में से एक है। हमें हर क़दम पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, प्राचीन हिन्दू राष्ट्र के गौरव के हर मिथक और झूठ का विरोध करना होगा और उसे जनता की निगाह में खण्डित करना होगा। इसमें हमें इन सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों की जन्मकुण्डली से विशेष सहायता मिलेगी। निरपवाद रूप से अन्धराष्ट्रवाद का जुनून फैलाने में लगे सभी फ़ासीवादी प्रचारक और उनके संगठनों का काला इतिहास होता है जो ग़द्दारियों, भ्रष्टाचार और पतन की मिसालें पेश करता है। हमें बस इस इतिहास को खोलकर जनता के सामने रख देना है और उनके बीच यह सवाल खड़ा करना है कि यह "राष्ट्र" कौन है जिसकी बात फ़ासीवादी कर रहे हैं? वे कैसा राष्ट्र स्थापित करना चाहते हैं? और किसके हित में और किसके हित की कीमत पर? “राष्ट्रवाद” के नारे और विचारधारा का निर्मम विखण्डन – इसके बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। राष्ट्र की जगह हमें वर्ग की चेतना को स्थापित करना होगा। बुर्जुआ राष्ट्रवाद की हर प्रजाति के लिए "राष्ट्र" बुर्जुआ वर्ग और उसके हित होते हैं। मजदूर वर्ग को हाड़ गलाकर इस "राष्ट्र" की उन्नति के लिए खपना होता है। इसके अतिरिक्त कुछ भी सोचना राष्ट्र-विरोधी है। राष्ट्रवाद मज़दूरों के बीच छद्म गर्व-बोध पैदा कर उनकी वर्ग चेतना को कुन्द करने का एक पूँजीवादी उपकरण है और इस रूप में उसे बेनक़ाब करना बेहद ज़रूरी है। यह न सिर्फ़ मज़दूरों के बीच किया जाना चाहिए, बल्कि हर उस वर्ग के बीच किया जाना चाहिए जिसे भावी समाजवादी क्रान्ति के मित्र के रूप में गोलबन्द किया जाना है।

8) सामाजिक जनवादी और संशोधनवादी मज़दूर आन्दोलन में सर्वहारा वर्ग चेतना को कुन्द करने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। वे वर्ग संघर्ष की बजाय वर्ग सहयोग की कार्यदिशा को आन्दोलन के बीच पैठाने का काम करते हैं, हालाँकि बौद्धिक विमर्शों में वे भी वर्ग संघर्ष की बातें करते हैं। मज़दूरों को वर्ग सहयोग का उपदेश देते हुए पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य ने कुछ समय पहले कहा था कि हमें समझ लेना चाहिए कि वह दौर अब चला गया जब रूस या चीन की तरह हिंसक तरीक़े से क्रान्ति हो सके। मज़दूर वर्ग को पूँजीपति वर्ग के साथ सहयोग के दृष्टिकोण को लागू करना चाहिए। उद्योग की उन्नति में ही दोनों वर्गों का हित है। यहाँ पर बुद्धदेव भट्टाचार्य ने लगभग-लगभग शब्दशः वही बात कही थी जो एक जर्मन सामाजिक-जनवादी नेता ने कही थी। कार्ल लीज़न ने उद्योगपतियों से समझौते के समय कमोबेश यही बात जर्मनी में कही थी। कार्ल लीज़न जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी के एक नेता थे। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को वर्ग सहयोग के ऐसे हर प्रयास को बेनक़ाब करना चाहिए और संशोधनवादियों की असलियत को मज़दूरों के सामने उघाड़कर रख देना चाहिए। उन्हें मज़दूर वर्ग को समझाना होगा कि श्रम और पूँजी की शक्तियों के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता। ऐतिहासिक तौर पर ये दोनों अन्तरविरोधी ताक़तें हैं और इतिहास ने उनके सामने एक ही विकल्प रखा है- संघर्ष, और इस संघर्ष में अन्ततः विजय श्रम की शक्तियों की होनी है।

9) हम कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को पूँजीवादी विकास के मौजूदा दौर में अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों पर विशेष रूप से ज़ोर देना होगा। आज भारत के मज़दूर वर्ग का 90 फ़ीसदी से भी अधिक हिस्सा असंगठित क्षेत्र में आता संगठित मजदूरों की बड़ी आबादी सफ़ेद कॉलर के मज़दूरों में तब्दील हो रही है। यह आबादी अपने आपको मज़दूर के बजाय कर्मचारी कहलवाना पसन्द करती है और इसका बड़ा हिस्सा या तो संशोधनवादी ट्रेड यूनियनों का हिस्सा बन चुका है या फिर फ़ासीवादी भारतीय मज़दूर संघ का, जो अब भारत की सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन है।

अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के बीच फ़ासीवादी ताकतें लगातार सुधार की गतिविधियों और कीर्तन-जागरण आदि जैसे धार्मिक क्रियाकलापों के जरिये आधार बनाने का प्रयास कर रही हैं। इस आबादी के फ़ासीवादीकरण के लिए उनके बीच सेवा भारती आदि जैसे उपक्रम चलाए जा रहे हैं और उन्हें भ्रष्ट करने की कोशिश की जा रही है। यह सही है कि मज़दूर आबादी के इस हिस्से का फ़ासीवादीकरण सबसे मुश्किल है लेकिन फिर भी हमें निरन्तरता के साथ इस आबादी को संगठित करने का प्रयास सबसे पहले करना होगा। वैसे भी असंगठित मज़दूर कुल मज़दूर आबादी की बहुसंख्या का निर्माण करते हैं, इसलिए हमें उनके इलाक़ाई संगठन बनाने, उनके बीच बच्चों के लिए स्कूल खोलने, सुधार की कार्रवाइयाँ करने और उनके बीच अदम्य और शक्तिशाली सामाजिक आधार बनाने की कार्रवाइयाँ करनी चाहिए। उनके बीच हमें निरन्तर, व्यापक और सघन राजनीतिक प्रचार करना होगा। पुराने असंगठित मज़दूर वर्ग की तरह इस नये असंगठित मज़दूर वर्ग में वर्ग चेतना का अभाव नहीं है, बल्कि घुमन्तू मज़दूर होने के कारण यह पूरे पूँजीपति वर्ग को अपने दुश्मन के तौर पर देखता

है और संगठित होने की सम्भावना से सम्पन्न है। दूसरी बात यह है कि इस मज़दूर वर्ग का बड़ा हिस्सा युवा है जो हमारे लिए एक अच्छी बात है। इसी हिस्से के बीच से हम मज़दूर वर्ग के सबसे जुझारू संगठन बना सकते हैं और हमें बनाने होंगे। ज़ाहिर है कि असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के बीच कारखाना आधारित ट्रेड यूनियनें नहीं बन सकती हैं। इसलिए उनके बीच हमें इलाक़ाई ट्रेड यूनियनें बनानी चाहिए। ट्रेड यूनियन के अतिरिक्त, इलाक़ाई पैमाने के जुझारू लड़ाकू संगठन खड़े किये जाने चाहिए। जिस प्रकार जर्मनी में कारखानों में फ़ैक्ट्री ब्रिगेडें बनायी गयी थीं, उसी 73 प्रकार हमें असंगठित मज़दूरों के रिहायशी इलाक़ों में ऐसे लड़ाकू संगठन खड़े करने चाहिए, जो उनकी ट्रेड यूनियन से अलग हों। ट्रेड यूनियनों का एक विशेष काम होता है और उन्हें उसी काम के लिए उपयोग में लाया जाना चाहिए। फ़ासीवादी हमलों को नाकाम करने के लिए मज़दूर वर्ग के अपने अलग लड़ाकू-जुझारू संगठन होने चाहिए।

10) फ़ासीवाद की कार्यनीति की एक ख़ास बात यह होती है कि अपने राजनीतिक और सांगठनिक हितों की पूर्ति तथा अपने दुश्मनों के सफाए के लिए यह आतंक की रणनीति का इस्तेमाल करता है। जर्मनी और इटली की ही तरह भारत के फ़ासीवादियों ने भी बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद और वनवासी कल्याण आश्रम के नाम पर अपने आतंक समूह बना रखे हैं। ये आतंक समूह बुर्जुआ राज्य के उपकरणों के दायरे से बाहर बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही को लागू करने का काम करते हैं। मजदूर नेताओं, ट्रेड यूनियन नेताओं, कम्युनिस्टों, उदारपन्थियों पर हमले और उनकी हत्याओं का इतिहास भारत में भी मौजूद है। हड़तालों को तोड़ने के लिए ऐसे आतंक समूहों का इस्तेमाल फ़ासीवादियों ने भारत में भी किया है। महाराष्ट्र में हड़ताली मज़दूरों और उनके नेताओं पर शिवसेना की गुण्डा वाहिनियों के हमले को कौन भूल सकता है? हमें फासीवाद को विचारधारा और राजनीति में तो परास्त करना ही होगा, लेकिन साथ ही हमें उन्हें सड़क पर भी परास्त करना होगा। इसके लिए हमें मजदूरों के लड़ाकू और जुझारू संगठन बनाने होंगे। गौरतलब है कि जर्मनी के कम्युनिस्टों ने फ़ासीवादी गिरोहों से निपटने के लिए कारखाना ब्रिगेडें खड़ी की थीं, जो सड़क पर फ़ासीवादी गुण्डों के हमलों का जवाब देने और उन्हें सबक सिखाने का काम कारगर तरीके से करती थीं। बाद में यह प्रयोग आगे नहीं बढ़ सका और फ़ासीवादियों ने जर्मनी में अपनी सत्ता क़ायम कर ली। मज़दूर वर्ग का बड़ा हिस्सा वहाँ अभी भी सामाजिक जनवादियों के प्रभाव में ही था और क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की पकड़ उतनी मज़बूत नहीं हो पायी थी। लेकिन उस छोटे-से प्रयोग ने प्रदर्शित किया था कि फ़ासीवादी गुण्डों से सड़क पर ही निपटा जा सकता है। उनके साथ तर्क करने और वाद-विवाद करने की कोई गुंजाइश नहीं होती है। साम्प्रदायिक दंगों को रोकने और फ़ासीवादी हमलों को रोकने के लिए ऐसे ही दस्ते छात्र और युवा मोर्चे पर भी बनाये जाने चाहिए। छात्रों-युवाओं को ऐसे हमलों से निपटने के लिए आत्मरक्षा और जनरक्षा हेतु शारीरिक प्रशिक्षण और मार्शल आर्ट्स का प्रशिक्षण देने का काम क्रान्तिकारी छात्र-युवा संगठनों को करना चाहिए। उन्हें स्पोर्ट्स क्लब, जिम, मनोरंजन क्लब आदि जैसी संस्थाएँ

खड़ी करनी चाहिए, जहाँ राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण और तार्किकता व वैज्ञानिकता के प्रसार का काम भी किया जाये।

11) हमें उदारवादी बुर्जुआ राज्य को लेकर जनता में मौजूद सभी विभ्रमों को खण्डित करने का काम करना होगा। हमें दिखाना होगा कि किस प्रकार पूँजीवाद की नैसर्गिक गति के कारण उदारवादी या कल्याणकारी बुर्जुआ राज्य की नियति में ढह जाना ही लिखा है। इसकी नैसर्गिक गति पतन की तरफ़ होती है। फ़ासीवाद पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और राजसत्ता के ढहने और पतन की सूरत में ही पैदा होता है। वही स्थिति जो क्रान्तिकारी सम्भावना को जन्म देती है, प्रतिक्रियावादी सम्भावना को भी जन्म देती है। हमें हर सम्भव मौक़े पर उदारवादी पूँजीवाद की असलियत को जनता के सामने नंगा करते हुए बताना होगा कि यह जनता को कुछ नहीं दे सकता और यह लगातार संकट के दलदल में धँसता जायेगा तथा इससे मिलने वाले श्रम अधिकार, जनवादी अधिकार, नागरिक अधिकार लगातार ख़त्म होते जायेंगे।

12) हमें जनवादी, नागरिक व मानव अधिकारों के क्षरण और पतन के खिलाफ़ अपने नागरिक जनवादी अधिकार संगठनों के ज़रिये संघर्ष करना होगा। हालाँकि, हम जानते हैं कि यह एक हारी हुई लड़ाई होती है, लेकिन इसी हारी हुई लड़ाई को हम अपनी लम्बी लडाई में जीत का एक उपकरण बना सकते हैं। हमें इन अधिकारों के हनन और सिकुड़ते जनवादी स्पेस पर जनता के बीच लगातार प्रचार करना चाहिए और ख़ास तौर पर शिक्षित शहरी मध्य वर्ग के बीच यह प्रचार करना चाहिए। इसके जरिये हमें पूरे पूँजीवादी जनवाद की असलियत को जनता के सामने बेनक़ाब करना चाहिए और इससे बेहतर और ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील सर्वहारा जनवाद के विकल्प को पेश करना चाहिए। इसके अलावा, हमें श्रमिक अधिकारों के हनन और पतन पर भी लगातार संघर्ष और प्रचार करते हुए राज्य को मजबूर करना चाहिए कि वह श्रमिक अधिकारों की पूर्ति करे। इसके अतिरिक्त, हमें सभी अपूर्ण जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिए संघर्ष करना चाहिए। जिन देशों में पूँजीवाद किसी क्रान्ति के ज़रिये नहीं आया, उन सभी देशों में अपूर्ण जनवादी कार्यभारों की एक लम्बी सूची है। हमें इन अधिकारों के लिए संघर्ष करना चाहिए। इसके दो मक़सद हैं। एक तो यह पूँजीवादी राजसत्ता के 'ब्रीदिंग स्पेस' को घटाकर उसके लिए घुटन भरी स्थितियाँ पैदा करता है। दूसरा यह कि जनवादी कार्यभारों के पूरा होने के साथ समाज में तमाम वर्गों में प्रतिक्रिया का आधार कमज़ोर पड़ता है। यही कारण है कि अपूर्ण और अधूरे भूमि सुधारों को पूरा करना भी आम तौर पर क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की एक माँग बनता है। यह गाँवों में प्रतिक्रिया की ज़मीन को कमज़ोर करता है और वर्ग चेतना को उभारता है। लेकिन इस माँग की अहमियत तभी बनती है जबकि सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों की मौजूदगी मुख्य रूप से बनी हुई हो। लिहाज़ा, हमारे देश में इस माँग की बजाय साझी खेती का संघर्ष प्रमुख महत्व ग्रहण कर लेता है, जहाँ कि प्रशियाई पथ से हुए भूमि सुधारों ने उत्पादन सम्बन्धों के पूँजीवादी रूपान्तरण को प्रतिक्रियावादी स्वरूप में ही सही मगर कमोबेश पूरा कर दिया है।

यहाँ एक बात ग़ौर करने वाली यह है कि बुर्जुआ व्यवस्था के बीच जनवादी अधिकारों की लड़ाई को लेकर मज़दूर आन्दोलन में एक सर्वखण्डनवादी अराजकतावादी नज़रिया कभी-कभी प्रभावी हो जाता है और हम सिकुड़ते जनवादी स्पेस के ख़तरों को समझ नहीं पाते हैं। हमें लगता है कि कुछ ठोस वर्ग संघर्ष किया जाये; नागरिक व जनवादी अधिकारों पर हमले के खिलाफ़ संघर्ष हमें अप्रासंगिक-सा लगने लगता है। यह बहुत ख़तरनाक भटकाव है। हंगेरियाई कम्युनिस्ट जॉर्ज लुकाच ने इस प्रवृत्ति के खिलाफ़ अपनी 'ब्लम थीसिस' में आगाह किया था और इसे आत्मघाती बताया था। जनवादी स्पेस के सिकुड़ने के साथ मज़दूर वर्ग को गोलबन्द और संगठित करने का काम भी कठिन होता जाता है। लेनिन ने यूँ ही नहीं कहा था कि बुर्जुआ जनवाद सर्वहारा वर्ग के लिए सर्वश्रेष्ठ युद्धभूमि है। इसलिए मजदूर आन्दोलन को न सिर्फ श्रमिक अधिकारों पर हमले के खिलाफ लड़ना चाहिए, बल्कि उन्हें नागरिक व जनवादी अधिकारों पर हमले के खिलाफ भी लड़ना चाहिए। यह नागरिक पहचान पर उनका एक शक्तिशाली दावा भी होगा जो राजनीतिक संघर्ष को आगे ले जाने और मज़दूर वर्ग में राजनीतिक चेतना को विकसित करने का एक अहम क़दम होगा।

13) नात्सी पार्टी के उभार की व्याख्या करने के तमाम समकालीन प्रयासों ने 'हिटलर साइकोसिस', सामूहिक जन सम्मोहन, जनता की चेतना के दिग्भ्रमण आदि को जिम्मेदार ठहराया था। हमें लगता है कि यह व्याख्या अपर्याप्त है। आज विशेष तौर पर भारत जैसे देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह समझना चाहिए कि जन समुदायों की चेतना में पहले से ऐसे प्रतिक्रियावादी और पुनरुत्थानवादी तत्व मौजूद होते हैं जिन्हें आवर्धित करने का कार्य फ़ासीवादी प्रचार करता है। अगर जनसमुदायों की चेतना में ऐसा कोई तत्व न हो तो फ़ासीवादी प्रचार एक-दो या कुछ व्यक्तियों की चेतना का दिग्भ्रमण कर सकता है, समूचे वर्ग की चेतना का नहीं। आख़िर टटपुँजिया वर्ग अपने आर्थिक, राजनीतिक व भौतिक हितों के विरुद्ध फ़ासीवादी उभार की मुख्य जमीन क्यों बनते हैं? उनकी चेतना में ऐसा क्या है जो उन्हें फ़ासीवादी प्रचार के समक्ष अरक्षित बनाता है? कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह समझना चाहिए फ़ासीवादी उभार किसी छलयोजन या तिकड़म का परिणाम नहीं होता है। इसकी जमीन न सिर्फ आर्थिक और भौतिक तौर पर विशेष तौर पर टटपुँजिया वर्गों में और आम तौर पर व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों में मौजूद होती है, बल्कि यह सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक तौर पर भी इन वर्गों में मौजूद होती है। इसकी जड़ में विशेष तौर पर पितृसत्तात्मक संस्कृति व मूल्य होते हैं जो कि स्त्रियों और साथ ही पुरुषों की भी, नैसर्गिकता का दमन करते हैं, उन पर एक अनैसर्गिक नैतिकता व आचार को थोपने का काम करते हैं और उन्हें बाल्यावस्था से ही एक प्राधिकार-सम्पन्न पितृसत्ता के समक्ष समर्पण की आदत डलवाते हैं। यह पितृसत्ता इस समर्पण के बदले उन्हें आर्थिक, नैतिक व धार्मिक सुरक्षा देती है। समूचा बुर्जुआ परिवार इसी मूल तर्क पर आधारित होता है। ऐसे बुर्जुआ पितृसत्तात्मक परिवार का पालन-पोषण शुरू से ही व्यक्ति को प्राधिकार-सम्पन्न पितृसत्तात्मक शख़्सियत के समक्ष समर्पण करने के लिए प्रशिक्षित करता है। ऐसा व्यक्ति ही किसी 'फ़्यूहरर' या 'डचूस' के प्राधिकार को तत्परता से और अतार्किक तौर पर स्वीकार करने के लिए तैयार रहता है। जो

आर्थिक व भौतिक अन्तरविरोध अपने आपको स्वस्थ नैसर्गिक रूप में प्रकट नहीं करते, वे विकृत होकर सांस्कृतिक व नैतिक अन्तरविरोधों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को फ़ासीवादी उभार के लिए जमीन मुहैया कराने वाले वस्तुगत भौतिक कारकों में महज़ आर्थिक कारकों पर गौर नहीं करना चाहिए, बल्कि समझना चाहिए कि हमारे देश में पितृसत्ता और पितृसत्तात्मक बुर्जुआ परिवार किस रूप में विशेष तौर पर छोटे उत्पादकों के वर्ग व निम्न मध्य वर्ग में फ़ासीवादी उभार के अनुकूल चेतना निर्मित करता है, क्योंकि इन वर्गों में परिवार का आर्थिक महत्व व आर्थिक पंजी सर्वाधिक शक्तिशाली होता है, और यही कारण है कि इन्हीं वर्गों में पितृसत्ता सबसे व्यापक और सघन रूप में मौजूद होती है। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को इस पहलू का नज़दीकी से अध्ययन करना चाहिए ताकि वे इसके विरुद्ध प्रभावी सांस्कृतिक प्रचार व आन्दोलन संगठित कर सकें। लिहाज़ा, पितृसत्ता-विरोधी संघर्ष और स्त्रियों की मुक्ति का संघर्ष फ़ासीवाद-विरोधी संघर्ष में एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रचार को संगठित करते समय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को 'जनता से एकता के ज़रिये संघर्ष' के माओवादी जनदिशा के नारे को याद रखना चाहिए और कुलीन नारीवादी विमर्श से दूर रहना चाहिए। केवल इसी के ज़रिये यह मोर्चा जीता जा सकता है, भले ही इसमें वक़्त लगे।

14) भारत की विशेष परिप्रेक्ष्य में फ़ासीवाद-विरोधी लड़ाई का एक बेहद अहम मोर्चा है जाति-उन्मूलन का संघर्ष। हमारे देश में अतीत में भी और वर्तमान में भी फ़ासीवादी राजनीति एक ओर दलितों के दमन से भी क़रीबी से जुड़ती है, वहीं यह फ़ासीवादी राजनीति जाति उन्मूलन के आन्दोलन में हावी अस्मितावादी राजनीति और व्यवहारवादी अम्बेडकरवादी राजनीति का जमकर इस्तेमाल भी करती है। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति को न सिर्फ़ दलित व ग़रीब पिछड़ी जातियों के भीतर भारतीय फ़ासीवाद के ब्राह्मणवादी चरित्र को स्पष्ट करना चाहिए, बल्कि उसे अस्मितावादी राजनीति के जन-विरोधी चरित्र और साथ ही अम्बेडकरवादी व्यवहारवादी उदार बुर्जुआ राजनीति की गम्भीर सीमाओं और प्रतिगामी चरित्र को भी स्पष्ट करना चाहिए। इसके लिए हमें दलित मुक्ति व जाति उन्मूलन की एक वैज्ञानिक परियोजना तो लगातार पेश करनी ही होगी, मगर इसके साथ ही हमें हर शहर व गाँव की दलित बस्तियों में लम्बा, धैर्यपूर्ण और बिना तात्कालिक फल की कामना के किया जाने वाला राजनीतिक कार्य करना होगा। इसका सबसे अहम पहलू होगा लम्बा संस्थागत क्रान्तिकारी सुधार कार्य। सिर्फ़ विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार पर्याप्त नहीं होगा। यह तभी प्रभावी हो सकेगा जब कि कम्युनिस्ट ताक़तें दलित आबादी के बीच अपने सघन, व्यापक, दूरगामी और दीर्घकालिक सुधार कार्य से एक अभेद्य सामाजिक आधार पैदा करें। यह चीज हमें न सिर्फ फासीवादी ब्राह्मणवाद को बेनकाब करने में मदद करेगी, बल्कि इस राजनीतिक क्षेत्र से अस्मितावादी राजनीति और अम्बेडकरवादी सुधारवाद और व्यवहारवाद के सफ़ाये और जाति-उन्मूलन की एक क्रान्तिकारी कार्यदिशा को स्थापित करने में भी मदद करेगी।

15) हम अन्यत्र भी लिख चके हैं कि भारतीय समाज में संस्थागत क्रान्तिकारी रिहायशी इलाकों में अपने सुधार कार्यों, सांस्कृतिक प्रचार व शाखाओं आदि के जरिये अपना आधार

बनाया है। उन्होंने अपनी संस्थाएँ खड़ी की हैं जैसे कि स्कूल, सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र, पुस्तकालय आदि। ये चीजें वास्तव में फ़ासीवाद ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के समाजवादी आन्दोलन व क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन से ही सीखी थीं। लेकिन अफ़सोस की बात है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन स्वयं अपनी इस रणनीति को विस्मृत कर बैठा है। 1930 के दशक से लेकर 1970 के दशक के बीच जिस प्रकार के अर्थवाद और संघाधिपत्यवाद ने कम्युनिस्ट आन्दोलन व मजदूर आन्दोलन में जड़ें जमायीं, उसने कम्युनिस्ट शक्तियों को 78 कारखानों व वर्कशॉपों तक में सीमित कर दिया और रिहायशों को फ़ासीवादियों के लिए छोड़ दिया। क्या मुम्बई में मज़दूर आन्दोलन के ढहने और शिवसेना के उभार का एक प्रमुख कारण यह नहीं था कि शिवसेना ने रिहायशी क्षेत्रों में संस्थागत सुधार कार्यों के मोर्चे पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था? आज कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह समझना पड़ेगा कि कार्यस्थल की आर्थिक व राजनीतिक लड़ाइयों के साथ ही अगर उन्होंने समाज के व्यापक हिस्सों में इलाक़ाई सुधार कार्यों के ज़रिये अपना-अपना अभेद्य जनाधार तैयार नहीं किया तो उन्हें एक विकराल अस्तित्व की लड़ाई लड़नी पड़ेगी। आज कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ताक़तों को निम्न मध्यवर्गीय बस्तियों, कॉलोनियों व रिहायशों में और साथ ही मज़दूर बस्तियों में व्यापक और सघन राजनीतिक सुधार कार्य करना होगा; उन्हें स्कूल, अस्पताल, क्लिनिक, शव-वहन सेवा, रियायती कोचिंग सेण्टर से लेकर यूथ क्लब, स्पोर्ट्स क्लब, पुस्तकालय आदि तक खोलने होंगे। इस प्रकार संस्था-निर्माण के ज़रिये ही आज कम्युनिस्ट शक्तियाँ फ़ासीवाद को टक्कर दे सकती हैं। केवल इस प्रकार के राजनीतिक व संस्थागत सुधार कार्य के ज़रिये ही कम्युनिस्ट शक्तियाँ समाज में अपने जनाधार को सघन और व्यापक रूप में निर्मित कर सकती हैं। ये ही जनाधार कम्युनिस्ट शक्तियों के रक्षा के दुर्ग भी बनेंगे और साथ ही उनके 'ऑफेंसिव' की ज़मीन भी बनेंगे।

पश्चलेख

यह पुस्तिका 2009 में कांग्रेस-नीत 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' की अप्रत्याशित चुनावी जीत के ठीक बाद लिखी गयी थी। तब संसदीय वामपंथियों और संशोधनवादियों समेत क्रान्तिकारी वाम का भी एक हिस्सा इस बात पर जश्न मना रहा था कि भाजपा की चुनावों में भारी हार हुई थी। कई तो इसे फासीवाद की निर्णायक पराजय भी क़रार दे रहे थे! इस तरह के दावे केवल यही दिखला रहे थे कि एक मज़दूर-विरोधी राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन के तौर पर फासीवाद की उनकी समझदारी कितनी दरिद्र है। हमने तब भी लिखा था कि चुनावी पराजय को फासीवाद की पराजय मानना एक भारी भूल है। और सर्वहारा वर्ग के प्रतिरोध की रणनीति को बनाने के लिए ऐसी सोच विशेष तौर पर नुकसानदेह है। इसके कई कारण हैं।

पहली बात तो यह है कि एकाधिकारी पूँजीवाद के दौर में पूँजीवादी आर्थिक 'जनवाद' के ख़त्म होने के साथ राजनीतिक बुर्जुआ जनवाद का भी क्षरण होता है; **ऐसे में, तथाकथित उदार व 'सेक्युलर' बुर्जुआ शक्तियाँ भी सत्ता में होने पर मज़दूर वर्ग के लिए कमोबेश उतनी ही दमनकारी सिद्ध होती हैं, जितनी के फासीवादी बुर्जुआ ताक़तें और यही कारण है कि भाजपा की हार पर आनन्दातिरेक में जाने का कोई विशेष कारण नहीं था।** यह बात 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' के एक दशक के शासन में सिद्ध भी हुई जब मज़दूर-विरोधी और कम्युनिज़्म-विरोधी दमनकारी कानूनों जैसे कि 'आतंकवाद-निरोधक कानून' के पारित होने के साथ-साथ 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' और सलवा जुडूम जैसी कुत्सित मुहिमें और प्रयास भी हुए। **निश्चित तौर पर, इसका यह अर्थ नहीं है कि हम फासीवादी बुर्जुआ पार्टियों, जैसे कि भाजपा, शिवसेना आदि में और अन्य बुर्जुआ पार्टियों में कोई फ़र्क नहीं करते।** कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन दोनों में गहरा फर्क है और सत्ता में आने पर ये दो भिन्न प्रकार की बुर्जुआ राज्यसत्ताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेकिन इतना निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि अन्य 'उदार' बुर्जुआ पार्टियों में भी आज के एकाधिकारी पूँजीवाद के चरण में कोई विशेष जनवादी सम्भावना शेष नहीं रह गयी है।

दूसरी बात जो ग़ौर करने लायक है वह यह कि आज के अभूतपूर्व रूप से मानवद्रोही, पतनशील और परजीवी पूँजीवाद के दौर में फासीवाद के सत्ता में रहने या न रहने से उसके अस्तित्व पर परिमाणात्मक रूप में ही असर पड़ता है। हालाँकि यह बात पहले भी एक हद तक लागू होती थी मगर आज के दौर में यह बात पहले हमेशा से ज़्यादा लागू होती है, जबकि फासीवाद वैश्विक संकट के ज़्यादा संरचनागत बनने के साथ पतनशील बुर्जुआ समाज की एक स्थायी और ढाँचागत परिघटना बन चुका है। फासीवादी शक्तियों का जीवित रहना या उनकी सतत् मौजूदगी आज पूँजीवादी व्यवस्था की एक अपरिहार्यता है। वैश्विक संकट के दौर में मज़दूर आन्दोलनों के सरकारी दमन के अलावा ग़ैर-सरकारी

दमन और आतंक की रणनीति का शासक वर्गों के लिए एक भारी महत्व है। ऐसे में, शासक वर्ग विशेष तौर पर फासीवाद को 'ज़ंजीर से बँधे कुत्ते' के समान इस्तेमाल करता है और पहले से भिन्न उसे इस कुत्ते की ज़रूरत अब लगभग हर वक़्त है। यह अकारण नहीं है कि कांग्रेस के शासन-काल के दौरान भी हिन्दुत्ववादी आतंकवाद पर कोई सख़्त कार्रवाई नहीं की गयी; भोंसले सैन्य विद्यालय से लेकर संघ परिवार की तमाम संस्थाओं को खुलेआम चलते रहने की इजाज़त दी गयी; संक्षेप में कहें तो कांग्रेस या संयुक्त मोर्चे जैसे चुनावी गठबन्धनों की सरकार ने भी संघ परिवार के घृणित षडयन्त्रों, दंगे फैलाने, हिन्दुत्ववादी आतंकवाद को शह देने आदि जैसी हरक़तों पर कभी भी प्रभावी ढंग से लगाम नहीं कसी। इसका कारण कोई अज्ञान या उपेक्षा के कारण हुई ग़लती नहीं थी। बल्कि यह भारतीय शासक वर्गों की एक सुचिन्तित नीति रही है। मुम्बई में शिवसेना के उभार की कहानी एक मिसाल है। जब शिवसेना सत्ता में नहीं भी थी तो उसे मुम्बई के मज़दूर आन्दोलन को कुचलने के लिए एक गुण्डा शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया गया जो कि आतंक की रणनीति अपना कर मज़दूर आन्दोलन पर प्राणान्तक चोट करती रही। यह एक दीगर बात है कि इसका वामपंथी शक्तियों ने संशोधनवाद और सुधारवाद का शिकार होने के कारण कभी कोई अर्थपूर्ण प्रतिरोध ही नहीं किया। बहरहाल, अगर भारतीय इतिहास पर एक सरसरी निगाह भी डाली जाये तो साफ़ हो जाता है कि फासीवादी ताक़तें सत्ता में रहें या न रहें, शासक वर्गों ने हमेशा उनका मज़दूर वर्ग के आन्दोलन पर चोट के लिए इस्तेमाल किया है। फासीवाद मज़दूर वर्ग का सबसे बड़ा शत्रु है और वह सत्ता के अन्दर और बाहर से मज़दूर आन्दोलन पर हमेशा हमले करता रहा है और करता रहेगा। यह बात भी उतनी ही सच है कि किसी भी किस्म का नेहरू-ब्राण्ड मानवतावाद, सर्वधर्म सम्भाव, 'सेक्युलरिज़्म' या उदारपंथ इस शक्ति का मुकाबला नहीं कर सकता है। साथ ही, माकपा-भाकपा जैसी संशोधनवादी पार्टियों के प्रतीकवादी शोर-शराबे से भी फासीवाद की सेहत पर कोई असर नहीं पड़ने वाला है। **फासीवाद की कब्र खोदने का काम मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी और उसके क्रान्तिकारी आन्दोलन के ज़रिये ही हो सकता है और हम यह बात महज़ किसी उद्वेलनात्मक जुमले के रूप में नहीं कह रहे हैं बल्कि इसके निश्चित ऐतिहासिक राजनीतिक कारण हैं।**

आज नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा की सरकार (कहने के लिए 'राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन' की सरकार) सत्ता में है। इसने सत्ता में आने के एक वर्ष के भीतर ही अपने इरादे और मंसूबे साफ़ कर दिये हैं। मोदी सरकार ने जो सबसे पहले कदम उठाये हैं उन पर एक निगाह डाली जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि मज़दूर वर्ग के बचे-खुचे श्रम अधिकार, उसका ट्रेड यूनियन आन्दोलन और उसका क्रान्तिकारी आन्दोलन इस सरकार के एजेण्डे पर पहला निशाना हैं। यही कारण है कि मोदी सरकार ने आते ही कारखाना अधिनियम, औद्योगिक विवाद अधिनियम, ट्रेड यूनियन अधिनियम, अप्रेण्टिस कानून आदि में बदलाव करने का एलान कर दिया। यह प्रक्रिया गुजरात और राजस्थान की भाजपा सरकार ने तो पहले ही शुरू कर दी थी और अब मोदी सरकार इसे राष्ट्रीय पैमाने पर अंजाम दे रही है।

इन कानूनों में बदलाव का अर्थ होगा मज़दूर वर्ग के बचे-खुचे श्रम अधिकारों का ख़ात्मा और संकट से बिलबिलाये देशी-विदेशी पूँजीपतियों को देश की श्रमशक्ति का बेरोक-टोक दोहन करने की आज़ादी। हर जगह मज़दूर आन्दोलन का पुरज़ोर दमन करने के लिए राज्यसत्ता की दमनकारी मशीनरी को खुली छूट दी जा रही है और उसे पहले से अधिक चाक-चौबन्द और प्रभावी बनाया जा रहा है। इसके अलावा, मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को भीतर से कमज़ोर बनाने के लिए एक मिथ्या शत्रु का निर्माण किया जा रहा है। विशेष तौर पर हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान व दिल्ली के क्षेत्रों में (जो कि संघ परिवार के कमज़ोरी के क्षेत्र रहे हैं) में शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे पैमाने के दंगे फैलाने के प्रयास किये जा रहे हैं।

इसके अलावा, टटपुँजिया वर्गों के बीच हिन्दुत्ववादी फासीवाद का आधार तैयार करने के लिए शिक्षा व संस्कृति के तमाम संस्थानों और क्षेत्रों का भगवाकरण करने की मुहिम को फासीवादी पुरज़ोर तरीके से चला रहे हैं। स्कूली पाठ्यक्रमों को बदलने से लेकर सामाजिक विज्ञान के अनुसंधान संस्थानों और कला, नाटक व फिल्म आदि के संस्थानों में भगवा ब्रिगेड के बर्बरों को मुखिया बनाने तक, मोदी सरकार वाकई 24 घण्टे काम कर रही है! इसके अलावा, मीडिया में अभूतपूर्व पैमाने पर इज़ारेदारीकरण के साथ तमाम समाचार चैनलों व अन्य मनोरंजन चैनलों को, पहले हमेशा से ज़्यादा, फासीवादी भोंपुओं के समान इस्तेमाल किया जा रहा है। विदेश नीति में भी मोदी सरकार ने ज़्यादा स्पष्टता के साथ साम्राज्यवादी ताक़तों के साथ अपनी पक्षधरता को ज़ाहिर किया है और साथ ही अपने मोलभाव की क्षमता को भी उसने पुरज़ोर तरीके से रेखांकित किया है। हाल ही में गाज़ा में इज़रायल द्वारा एक वर्ष पहले किये गये बर्बर नरसंहार के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र में पारित होने वाले प्रस्ताव में भारत ने वोट नहीं डाला। इज़रायल के पक्ष में इतने खुले तौर पर झुकने की घटना विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य है। संक्षेप में, मोदी सरकार ने एक वर्ष के भीतर ही अपना मज़दूर-विरोधी फासीवादी रवैया स्पष्ट कर दिया है।

जो एक चीज़ मोदी सरकार के लिए सिरदर्द का सबब है वह यह है कि काफ़ी लम्बे इन्तज़ार के बाद जब भाजपाइयों को सरकार बनाने का अवसर मिला है तो भ्रष्टाचार, घूसखोरी, काली कमाई करने के मामले में वे नियन्त्रण खो बैठे हैं। वसुन्धरा राजे, सुषमा स्वराज, पंकजा मुण्डे, शिवराज सिंह चौहान, तावड़े, रमन सिंह आदि जैसे बड़े भाजपा नेता नग्न तौर पर भ्रष्टाचार और कॉरपोरेट घरानों की ग़ैर-कानूनी तरीके से सेवा करने में नंगे तौर पर लिप्त पाये गये हैं। यहाँ तक कि नरेन्द्र मोदी तक का नाम ललित मोदी काण्ड में सामने आया है! मोदी ने फासीवादी सौन्दर्यीकरण के ज़रिये अपनी जो एक लोकरंजक शैली विकसित की थी, इन खुलासों के कारण वह भी लोगों में मज़ाक का विषय बन गयी है! **फासीवादी अतिमानव को जिस प्रकार का आभा-मण्डल कायम रखना पड़ता है, उसमें मोदी को काफ़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ रहा है!** मगर फिर भी महज़ इस पहलू के कारण अगर कोई मौजूदा सरकार के फासीवादी 'क्रेडेंशियल' पर शक़ करे तो उसे राजनीतिक नौसिखुआ ही कहा जायेगा! संक्षेप में, इस बात में कोई शक़ नहीं है कि मोदी सरकार

स्पष्टतः एक फासीवादी सरकार है और अगर उसके नेतृत्व, नीतियों, विचारधारा और कार्यपद्धति को देखा जाये तो यह बात साफ़ हो जाती है।

लेकिन सिर्फ़ इतना कहने से बात ख़त्म नहीं हो जाती। हमने 2009 में लिखित इस पुस्तिका में फासीवादी उभार के आम कारणों और उसकी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं के बारे में लिखा था; हमने फासीवादी उभार के सामाजिक आधार का वर्ग विश्लेषण किया था; साथ ही, हमने फासीवादी उभार से लड़ने की सम्भावित मज़दूर वर्गीय रणनीति पर भी संक्षेप में चर्चा की थी। इसके अलावा हमने जर्मनी और इटली में फासीवादी उभार और साथ ही भारत में फासीवादी आन्दोलन के इतिहास का संक्षिप्त विवरण भी पेश किया था। मगर इतना ही काफ़ी नहीं है। इसके साथ ही यह भी ज़रूरी है कि हम कुछ अन्य सवालों पर भी सोचें, मसलन, बीसवीं सदी में जर्मनी, इटली व कुछ अन्य देशों जैसे कि पुर्तगाल और हंगरी में फासीवादी व अर्द्धफासीवादी सत्ताओं और साथ ही अन्य कई देशों में फासीवादी पार्टियों व राजनीति के चरित्र और आज के दौर में फासीवादी सत्ताओं और राजनीति के चरित्र में क्या हम कोई फर्क कर सकते हैं? **क्या पूँजीवादी संकट के बदलते चरित्र के साथ फासीवाद की परिघटना के स्वरूप में भी बदलाव आया है? क्या इन बदलावों के मद्देनज़र सर्वहारा वर्ग को अपनी रणनीति में भी कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता है?** लेकिन शुरुआत हम इस सवाल से करेंगे कि मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद भारत में भगवा गिरोह की कार्यशैली में क्या बदलाव आये हैं और इस पर हमारा रुख़ क्या होना चाहिए।

फासीवादी मोदी सरकार की मज़दूर-विरोधी रणनीति क्या है?

16 मई 2014 को सत्ता में आने के बाद नरेन्द्र मोदी की सरकार की रणनीति को समझना न सिर्फ दूरगामी तौर पर बल्कि तात्कालिक तौर पर भी मज़दूर वर्ग के लिए अहम है। मोदी सरकार एक ऐसे समय में सत्ता में आयी जबकि पूँजीपति वर्ग दुनिया भर में और हमारे देश में भी आर्थिक संकट से बेहाल है। इस अभूतपूर्व वैश्विक संकट के केन्द्र अभी भारत और चीन जैसे देश नहीं बने हैं, बल्कि अमेरिका और यूरोप हैं। लेकिन इस संकट का गुरुत्व केन्द्र तेज़ी से पूर्व की ओर स्थानान्तरित हो रहा है और कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी अगर यह दशक ख़त्म होते-होते भारत व चीन जैसी "उभरती अर्थव्यवस्थाएँ" इस संकट का केन्द्र बन जायें। लेकिन अभी भी ये अर्थव्यवस्थाएँ संकट से अछूती नहीं हैं और उसका असर यहाँ भी महसूस किया जा रहा है। और चिन्ता की बात यह है कि यह संकट निरन्तर बढ़ रहा है। यह अति-उत्पादन और अति-संचय का संकट है जो कि पूँजीवादी व्यवस्था में नियमित अन्तरालों पर आता रहता है। अब तो वास्तव में आर्थिक मन्दी व्यवस्था की एक स्थायी परिघटना बन गयी है जो कि बीच-बीच में भयंकर संकटों में तब्दील होती रहती है। इस पूरी प्रक्रिया की एक चर्चा हमने इस पुस्तिका में 2009 में ही की थी, जबकि अभी नयी वैश्विक महामन्दी विश्व के विभिन्न हिस्सों को अपनी गिरफ्त में लेने की प्रक्रिया में थी। लेकिन विश्व पूँजीवाद वित्तीय सट्टेबाज़ पूँजी के ज़रिये आवास उद्योग में पैदा किये गये

बुलबुले के कारण 'तेज़ी' का जो दौर देख रहा था, वह निर्णायक रूप से खत्म हो चुका था। 2007 में अमेरिका में सबप्राइम ऋण संकट की शुरुआत के साथ एक महामन्दी की शुरुआत हुई, जो कि अब 1930 के दशक की महामन्दी से भी ज़्यादा ढाँचागत, गहरी और गम्भीर साबित हो रही है।

अपने इस असमाधेय संकट से निपटने के लिए दुनिया के तमाम देशों में पूँजीपति वर्ग सबसे प्रतिक्रियावादी, दक्षिणपंथी, मज़दूर-विरोधी और फासीवादी सरकारों को चुन रहे हैं। चाहें वह ब्रिटेन में डेविड कैमरून हों, ऑस्ट्रेलिया में टोनी एबट या फिर थाईलैण्ड में सैनिक तानाशाही की स्थापना हो, हम देख सकते हैं कि आर्थिक संकट के भँवर में फँसा पूँजीपति वर्ग अधिकतर देशों में किसी धुर दक्षिणपंथी या फासीवादी विकल्प को चुन रहा है। भारत में नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने को भी इस पूरी वैश्विक परिघटना के एक अंग के तौर पर देखा जाना चाहिए, हालाँकि हर देश में इस आम रुझान की अपनी विशिष्टताएँ हैं। लेकिन सत्ता में आने के पहले और सत्ता में आने के बाद फासीवाद की ठोस रणनीति में कुछ परिवर्तन आते हैं, हालाँकि उसकी राजनीति और विचारधारा वही होती है। साथ ही आज के दौर में फासीवाद की रणनीति में परिवर्तन आने के कुछ ऐतिहासिक कारण भी हैं, जिनकी हम आगे चर्चा करेंगे।

सरकार में आने से पहले हिन्दुत्ववादी फासीवादी ताक़तें देश में 'लव जिहाद', 'घर वापसी' जैसी जनविरोधी मुहिमें और साथ ही साम्प्रदायिक दंगे आयोजित करवाने का काम खुले तौर पर कर रही थीं और भाजपा का मुख्य नेतृत्व भी इस पर या तो चुप्पी साधे रहता था या फिर उसके समर्थन में बोलता था। **सरकार बनाने के बाद इस रणनीति में थोड़ा परिवर्तन हुआ है।** अब नरेन्द्र मोदी सामान्य तौर पर साम्प्रदायिकता पर या तो चुप रहते हैं या फिर उसकी निन्दा करते नज़र आते हैं। मोदी द्वारा अब इस तरह की बातें की जाती हैं कि 'किसी को भारत के सेक्युलर और सहिष्णु ताने-बाने को नष्ट नहीं करने दिया जायेगा', 'भारत में सभी नागरिकों को अपने धर्म के पालन की आज़ादी मिलेगी', वगैरह। **लेकिन इस तरह की बयानबाज़ी के साथ मोदी सरकार ने बजरंग दल, विहिप, हिन्दु युवा वाहिनी जैसे हिन्दुत्ववादी फासीवादी गुण्डा गिरोहों को खुला हाथ दे दिया है।** ज़मीनी धरातल पर ये हिन्दुत्ववादी फासीवादी गिरोह महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान से लेकर हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल तक में अपनी फासीवादी हरक़तों को अंजाम दे रहे हैं। चाहे वह बहादुगढ़ से पलवल तक दंगे करवाने की हरक़तें हों या फिर देश के तमाम हिस्सों में गाय हत्या की अफ़वाहें उड़ाकर या फिर पाकिस्तान का झण्डा फहरा कर मुसलमानों के ख़िलाफ़ दंगे भड़काने के कुकृत्य हों, ये गुण्डा वाहिनियाँ 'ओवरटाइम' काम कर रही हैं। इसका कारण यही है कि मोदी सरकार ऊपरी तौर पर तमाम बयान दे रही है लेकिन ज़मीनी तौर पर उसने भगवा गिरोहों को खुला हाथ दे दिया है।

इन भगवा गिरोहों को खुला हाथ देने के अलावा, तमाम भगवा फासीवादी सांस्कृतिक, बौद्धिक और शैक्षणिक संस्थाओं (जो सुनने में अजीब लगता है क्योंकि इन साम्प्रदायिक

फासीवादियों के पास संस्कृति, बुद्धि और शिक्षा के नाम पर जो कुछ है वह हास्यास्पद है!) को देश में अपनी जड़ें फैलाने, सरकारी संस्थाओं का भगवाकरण करने, स्कूली से लेकर उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम का फासीवादीकरण करने की छूट दे दी गयी है। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् से लेकर एन.सी.ई.आर.टी. तक और पुणे के भारतीय फिल्म व टेलीविजन संस्थान के भगवाकरण और चेन्नई आई.आई.टी. के प्रगतिशील स्वरों पर पाबन्दी लगाने तक की घटनाएँ संघी फासीवाद के मंसूबों को साफ़ कर रही हैं। **इन ख़तरनाक कदमों को मज़दूर वर्ग को कम करके नहीं आँकना चाहिए।** ये कदम एक पूरी पीढ़ी के दिमाग़ों में ज़हर घोलने, उनका फासीवादीकरण करने, उन्हें दिमाग़ी तौर पर गुलाम बनाने और साथ ही मज़दूर वर्ग को वैज्ञानिक और तार्किक चिन्तन की क्षमता से वंचित करने का काम करते हैं। जिस देश के मज़दूर और छात्र-युवा वैज्ञानिक और तार्किक चिन्तन की काबिलियत खो बैठते हैं वे अपनी मुक्ति के मार्ग को भी नहीं पहचान पाते हैं और न ही वे मज़दूर आन्दोलन के मित्र बन पाते हैं। उल्टे वे मज़दूर आन्दोलन के शत्रु के तौर पर तैयार किये जाते हैं और शैक्षणिक, बौद्धिक व सांस्कृतिक संस्थाओं का फासीवादीकरण इसमें एक अहम भूमिका निभाता है। ऐसे में इन संस्थानों में पढ़ने वाले छात्र-युवा न तो अपने शत्रुओं की सही पहचान कर पाते हैं और न ही अपने मित्रों की; नतीजतन, अक्सर वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों के दुष्प्रचार का शिकार बनकर पूँजीपतियों की कठपुतली बन बैठते हैं। यही कारण है कि जब भी फासीवादी ताक़तें सत्ता में आती हैं तो वे शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र को ख़ास तौर पर निशाना बनाती हैं। मोदी सरकार भी यही कर रही है। लेकिन साथ ही नरेन्द्र मोदी साम्प्रदायिक सद्भाव और सभी को साथ लेकर चलने की बात कर रहे हैं!

मोदी की यह रणनीति-कि सारे फासीवादी कृकृत्यों को अंजाम देने के काम को सतत् चलाया जाय मगर औपचारिक बयानों के स्तर पर सेक्युलरिज़्म, सहिष्णुता और 'साथ चलने' की बातें की जाये-फासीवादी राजनीति के अतीत के उदाहरणों से भिन्न है। जर्मनी या इटली में फासीवादियों ने सत्ता में आने पर इन सारे कामों को बिना किसी पर्देदारी के अंजाम दिया। कम्युनिस्टों और यहूदियों व प्रवासियों के ख़िलाफ़ उनका फासीवादी नस्लवाद बेलौस, नंगा और बेशर्म था। शिक्षा व्यवस्था और संस्कृति के क्षेत्र में की गयी साज़िशें और विकृतिकरण भी बिना किसी मुखौटे के किये गये थे। लेकिन अतीत में फासीवादी सत्ताओं और पार्टियों का जो हश्र हुआ, उसके मद्देनज़र फासीवादियों ने भी इतिहास से सबक लिया है। अब वे अपने सारे कुकृत्यों को ज़्यादा शातिर तरीके से अंजाम देते हैं। दूसरे शब्दों में, फासीवाद अब पहले से ज़्यादा विचारधारात्मक हो गया है हालाँकि ऐसी पतनशील बुर्जुआ विचारधारा के लिए ज़्यादा विचारधारात्मक होना मुश्किल ही होता है, जैसा कि थियोडोर अडोर्नो ने एक बार कहा था। बहरहाल, मोदी सरकार इसी रणनीति पर काम कर रही हैः यानी सारे व्यावहारिक कामों में फासीवादी मंसूबों पर बेशर्मी के साथ अमल मगर बयानबाज़ी में सेक्युलर, सहिष्णु, बहुलतावादी आदि होने का दावा!

कुछ कार्य मोदी सरकार वही कर रही है जिसके लिए हमेशा पूँजीपति वर्ग फासीवादी बर्बरों को चुनता है। इसीलिए मोदी सरकार की रणनीति का सबसे अहम हिस्सा वह है जिसके लिए कि मोदी को देश के आर्थिक संकट से कराह रहे पूँजीपति वर्ग ने सत्ता में पहुँचाया है। **यह काम है मज़दूर वर्ग के अधिकारों और आन्दोलन पर चोट करना, राज्यसत्ता की दमनकारी मशीनरी को चाक-चौबन्द करना और जनता के हको-हुकूक को एक-एक करके छीनना।** इसी के लिए मोदी सरकार और तमाम राज्यों में भाजपा की सरकारों ने सबसे पहले श्रम कानूनों को निशाना बनाना शुरू किया है। वैसे तो पहले भी मौजूदा श्रम कानून असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों यानी कि ठेका, दिहाड़ी व कैजुअल मज़दूरों के लिए बिरले ही लागू होते थे, लेकिन श्रम कानूनों में इन सुधारों के साथ अब असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों का बुनियादी श्रम अधिकारों पर कानूनी दावा भी नहीं रह जायेगा। यानी कि पूँजीपति वर्ग मज़दूरों को बिना किसी कानूनी रुकावट लूटने की पूरी आज़ादी और दूसरी ओर मज़दूरों से संगठित होकर प्रतिरोध करने का हक़ तक छीन लेना! इसके अलावा मोदी सरकार पूँजीपति वर्ग को अन्य प्रकार भी तमाम छूटें भी दे रही है। उसने कम से कम दरों पर ऋण, ज़मीन, पानी और करों से छूट इन पूँजीपतियों को मुहैया करायी है। यानी कि जिन कारणों से पूँजीपति वर्ग ने नरेन्द्र मोदी पर दस हज़ार करोड़ रुपये का निवेश किया था, अब नरेन्द्र मोदी उस काम को मुस्तैदी से कर रहे हैं।

बहरहाल, मौजूदा फासीवादी सरकार की कार्यपद्धति में जो परिवर्तन नज़र आ रहे हैं, वह फासीवादी राजनीति में इक्कीसवीं सदी में आये कुछ परिवर्तनों का ही एक अंग है। इन परिवर्तनों को समझना मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन की फासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति को निर्धारित करने के लिए ज़रूरी है।

इक्कीसवीं सदी में पूँजीवादी व्यवस्था का संकट और फासीवाद

इतिहास बताता है कि फासीवादी उभार हर-हमेशा इज़ारेदार पूँजीवाद के आर्थिक संकट के दौर में प्रकट होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक कारक यान्त्रिक तरीके से फासीवादी उभार को सुनिश्चित या निर्धारित करते हैं। जैसा कि हमने मौजूदा पुस्तिका में स्पष्ट किया है, हर आर्थिक संकट हमेशा दोहरी सम्भावनाओं को जन्म देता हैः क्रान्तिकारी सम्भावना और प्रतिक्रियावादी सम्भावना। यह किसी भी समाज में प्रतिक्रियावादी शक्तियों और क्रान्तिकारी शक्तियों के सापेक्षिक शक्ति सन्तुलन पर निर्भर करता है कि कौन-सी सम्भावना वास्तविकता में तब्दील होगी या फिर उनके बीच का अन्तरविरोध तात्कालिक तौर पर अनिर्धारित रह जायेगा। **इसके अतिरिक्त, जिन समाजों में क्रान्तिकारी शक्तियाँ कमज़ोर होंगी, वहाँ भी फासीवादी विकल्प बुर्जुआ वर्ग के पास मौजूद एकमात्र विकल्प नहीं होता है।** अगर ऐसा होता तो फिर संकट के शिकार ऐसे सभी देशों में फासीवादी शक्तियों को सत्ता में आना चाहिए था जहाँ क्रान्तिकारी शक्तियाँ कमज़ोर थीं। मगर इतिहास में ऐसा नहीं हुआ और वर्तमान दुनिया में भी ऐसा नहीं हो रहा है। **इसलिए आर्थिक अन्तरविरोध इस रूप में किसी भी परिघटना के उदय को यान्त्रिक रूप से निर्धारित नहीं करते हैं।**

जर्मनी और इटली, दोनों ही देशों में फासीवादी विकल्प का चुनाव वहाँ के बुर्जुआ वर्ग का एक राजनीतिक निर्णय था जो कि आर्थिक संकट से प्रेरित था। लेकिन वहाँ के पूँजीपति वर्ग के पास पूँजीवादी दायरे के भीतर ही अन्य विकल्प भी मौजूद थे। यही बात उस दौर में अन्य कई देशों के बारे में कही जा सकती थी। कुछ देशों में बुर्जुआ वर्ग ने फासीवादी विकल्प का चुनाव किया तो कुछ देशों में बुर्जुआ वर्ग ने दूसरे विकल्पों का चुनाव किया। किन देशों में बुर्जुआ वर्ग ने किन विकल्पों का चुनाव किया इसके अलग-अलग विशिष्ट राजनीतिक और ऐतिहासिक कारण थे। अन्तरविरोधों की विशिष्टता को समझे बग़ैर हम अलग-अलग देशों में संकट की अलग-अलग बुर्जुआ प्रतिक्रियाओं को नहीं समझ सकते।

आर्थिक संकट निश्चित तौर पर बुनियादी अन्तरविरोध है, जोकि फासीवादी उभार में हमेशा अपनी भूमिका निभाता है; लेकिन आर्थिक संकट हर-हमेशा फासीवादी उभार में ही परिणत होगा, यह कहना बुनियादी अन्तरविरोध को प्रधान अन्तरविरोध के साथ गड्ड-मड्ड कर देने के समान होगा। बुनियादी अन्तरविरोध का पहलू सामान्य तौर पर अपनी भूमिका निभाता है और किसी भी चरण में सतत् उपस्थित रहता है, लेकिन इतिहास में निश्चित और विशिष्ट सन्धि-बिन्दुओं (conjunctures) को समझने के लिए प्रधान अन्तरविरोध और उसके प्रधान पहलू को समझना आवश्यक होता है। यही कारण है कि कई देशों में (मसलन, इटली, जर्मनी, पुर्तगाल, हंगरी आदि) बुर्जुआ वर्ग ने ऐतिहासिक और राजनीतिक तौर पर निर्धारित प्रधान अन्तरविरोधों के कारण फासीवादी या अर्द्धफासीवादी विकल्प का चुनाव किया, जबकि आर्थिक संकट से उतनी ही बुरी तरह जूझ रहे कई देशों में बुर्जुआ वर्ग ने फासीवादी विकल्प का चुनाव नहीं किया, हालाँकि इन देशों की तथाकथित उदार पूँजीवादी सत्ताओं ने भी मज़दूर वर्ग के हक़ों पर हमलों को संकट के दौर में तीव्र कर दिया था। मगर फिर भी इन पूँजीवादी सत्ताओं और फासीवादी सत्ताओं में फर्क था। इसलिए यह समझना अहम है कि आर्थिक अन्तरविरोध यान्त्रिक तौर पर राजनीतिक घटनाक्रम का निर्धारण नहीं करते हैं।

मगर फिर भी इतना तो तय है कि फासीवादी सम्भावना के पैदा होने की ज़मीन तैयार करने वाला बुनियादी अन्तरविरोध, विशेष तौर पर इज़ारेदारी के दौर में, पूँजीवादी व्यवस्था का असाध्य आर्थिक संकट ही है। इस सम्भावना का वास्तविकता में तब्दील होना कई अन्य राजनीतिक व ऐतिहासिक कारकों पर निर्भर करता है। लेकिन फासीवादी उभार का आर्थिक संकट से अकाटच सम्बन्ध है।

बीसवीं सदी में पूँजीवादी व्यवस्था के संकट और इक्कीसवीं सदी में पूँजीवादी व्यवस्था के संकट की तुलना करें तो हम पाते हैं कि उनमें कुछ निश्चित परिवर्तन आये हैं। निश्चित तौर पर, हम आज भी साम्राज्यवाद के युग में जी रहे हैं। लेकिन साम्राज्यवाद का चरण कोई ठहरावग्रस्त या स्थैतिक चरण नहीं हैं। विशेष तौर पर पिछले 70 वर्षों, यानी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दौर में विश्व पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में कुछ अहम बदलाव आये हैं। इन परिवर्तनों के साथ संकटों के चरित्र और प्रकृति में भी कुछ बदलाव आये हैं। और इन

बदलावों के साथ ही विश्व भर में फासीवादी आन्दोलनों के चरित्र और संरचना में भी कुछ बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों को समझना मज़दूर आन्दोलन के लिए कोई अकादमिक या बौद्धिक कसरत नहीं है, बल्कि एक ज़रूरी फौरी सवाल है। इन्हें समझे बिना हम आज के फासीवादी उभार का मुकाबला नहीं कर सकते हैं। **यह समझना नितान्त आवश्यक है कि 1920 या 1930 के दशक के कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल में पारित फासीवाद-सम्बन्धी प्रस्तावों को पढ़कर या महान सर्वहारा नेताओं के उस दौर के फासीवाद-विरोधी लेखन को पढ़ कर ही आज के फासीवादी उभार का सर्वहारा प्रतिरोध सम्भव नहीं होगा, हालाँकि उन्हें पढ़े बग़ैर भी यह कार्यभार पूरा नहीं किया जा सकता है।**

भूमण्डलीकरण के दौर का यह संकट किन अर्थों में बीसवीं सदी की और विशेष तौर पर 1970 के पहले की आर्थिक मन्दियों से भिन्न है, यह समझने के लिए हमें संक्षेप में 1929 की महामन्दी के बाद विश्व पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में हुए परिवर्तनों पर चर्चा करनी होगी।

हम जानते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध का बुनियादी कारण 1929 में अमेरिका से शुरू हुई वैश्विक महामन्दी और साम्राज्यवाद का संकट था। यह महामन्दी तब तक के इतिहास की सबसे बड़ी पूँजीवादी महामन्दी थी। इसके पहले भी लगभग हर दस-बीस वर्षों के अन्तराल पर पूँजीवादी विश्व गम्भीर आर्थिक संकट का शिकार होता रहा था। लेकिन 1930 के दशक की महामन्दी इस रूप में अलग थी कि यह वित्तीय इज़ारेदार पूँजीवाद के वर्चस्व के मज़बूती के साथ स्थापित होने के बाद की पहली बड़ी मन्दी थी, पूँजीवाद का आम संकट था जो कि किसी एक सेक्टर या क्षेत्र में सीमित नहीं था और इन अर्थों में इसका रूप भी पहले की मन्दी से ज़्यादा विकराल और व्यापक था। कारण यह था कि अति-उत्पादन के संकट से जूझ रहे पूँजीवाद की वित्तीय पूँजी की सट्टेबाज़ी पर निर्भरता विशेष तौर से 1880 के दशक से बुरी तरह से बढ़ गयी थी। इसके कारण पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था पहले से कहीं ज़्यादा खोखली, जर्जर और परजीवी हो चुकी थी और इसका सन्तुलन पहले से कहीं ज़्यादा क्षणभंगुर था। वित्तीय अनुत्पादक पूँजी अब विश्व पूँजीवाद के वाहन की चालक की गद्दी पर काबिज़ हो चुकी थी, जबकि औद्योगिक उत्पादक पूँजी की भूमिका गौण हो चुकी थी। वित्तीय पूँजी बैंक पूँजी और औद्योगिक पूँजी के संलयन से अस्तित्व में आयी थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से पूँजीवादी व्यवस्था जिस आर्थिक संकट से जूझ रही थी उसका समाधान अब केवल राष्ट्रीय सीमाओं के पार पूँजी के निर्यात से हो सकता था। इसके लिए वित्तीय पूँजी का अस्तित्व में आना अनिवार्य था। लेकिन वित्तीय पूँजी के अस्तित्व में आने के साथ कुछ नयी पूँजीवादी ताक़तों का उदय हुआ जिनके पास आर्थिक शक्तिमत्ता तो थी लेकिन पूँजी के अतिसंचय की समस्या को फौरी तौर पर निपटाने के लिए उनके पास उपनिवेश नहीं थे। इन ताक़तों ने ही दुनिया के पूँजीवादी पुनर्विभाजन के लिए पुरानी साम्राज्यवादी ताक़तों से प्रतिस्पर्द्धा शुरू की जिसकी परिणति दो विश्वयुद्धों में हुई। अति-उत्पादन और अति-संचय के संकट से निपटने के लिए उत्पादक शक्तियों का बड़े पैमाने पर विनाश ज़रूरी था और इस रूप में इन दो विश्वयुद्धों ने मंदी के संकट से पूँजीवादी विश्व को तात्कालिक तौर पर कुछ राहत दी थी। 1945 में सोवियत संघ के

द्वारा नात्सी जर्मनी की पराजय के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध का निर्णायक अन्त हो गया था। अमेरिका ने जापान पर परमाणु बम केवल सोवियत संघ के समक्ष अपने नये हथियार की नुमाइश के लिए गिराया था। युद्ध के अन्त तक यूरोप और जापान खण्डहर में तब्दील हो चुके थे और विश्व पूँजीवाद के नये चौधरी अमेरिका को युद्ध में सबसे कम नुकसान झेलना पड़ा था। अमेरिकी पूँजीपति वर्ग ने इन देशों में पुनर्निर्माण की परियोजनाओं के आधार पर ज़बर्दस्त मुनाफ़ा कमाया।

युद्धोत्तर पुनर्निर्माण परियोजनाओं से पैदा हुई अमेरिकी पूँजीवाद की समृद्धि ने तीन दशकों तक विश्व पूँजीवाद को किसी गम्भीर संकट से बचाये रखा। यह दौर कल्याणकारी पूँजीवादी राज्य, फोर्डवाद, श्रम व पूँजी के बीच समझौते, अर्थव्यवस्था के राजकीय विनियमन, संरक्षणवाद, मौद्रिक अनमनीयता और श्रम बाज़ारों की अनमनीयता का दौर था। लेकिन 1970 के दशक की शुरुआत आते-आते विश्व पूँजीवाद एक बार फिर से अति-उत्पादन और पूँजी के अति-संचय के संकट से ग्रस्त हो चुका था। 1973 में डॉलर-स्वर्ण मानक का टूटने और ओपेक संकट के साथ नयी वैश्विक मन्दी की घण्टी बज गयी। इस मन्दी से निपटने के लिए सभी पूँजीवादी देशों ने मौद्रिक लचीलेपन का रास्ता अपनाया और डॉलर-स्वर्ण मानक का परित्याग कर दिया। डॉलर-स्वर्ण मानक कल्याणकारी राज्य और फोर्डवादी उत्पादन शैली के दौर में पूँजीवाद को एक प्रकार की मौद्रिक स्थिरता देता था। लेकिन पूँजी के अति-संचय के संकट के पैदा होने के साथ यही डॉलर-स्वर्ण मानक पूँजी के लिए एक दमघोंटू पिंजड़ा बन गया था। इसीलिए संकट से निपटने के लिए सबसे पहले अमेरिका ने इस मानक का परित्याग कर दिया ताकि वह मौद्रिक लचीलेपन को अपना कर अपने संकट से तात्कालिक तौर पर निजात पा सके। बाद में अन्य देशों ने भी इस मानक का परित्याग कर दिया। इसके साथ ही विश्व पूँजीवाद की अभूतपूर्व समृद्धि का वह दौर समाप्त हो गया जिसकी पहचान बुर्जुआ कल्याणकारी राज्य, फोर्डवादी उत्पादन शैली, संरक्षणवाद, उन्नत देशों में श्रम और पूँजी के बीच एक समझौते और अनमनीय श्रम बाज़ार व वित्तीय विनियमन के द्वारा की जाती थी। **इसके बाद ही नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर की शुरुआत होती है।** डॉलर-स्वर्ण मानक का टूटना और मौद्रिक लचीलेपन को विभिन्न राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं द्वारा अपनाया जाना महज़ इसकी शुरुआत था।

ज़ाहिर है, नोट छापकर या मुद्रा के मूल्य को ऊपर-नीचे करके अर्थव्यवस्था को बहुत लम्बे समय तक संकट के भँवर से नहीं बचाया जा सकता था। पूरी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में संकट को तात्कालिक तौर पर टालने के लिए भी और ज़्यादा मूलभूत परिवर्तनों की आवश्यकता थी।

श्रम बाज़ारों को लचीला बनाने के नाम पर मज़दूर वर्ग द्वारा जीते गये तमाम हक़ों को एक-एक करके वापस लेने की शुरुआत हुई, हालाँकि यह शुरुआत अभी 'तीसरी दुनिया' के देशों और विशेष तौर पर लातिन अमेरिकी देशों में की गयी थी। हर प्रकार के राजकीय

विनियमन को अब पूँजीवादी संचय में बाधा के तौर पर देखा गया और उसे तिलांजलि देने की शुरुआत कर दी गयी। उत्पादन व पूँजी की प्रचुरता को खपाने के लिए वित्तीय पूँजी का और बड़े पैमाने पर भूमण्डलीकरण हुआ; मन्दी से निपटने के लिए ऋण बाज़ार का विस्तार किया गया और उपभोक्ता वर्ग को निम्न ब्याज़ दरों पर आवास ऋण, कार ऋण आदि देने की पहले से कहीं बड़े पैमाने पर शुरुआत की गयी, ताकि उत्पादन के आधिक्य और पूँजी की प्रचुरता दोनों को खपाया जा सके। नतीजतन, एक ऋण बाज़ार भी अस्तित्व में आया। ऋण स्वयं एक माल में तब्दील हो चुका था और इस माल के विपणन के लिए भी बैंकों व वित्तीय संस्थानों में प्रतिस्पर्द्धा थी। लिहाज़ा, ऋण बाज़ार में भी सन्तृप्ति का एक बिन्दु आना ही था, जिसके बाद इसे और ज़्यादा विस्तारित करने के अलावा पूँजीवाद के पास और कोई रास्ता नहीं था। 2006 के बाद अमेरिका में सबप्राइम ऋण संकट वास्तव में इस ऋण बाज़ार के विस्तारित होने की अन्तिम सीमा तक पहुँचने की निशानी थी। अब ऋण केवल मालदार मध्यवर्ग को नहीं बल्कि ऐसे लोगों को भी दिया जाने लगा जिनके पास ऋण की दो-चार किश्तें चुका सकने योग्य क्षमता भी नहीं थी क्योंकि मालदार मध्यवर्ग का ऋण बाज़ार अब सन्तृप्त हो चुका था। ऐसे ऋणों की ब्याज़ दर को काफ़ी ज़्यादा रखा गया ताकि पहली-दूसरी किश्त तक ही मूलधन से कुछ अधिक की कमाई हो जाये। लेकिन जब व्यापक आबादी में ये सबप्राइम ऋण बाँटे गये, तो बहुत बड़े पैमाने पर आम ग़रीब और निम्न मध्यवर्गीय आबादी पहली और दूसरी किश्त भरने में भी असफल रही और उसने अपने आपको दीवालिया घोषित कर दिया। इसी के साथ अमेरिकी अर्थव्यवस्था में पैदा किया गया आवास बाज़ार का बुलबुला फूट गया और 2007 में शुरू हुए सबप्राइम संकट के साथ 1930 के दशक के बाद की सबसे भयंकर महामन्दी ने पूँजीवादी विश्व को जकड़ लिया और अभी तक यह मन्दी बरक़रार है। यूनान के सम्प्रभु ऋण संकट के रूप में इस समय यह महामन्दी पूरे यूरोपीय संघ और यूरोज़ोन में एक अभूतपूर्व आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक संकट पैदा कर रही है।

लेकिन 2006-07 में शुरू हुई यह महामन्दी कई मायनों में पूँजीवाद के अब तक के इतिहास की सबसे भयंकर मन्दी है। यह न सिर्फ़ अब तक का भयंकरतम आर्थिक संकट है, बल्कि यह पहले के आर्थिक संकटों से गुणात्मक रूप से भिन्न है। यह समझना महत्वपूर्ण है कि आज की मन्दी किस रूप में पहले के पूँजीवादी संकटों से भिन्न है। सबसे अहम बात यह है कि आज का संकट पहले के सभी संकटों से कहीं ज़्यादा ढाँचागत और गहरा संकट है। भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजी दुनिया के उन कोनों तक में व्याप्त हो चुकी है, जो पहले उसकी पहुँच से एक हद तक बाहर थे। लेनिन ने कहा था कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अन्तिम चरण है। **आज कहा जा सकता है कि भूमण्डलीकरण साम्राज्यवाद का अन्तिम चरण है।** यह भूमण्डलीकरण के दौर का संकट है और इस रूप में यह पूँजीवाद का अन्तकारी संकट है और पूँजीवाद के ख़त्म होने के साथ ख़त्म होगा।

इसी से जुड़ी हुई दूसरी बात भी है जो कि इस मौजूदा संकट को अतीत में आये अन्य संकटों से अलग करती है। **1870 की दशक में आयी मन्दी हो या फिर 1930 के दशक**

की महामन्दी, पहले के सभी आर्थिक संकटों के बाद आर्थिक तेज़ी का एक दौर हुआ करता था। लेकिन 1970 की दशक में जो आर्थिक संकट आया उसके बाद विश्व पूँजीवाद ने एक भी तेज़ी का दौर नहीं देखा है। उस दौर से लेकर आज तक दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद की दर तीन प्रतिशत के आस-पास या उससे कम रही है, जो कि एक सतत् मन्दी को दिखलाती है। 1970 के दशक से ही विश्व पूँजीवाद एक सतत् मन्द मन्दी का शिकार रहा है। इस मन्दी से उबरने के लिए इसने बीच-बीच में वित्तीय पूँजी की सट्टेबाज़ी के कई बुलबुले पैदा किये। लेकिन सट्टेबाज़ी के हर बुलबुले के फूटने के साथ मन्दी और भी ज़्यादा व्यापक और गम्भीर रूप में फिर से प्रकट हुई। 2006-07 में सबप्राइम ऋण संकट के साथ आवास बाज़ार का बुलबुला फूटा और नतीजे के तौर पर जो आर्थिक संकट पैदा हुआ वह पूँजीवाद के इतिहास का सबसे गम्भीर संकट साबित हो रहा है। यह पहले के सभी संकटों से ज़्यादा ढाँचागत संकट है और इसके बाद किसी वास्तविक तेज़ी की उम्मीद करना पूँजीवादी अर्थशास्त्री भी छोड़ चुके हैं। सट्टेबाज़ी के बुलबुलों और युद्धों के ज़रिये साम्राज्यवाद अपने लिए साँसें उधार ले रहा है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है साम्राज्यवादी-पूँजीवादी व्यवस्था खुद-ब-खुद ख़त्म हो जाएगी। जब तक सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के नेतृत्व में इसके ख़िलाफ़ इंक़लाबों को अंजाम नहीं देगा, तब तक ये आदमखोर और परजीवी व्यवस्था दुनिया पर बेरोज़गारी, ग़रीबी, युद्ध और पर्यावरणीय विनाश थोप-थोपकर ज़िन्दा रहेगी।

मौजूदा संकट उपरोक्त अर्थों में एक अभूतपूर्व और अद्वितीय संकट है और इसे पूँजीवाद के इतिहास का सबसे गम्भीर और सबसे ढाँचागत संकट कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मन्दी में अब आकस्मिकता (contingency) या अचानक घटित होने (suddenness) का तत्व नहीं रह गया है या कम-से-कम वह प्रमुख तत्व नहीं रह गया है। यह मौजूदा विश्व पूँजीवाद की स्थायी और संरचनागत परिघटना बन चुकी है। 1930 के दशक की या उससे पहले 1870 के दशक की मन्दी में अचानक घटित होने का एक तत्व था; मानो कोई रास्ते से जा रहा हो और अचानक कोई पेड़ उसके ऊपर गिर पड़े! कहने की आवश्यकता नहीं कि वास्तव में मन्दी कोई आकस्मिक चीज नहीं है, लेकिन कम-से-कम परिघटनात्मक स्तर (phenomenal level) पर इसमें आकस्मिकता का तत्व प्रधान था। यही कारण है कि पहले के गम्भीर आर्थिक संकटों से ठीक पहले जो तेजी के दौर चल रहे थे, उसमें बुर्जुआ अर्थशास्त्री किसी आसन्न मन्दी की सम्भावना को नहीं देख पा रहे थे। ये संकट जब फूटे तो उनके लिए एक अचरज का विषय थे क्योंकि इसका कोई पूर्वानुमान नहीं था। मगर आज ऐसा नहीं है। आज विश्व पूँजीवादी व्यवस्था सतत् मन्दी की शिकार अपनी मृत्युशय्या पर लेटी है और बीच-बीच में वित्तीय सट्टेबाज़ी के स्टेरॉयड के इंजेक्शनों से उसमें कुछ जान आती है। **मन्दी के चरित्र में आये इस ऐतिहासिक परिवर्तन के साथ मन्दी के प्रतिक्रियावादी परिणाम के रूप में पैदा होने वाले फासीवादी उभार के चरित्र में भी पहले के मुकाबले कुछ अहम परिवर्तन आये हैं।**

1910 के दशक के उत्तरार्द्ध में जब फासीवादी राजनीति का अंकुरण मुख्य रूप से इटली और यूरोप के कई देशों में हो रहा था, तो उसमें भी एक आकस्मिकता का तत्व मौजूद था। इटली में एक मज़बूत सुधारवादी मज़दूर आन्दोलन, 1918-19 के दौरान इटली में मज़दूर परिषदों और सर्वहारा क्रान्ति के प्रयोग के असफल होने और सोवियत संघ में सर्वहारा सत्ता की स्थापना से पूँजीपति वर्ग में पैदा हुए भय और प्रतिक्रिया के कारण फासीवादी राजनीति फल-फूल रही थी। जर्मनी में भी 1920 के दशक के मध्य से यह प्रक्रिया ज़ोर पकड़ चुकी थी और 1919-20 में असफल जर्मन समाजवादी क्रान्ति और रूस में बोल्शेविकों के सत्ता में आने से जर्मन पूँजीपति वर्ग के बदन में पैदा हुई सिहरन भी अभी पूरी तरह से गयी नहीं थी। लेकिन जब 1929 में आर्थिक संकट ने पूँजीपति वर्ग के साँस लेने की जगह को और संकुचित कर दिया, तो फासीवादी और नात्सी राजनीति को पूँजीपति वर्ग का और ज़बरदस्त समर्थन प्राप्त हुआ और पूँजीपति वर्ग, विशेष तौर पर बड़े पूँजीपति वर्ग ने लगभग एकजुट होकर फासीवादी राजनीतिक विकल्प का चुनाव किया, ताकि संगठित सुधारवादी मज़दूर आन्दोलन का ध्वंस किया जा सके, मुनाफ़े के संकुचन को ख़त्म किया जा सके और हर प्रकार के राजनीतिक विरोध का ख़ात्मा कर संकट के दौर में पूँजीवादी संचय की उत्तरजीविता-योग्य दर को सुनिश्चित किया जा सके।

उस समय यूरोप के कई अन्य देशों में भी फासीवादी आन्दोलनों ने ज़ोर पकड़ा हालाँकि सत्ता हासिल करने में वे सफल नहीं हो पाये, जिसके कि उस देश के इतिहास और राजनीति में निश्चित कारण थे। लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं है कि फासीवादी राजनीति का उभार उस दौर में सिर्फ़ जर्मनी या इटली तक ही सीमित नहीं था, बल्कि कुछ देशों को छोड़कर लगभग सभी देशों में फासीवादी राजनीति विविध रूपों में अस्तित्व में आयी थी। **लेकिन इन सभी देशों में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फासीवादी राजनीति की पकड़ तात्कालिक तौर पर या तो ख़त्म हो गयी थी या फिर इतनी कमज़ोर हो गयी थी कि उन्हें फासीवादी आन्दोलन नहीं कहा जा सकता था, बल्कि बस कुछ फासीवादी गिरोहों की मौजूदगी ही कहा जा सकता था।** इसके बाद फासीवादी राजनीति और आन्दोलन के ज़ोर पकड़ने की प्रक्रिया तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के कई देशों में आर्थिक और राजनीतिक संकट के दौरान घटित होती है। लेकिन आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि जहाँ फासीवादी ग्रुप और पार्टियाँ तमाम देशों में आम तौर पर लगभग लगातार मौजूद रहे हैं (चाहें बेहद कमज़ोर रूप में ही क्यों न हों), वहीं दूसरी ओर यह भी सच है कि फासीवाद ने टटपुँजिया वर्गों के बीच एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन का रूप आर्थिक संकट और उसके नतीजे के तौर पर पैदा होने वाले राजनीतिक संकट के दौर में ही लिया है।

एशिया के कई देशों में भी, जिसमें कि भारत भी शामिल है, फासीवादी समूहों या संगठनों की मौजूदगी उनके जन्म के बाद से लगातार बनी रही है। भारत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसका क्लासिक उदाहरण है। यह समझना अनिवार्य है कि चूँकि 1940 से 1970 के दशक में आज़ाद हुए तमाम 'तीसरी दुनिया' के देशों में जिस किस्म का बौना, विकलांग, रुग्ण और बीमार पूँजीवाद अस्तित्व में आया, जिस किस्म का कमज़ोर पूँजीवादी जनवाद

अस्तित्व में आया, जिस किस्म का सतत् रूप से संकटग्रस्त सामाजिक-राजनीतिक ताना-बाना अस्तित्व में आया उसके मद्देनजर वहाँ फासीवादी आन्दोलन और समूहों की निरन्तर सशक्त मौजूदगी की ज़रूरत पूँजीपति वर्ग को कहीं ज़्यादा थी। **यही कारण है कि जहाँ हम 1950 के बाद के एक पूरे दौर में यूरोपीय देशों में फासीवादी आन्दोलन की मौजूदगी को किसी महत्वपूर्ण रूप में नहीं देखते हैं, तो वहीं भारत और कुछ 'तीसरी दुनिया' के देशों में फासीवादी आन्दोलन अपेक्षाकृत ज़्यादा शक्तिशाली स्थिति में मौजूद था।** विश्व अर्थव्यवस्था के साथ 'तीसरी दुनिया' के देशों का समेकन 1970 के दशक के बाद विशेष तौर पर बेहद तेज़ी से बढ़ा। नतीजतन, वैश्विक संकट के विश्वव्यापी प्रभाव एक हद तक समतलीकरण हुआ। यही कारण है कि अब फासीवादी संगठन और आन्दोलन की मौजूदगी और उनके उभार की परिघटना का स्वरूप ज़्यादा वैश्विक और समान हो गया है। भारत में 1980 के दशक के अन्त में भूमण्डलीकरण और नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत के साथ छोटे उत्पादकों, किसानों और टटपुँजिया वर्गों का उजड़ना और उनके आर्थिक व सामाजिक असुरक्षा में बढ़ोत्तरी के साथ फासीवादी उभार ज़बरदस्त तेज़ी के साथ बढ़ा। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं द्रुत पूँजीवादी विकास से मध्यवर्ती वर्गों के उजड़ने और उनकी आर्थिक-सामाजिक असुरक्षा में बढ़ोत्तरी फासीवादी सामाजिक आन्दोलन के पैदा होने में हमेशा ही एक अहम कारक रहा है। भारत में इस प्रक्रिया को हम 1980 के दशक के अन्त और 1990 के दशक की शुरुआत में शुरू होते हुए देख सकते हैं। यह प्रक्रिया एक नये चरण में आज भी जारी है।

1980 के दशक के बाद से ही दुनिया भर के देशों में फासीवादी संगठनों और आन्दोलनों की उपस्थिति कहीं तेज़ तो कहीं धीमी रफ़्तार से बढ़ी है। कहीं पर इन आन्दोलनों ने नस्लवादी स्वरूप लिया है, कहीं साम्प्रदायिक तो कहीं प्रवासी-विरोधी। लेकिन अलग-अलग रूपों में इनकी मौजूदगी 1980 के दशक के बाद से ही बढ़ती रही है और नयी सहस्राब्दी की शुरुआत होने के साथ तो इनकी बढ़ोत्तरी और अधिक तेज़ हुई है।

1950 के दशक के बाद भी अमेरिका और यूरोप के विभिन्न देशों में खुले और प्रच्छन्न फासीवादी समूह मौजूद थे। मगर उनकी सामाजिक अपील बेहद सीमित थी। वे अक्सर 'सीक्रेट सोसायटी' जैसे प्रतिक्रियावादी संगठन हुआ करते थे जो कि प्रवासियों पर, अश्वेतों पर और अन्य अल्पसंख्यकों पर हमले किया करते थे। उनका चरित्र रोगात्मक (pathological), प्रतिक्रियात्मक (reactive), तात्कालिक और मुद्दा-आधारित प्रतिक्रिया का ज़्यादा था न कि एक सुचिन्तित, सुसंगठित विचारधारात्मक और राजनीतिक प्रतिक्रिया का, जो कि योजनाबद्ध रूप से और सचेतन तरीके से मज़दूर-आन्दोलन, कम्युनिस्टों और अल्पसंख्यकों को निशाना बनाते हैं।

वैसे अल्पसंख्यकों को निशाना बनाना वास्तव में फासीवादी राजनीति का सबसे सतही मगर फिर भी ज़रूरी पहलू होता है। मज़दूर आन्दोलन के ध्वंस के लिए और पूँजीवाद द्वारा पैदा की गयी आपदाओं के लिए ज़िम्मेदार ठहराने के लिए फासीवाद को हमेशा ही एक मिथकीय

या काल्पनिक शत्रु की, एक 'फेटिश' की आवश्यकता होती है। अलग-अलग किस्म के अल्पसंख्यक और अरक्षित समुदाय फासीवादी राजनीति की इस ज़रूरत को अलग-अलग देशों में अलग-अलग तरह से पूरा करते हैं। लेकिन प्रमुख बात यह नहीं है। **प्रमुख बात यह है कि फासीवादी विचारधारा, राजनीति और संगठन का असल निशाना कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी और मज़दूर आन्दोलन होता है क्योंकि संकटग्रस्त पूँजीवाद के बचाव और उसकी सेवा के लिए इन दोनों का ख़ात्मा ही सबसे ज़्यादा ज़रूरी होता है।**

ज़ाहिर है, फासीवादी राजनीति की पूँजीपति वर्ग से सापेक्षिक तौर पर ज़्यादा स्वायत्तता होती है और यह पूँजी की प्रतिक्रिया का अतिरेकपूर्ण रूप होने के साथ-साथ टटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रिया का रूमानी उभार भी होता है। इसीलिए फासीवादी राजनीति हमेशा अतिरेकपूर्ण छोरों तक जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो यही कारण है कि फासीवादी राजनीति ऐसे हत्याकाण्डों, जनसंहारों और बर्बरता को अंजाम देती है जिसकी तार्किक या वैज्ञानिक व्याख्या असम्भव प्रतीत होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि नात्सियों द्वारा यहूदियों, कम्युनिस्टों व अन्य विरोधियों के नरसंहार की व्याख्या में प्रत्यक्षवाद के शिकार समाज-विज्ञानी अपने आपको अक्षम पाते हैं। इसकी व्याख्या करने के लिए ही उनमें एक पूरा अलग स्कूल है जिसे 'होलोकॉस्ट स्टडीज़' कहा जाता है। ये उस नरसंहार के मनोवैज्ञानिक पहलुओं आदि पर काफ़ी ज़ोर देते हैं, लेकिन उसकी कोई तार्किक व्याख्या पेश नहीं कर पाते हैं। क्योंकि इस गाँठ को वह जिस छोर को पकड़कर खोलने की कोशिश कर रहे हैं, उसे खींचने से गाँठ और ज़्यादा उलझती है। नात्सियों द्वारा यहूदियों के बर्बर नरसंहार और उसी प्रकार गुजरात में 2002 में हुए बर्बर नरसंहार की व्याख्या एक ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से की जा सकती है; निश्चित तौर पर, मनोवैज्ञानिक पहलुओं का मूल्यांकन उसमें एक सहायक भूमिका निभा सकता है। मगर अपने आपमें मनोवैज्ञानिक नज़रिये से फासीवादियों के बर्बर और तार्किक व्याख्या से परे लगने वाले कृत्यों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। लेकिन अगर फासीवादी राजनीति के पूरे चरित्र को समझा जाय तो अतिरेकपूर्ण बर्बरता की ऐतिहासिकता (historicity) और कारणों को समझा जा सकता है। जैसा कि **बेर्टोल्ट ब्रेष्ट** ने कहा था, **"बर्बरता से बर्बरता नहीं पैदा होती; बर्बरता उन व्यावसायिक सौदों से पैदा होती है जिनके लिए बर्बरता की आवश्यकता होती है।"**

बहरहाल, हम अभी जिस मूल बात पर ध्यानाकर्षित करना चाहते हैं, वह यह है कि संकट के ज़्यादा ढाँचागत और स्थायी परिघटना में तब्दील होने के साथ, उसकी आकस्मिकता या अचानकपन के पहलू के कम होने के साथ फासीवादी उभार के चरित्र में भी यह परिवर्तन हुआ है कि वह पूँजीवादी व्यवस्था की 'ऐज़ एण्ड व्हेन नीडेड' दवाई के समान नहीं रह गया है; वह भी मौजूदा सतत् रूप से संकटग्रस्त पूँजीवादी समाज की एक सतत्, स्थायी और ज़्यादा ढाँचागत परिघटना में तब्दील हो गया है। माइकल कालेकी की वह बात आज पहले हमेशा से ज़्यादा लागू होती है कि फासीवाद जब सत्ता में नहीं भी होता है तो यह पूँजीपति वर्ग का ज़ंजीर से बँधा हुआ कुत्ता होता है।

यही कारण है कि आज फासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति भी ज़्यादा स्थायी, सतत्, निरन्तरतापूर्ण और व्यापक होनी चाहिए। फ़ासीवादियों का मुकाबला आज 'फ़ायर-ब्रिगेड' शैली में नहीं किया जा सकता है। यानी कि किसी जगह फ़ासीवादियों के किसी कृत्य की सूचना मिली तो फिर क्रान्तिकारी ताक़तें संयुक्त मोर्चा बनाकर उसकी मुख़ालफ़त करने पहुँच गयीं, या फिर किसी जन्तर-मन्तर या आजाद मैदान जैसी जगह पर कोई प्रतीकात्मक प्रदर्शन कर दिया। यह फायर-ब्रिगेड शैली का प्रतिरोध ही आज फासीवादी ताक़तों के विरुद्ध हमें हरा रहा है और हमें कमज़ोर कर रहा है। इसे हमें समझना ही होगा। फासीवाद के प्रतिरोध की हमारी कोई भी प्रभावी रणनीति आज पहले हमेशा से ज़्यादा इस बात की माँग करती है कि हम समाज के विभिन्न मेहनतकश वर्गों और निम्न मध्यवर्गों के बीच, विशेष तौर पर, उनकी बस्तियों में और साथ ही काम करने की जगहों पर भी अपने मज़बूत आधार तैयार करें। यह काम इन इलाकों के दौरे करके नहीं हो सकता। यह काम केवल और केवल सतत् मौजूदगी से और संस्थाबद्ध हस्तक्षेप करके ही हो सकता है। हमें पहले से ही समाज में संघी फ़ासीवादियों द्वारा अपनी तमाम संस्थाओं द्वारा बनायी गयी खन्दकों या अवस्थितियों के समक्ष अपने संस्थागत राजनीतिक व सुधार कार्यों के ज़रिये अपनी खन्दकें या अवस्थितियों का निर्माण करना होगा। केवल इसी रास्ते आज फासीवाद-विरोधी मज़दूर वर्गीय रणनीति सफल हो सकती है।

इसी से जुड़ी हुई बात यह भी है कि आज पहले के मुकाबले कहीं ज़्यादा हद तक फासीवादी ताक़तें और आन्दोलन मज़दूर वर्ग के लिए बुर्जुआ वर्ग की **अनौपचारिक राज्यसत्ता (informal state power)** का काम करते हैं। फासीवादी ताक़तें सत्ता में रहने पर भी आज के दौर में बहुत से काम उतने खुले और बेशर्म तरीके से नहीं कर पाती हैं, जितने खुले और बेशर्म तरीके से बीसवीं सदी की फासीवादी और नात्सी सत्ताओं ने किया था, जिसके ऐतिहासिक कारणों पर हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। इसलिए समाज में मौजूद फासीवादी गिरोहों के ज़रिये फासीवाद इस कमी को अपने आतंक के अनौपचारिक राज्य को स्थापित करके पूरा करने का प्रयास करता है। मिसाल के तौर पर, मोदी सरकार जो कई सारे काम आधिकारिक तौर पर नहीं कर सकती है, उन्हें समाज में मौजूद फासीवादी ताक़तों द्वारा, जैसे कि बजरंग दल, दुर्गा वाहिनी, विश्व हिन्दू परिषद्, या यहाँ तक कि भाजपा के ही कुछ साधु-सन्त सांसदों और विधायकों द्वारा करवाया जाता है। और जब फासीवादी पार्टी सत्ता में नहीं भी रहती हैं तो समाज में मौजूद फासीवादी गिरोह मज़दूर-आन्दोलन को तोड़ने वाली ताक़तों और पूँजीपति वर्ग के भाड़े के गुण्डा-गिरोहों की भूमिका को निभाते हैं। जो भी लोग देश में क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन में सक्रिय हैं वे जानते हैं कि किसी प्रकार हर हड़ताल या मज़दूर संघर्ष के दौरान स्थानीय फासीवादी गुण्डा-गिरोह उनके ख़िलाफ़ काम करते हैं।

एक अन्तिम नुक्ते पर चर्चा करके हम अगले उपशीर्षक की ओर आगे बढ़ेंगे। भारत और साथ ही दुनिया में कुछ वामपंथी विश्लेषक और संगठन हैं जिनका मानना है कि भारत में मोदी सरकार का आना और तमाम किस्म की भगवा मुहिमों का देश में हावी होना किसी

फासीवादी उभार का परिचायक नहीं है। उनमें से कुछ का मानना है कि मौजूदा सरकार एक धुर दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी सरकार है जिसमें फासीवाद के तत्व हैं। कुछ अन्य का मानना है कि यह 'नवउदारवादी पूँजी की प्रतिक्रियावादी तानाशाही' है। संघ परिवार और मोदी सरकार को सीधे फासीवादी न मानने या अर्द्ध-फासीवादी मानने के पीछे एक अनैतिहासिक नज़रिया काम करता है। यह नज़रिया बीसवीं सदी के फासीवादी और नात्सी आन्दोलनों और सत्ताओं से आज के फासीवादी उभार का सादृश्य निरूपण करता है और जब उसे उस सादृश्य निरूपण के आधार पर तमाम असमानताएँ मिलती हैं या कुछ अधूरी तुलनाएँ मिलती हैं, तो वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि मौजूदा फासीवादी उभार वास्तव में फासीवादी उभार नहीं है या पर्याप्त रूप से फासीवादी उभार नहीं है। या फिर अतीत के उदाहरणों के आधार पर फासीवाद की एक बेहद संकीर्ण परिभाषा तैयार की जाती है और जो फासीवादी उभार उस परिभाषा की सभी शर्तों को पूरा नहीं करता, उसे फासीवादी उभार नहीं माना जाता। हमारे दृष्टिकोण से यह पूरा नज़रिया इस बात को नहीं समझता कि सर्वहारा वर्ग की राजनीति के साथ-साथ पूँजीपति वर्ग की प्रतिक्रियावादी राजनीति भी ऐतिहासिक परिवर्तनों से होकर गुज़रती है; वह भी अपने अतीत से सबक लेती है और नये ऐतिहासिक सन्दर्भ में नये रूपों राजनीतिक, विचारधारात्मक और सांगठनिक रूपों को जन्म देती है। **वाल्टर बेंजामिन** के शब्दों का इस्तेमाल करें तो फासीवादी राजनीति भी 'रिडेम्प्टिव एक्टिविटी' (redemptive activity) करती है। अगर इस ऐतिहासिक नज़रिये से फासीवादी राजनीति और संगठन में आये बदलावों की समीक्षा न करें और अपने विश्लेषण को सादृश्य निरूपणों पर आधारित कर दें तो न तो फासीवादी राजनीति के इतिहास में निरन्तरता के पहलुओं की पहचान की जा सकती है और न ही विच्छेद के पहलुओं की। इसलिए सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण से किये जाने वाले विश्लेषण को जहाँ फासीवादी राजनीति में आये तमाम परिवर्तनों को सही ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर उनकी व्याख्या करनी चाहिए, वहीं उसे इन परिवर्तनों से विस्मित होकर फासीवादी राजनीति को पहचानने से इंकार नहीं करना चाहिए।

पूँजीवादी आर्थिक संकट और फासीवादी उभार के आर्थिक नियतत्ववादी विश्लेषण की सीमाएँ

कई यान्त्रिक और आर्थिक नियतत्ववादी विश्लेषक पूँजीवादी आर्थिक संकट और फासीवादी उभार के बीच एक 'दो दूनी चार' का या समानुपातिकता का सम्बन्ध देखते हैं। ऐसे विश्लेषण आपको असमाधेय अन्तरविरोधों के ढेर में ले जाकर गिरा देते हैं। इस प्रकार के विश्लेषण ऐसे नतीजों पर पहुँचाते हैं कि आर्थिक संकट लगभग अनिवार्य रूप में फासीवादी राजनीति के उदय में परिणत होते हैं। लेकिन ऐसा कोई भी दृष्टिकोण इस बात की व्याख्या नहीं कर पाता है कि आख़िर आर्थिक संकट ने अतीत में और वर्तमान में वैश्विक चरित्र होने के बावजूद सभी देशों में सशक्त फासीवादी आन्दोलनों और सत्ताओं को जन्म क्यों नहीं दिया? यह सच है कि आर्थिक संकटों ने लगभग हर देश में किसी न किसी प्रकार की

पूँजीवादी प्रतिक्रिया को पालने-पोसने का काम किया। **लेकिन हर पूँजीवादी प्रतिक्रिया को फासीवाद का नाम नहीं दिया जा सकता है।** मिसाल के तौर पर, सैनिक हुण्टाएँ और अन्य प्रकार तानाशाह सत्ताएँ भी कई देशों में संकट के दौर में अस्तित्व में आयीं। कइयों को बिखरे हुए फासीवादी समूहों का समर्थन भी प्राप्त था। लेकिन वे सत्ताएँ अपने आप में फासीवादी सत्ताएँ नहीं थीं। अपने विश्लेषण की तमाम गम्भीर सीमाओं के बावजूद इतालवी कम्युनिस्ट और बाद में संशोधनवादी **पामीरो तोग्लियाती** की यह चेतावनी बिल्कुल सही है कि कम्युनिस्टों में हर प्रकार की प्रतिक्रियावादी पूँजीवादी सत्ताओं को फासीवादी क़रार दे देने की प्रवृत्ति होती है जो बेहद घातक होती है क्योंकि यह सर्वहारा वर्ग को एक कारगार फासीवाद-विरोधी रणनीति बनाने की आज्ञा नहीं देती है।

फासीवादी प्रतिक्रिया अन्य प्रकार की पूँजीवादी प्रतिक्रियाओं जैसे कि सैन्य तानाशाही या अन्य प्रकार की संसदीय तानाशाहियों से इस मायने में भिन्न होती है है कि यह टटपुँजिया वर्गों के एक प्रतिक्रियावादी, कट्टरतावादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में अस्तित्व में आती है। यह बड़ी पूँजी की नग्न तानाशाही को स्थापित करती है हालाँकि इसका सामाजिक आधार टटपुँजिया वर्गों, सफेद कॉलर के मज़दूरों, लम्पट टटपुँजिया और लम्पट मज़दूर वर्ग के बीच होता है। इसलिए आर्थिक संकट आम तौर पर पूँजीवादी प्रतिक्रिया को जन्म देता है और यह पूँजीवादी प्रतिक्रिया कई किस्म के रूप में सामने आ सकती है, जिसमें से फासीवाद केवल एक रूप है। **निकोस पुलान्तज़ास** ने इसी बात को इस रूप में कहा है कि उदार पूँजीवादी जनवाद के अलावा तीन प्रकार की अपवादस्वरूप पैदा होने वाली पूँजीवादी राज्यसत्ताएँ या पूँजीपति वर्ग के अधिनायकत्व के तीन अपवादस्वरूप रूप होते हैं: फासीवादी राज्यसत्ता, सैन्य तानाशाही और बोनापार्तवादी सत्ता।

बहरहाल, आर्थिक संकट और फासीवादी उभार के बीच समानुपातिक आर्थिक रिश्ता कायम करने वाले विश्लेषण की सीमाओं को समझने के लिए यह समझना ज़रूरी है कि आर्थिक संकट किस प्रकार प्रतिक्रियावादी सम्भावना को जन्म देता है; किस प्रकार प्रतिक्रियावादी सम्भावना के साथ ही एक ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील सम्भावना भी आर्थिक संकट के एक परिणाम के तौर पर सामने आती है; किस प्रकार प्रतिक्रियावादी सम्भावना हर-हमेशा फासीवादी प्रतिक्रिया में परिणत नहीं होती है; और किसी प्रकार क्रान्तिकारी सम्भावना के वास्तविकता में तब्दील न होने पर अलग-अलग प्रकार की विशिष्ट राजनीतिक-ऐतिहासिक स्थितियों की मौजूदगी के कारण अलग-अलग किस्म की पूँजीवादी प्रतिक्रियाओं की सम्भावनाएँ वास्तविकता में तब्दील हो सकती हैं। **इसके लिए पूँजीवादी राज्य के प्रकार्यों और उनकी पूर्ति की शर्तों को समझना ज़रूरी है।**

पूँजीवादी राज्यसत्ता का सबसे अहम कार्य होता है पूँजीवादी समाज के उत्पादन सम्बन्धों के राजनीतिक व वैधिक रूपों को रेखांकित करना, उनकी हिफ़ाज़त करना और पूँजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों को संगठित करना और उन्हें "राष्ट्रीय हितों" के रूप में पेश करना। जब पूँजीवादी राज्यसत्ता यह कार्य करने में अक्षम होती है तब पूँजीवादी राज्य का संकट

पैदा होता है। आर्थिक संकट के दौर में मुनाफ़े की ख़तरनाक हदों तक गिरती दरों और आपसी गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के कारण पूँजीपति वर्ग अपनी राज्यसत्ता के ज़रिये राजनीतिक तौर पर संगठित हो पाने में कई बार असफल हो जाता है। इसके कारण वह अपने वर्ग हितों को "राष्ट्र" के हितों के तौर पर जनता के सामने पेश करने में भी असफल हो जाता है। परिणामतः पूँजीवादी राज्यसत्ता और पूँजीवादी शासक वर्ग अपना सामाजिक आधार खोने लगते हैं। पूरी पूँजीवादी व्यवस्था का वर्चस्व खण्डित होने लगता है; दूसरे शब्दों में पूँजीपति वर्ग के शासन की वैधता संकट में पड़ जाती है। उदार पूँजीवादी राज्यसत्ता को जिस प्रकार का और जिन कारणों से एक सामाजिक आधार प्राप्त होता है वह संकट के दौर में पूँजीवादी संचय के लिए एक बाधा बन जाता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार के, विशेष तौर पर, पहले कार्यकाल के कल्याणकारी लोकरंजकतावाद के दौरान जो झुनझुने जनता को थमाये गये थे (मसलन, ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम, सूचना अधिकार कानून, शिक्षा का अधिकार इत्यादि) उन दिखावटी झुनझुनों का ख़र्च उठाने में भी संकट के दौर में भारतीय पूँजीवादी राज्य अक्षम था; इन ख़र्चीले झुनझुनों की मौजूदगी के कारण भारतीय पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के सामने कई प्रकार के संकट उत्पन्न हो रहे थे। ऐसे में, पूँजीपति वर्ग की आपसी प्रतिस्पर्धा भी एक ऐसी दिशा में विकसित हो रही थी, जिसके कारण उसके राजनीतिक तौर पर संगठित होने और अपने वर्ग हितों को "राष्ट्र" के हितों के तौर पर पैकेज करने के कार्यभार का निपटारा होना मुश्किल होता जा रहा था। विशालकाय घोटालों का घटित होना केवल इस संकट की एक अभिव्यक्ति मात्र था। ऐसे में, पूँजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों को कोई ऐसी राज्यसत्ता ही संगठित कर सकती है, जिसकी पूँजीपति वर्ग से सापेक्षिक स्वायत्तता अपेक्षाकृत ज़्यादा हो; जो पूँजीपति वर्ग को वह सामाजिक आधार मुहैया करा सके, जिसे पूँजीपति वर्ग संकट के दौर में आपसी अन्तरविरोधों के कारण खोने लगता है। दक्षिणपंथी लोकरंजकता के विभिन्न संस्करणों की ज़मीन एक ऐसे दौर में ही पैदा होती है।

एक ऐसी स्थिति में ही हमारे देश में दक्षिणपंथी लोकरंजकता के विभिन्न संस्करण तैयार हुए हैं या मज़बूत हुए हैं, जिनमें से एक था 'आम आदमी पार्टी' का धुर दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद, जिसे सीधे तौर पर फासीवादी तो नहीं क़रार दिया जा सकता, लेकिन निश्चित तौर पर इसमें फासीवादी तत्वों की मौजूदगी से इंकार भी नहीं किया जा सकता है। दूसरा था भारत के क्लासिकीय फासीवादी संघ परिवार और भाजपा की राजनीति और प्रतिक्रियावादी आन्दोलन का उभार। हमने पहले भी किसी और जगह इंगित किया है कि इसमें से पहले वाली राजनीतिक धारा यानी 'आम आदमी पार्टी' की राजनीति कम-से-कम इसी रूप में मौजूद नहीं रह सकती है, जिस रूप में वह आज मौजूद है। या तो 'आम आदमी पार्टी' अपने 'विशिष्ट बिक्री गुण' को खोकर किसी भी आम पूँजीवादी पार्टी में तब्दील हो जायेगी (जिस सूरत में वह अन्ततः विसर्जित ही होगी) या फिर वह विसर्जित होकर भाजपा और संघ परिवार के फासीवादी उभार में ही इज़ाफ़ा करने का काम करेगी। जो भी

हो यह आराम से कहा जा सकता है कि इन दोनों धुर-दक्षिणपंथी उभारों में ज़्यादा स्थायी और टिकाऊ उभार संघ परिवार की फासीवादी राजनीति और आन्दोलन का उभार ही है।

बहरहाल, भारतीय पूँजीपति वर्ग द्वारा मोदी के विकल्प का चुनाव एक राजनीतिक फैसला था न कि शुद्धतः आर्थिक फैसला। हालाँकि राजनीति और आर्थिक पहलुओं के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती है। जैसा कि **लेनिन** ने कहा था, **'राजनीति अर्थशास्त्र की सर्वाधिक सान्द्र अभिव्यक्ति होती है।'** निश्चित तौर पर, यह राजनीतिक फैसला आर्थिक संकट से प्रेरित था। लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति होगा कि पूँजीपति वर्ग केवल यही फैसला ले सकता था। अभी पूँजीवादी दायरे के भीतर भी अन्य प्रतिक्रियावादी विकल्प मौजूद थे जिनका भारतीय पूँजीपति वर्ग चुनाव कर सकता था। वास्तव में, अगर हम आर्थिक नीतियों की बात करें तो संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार के दूसरे कार्यकाल की नीतियों और मौजूदा मोदी सरकार की नीतियों में परिमाणात्मक अन्तर ही मौजूद है, हालाँकि मोदी सरकार अपने श्रम-विरोधी एजेण्डे को ज़्यादा आक्रामक और खुले तरीके से लागू कर रही है और किसी भी प्रकार के प्रतिरोध के भीषण दमन के लिए ज़्यादा प्रतिबद्ध है। मगर आतंकवाद-रोधी कानून, ऑपरेशन ग्रीन हण्ट, श्रम कानूनों में सुधार से लेकर नर्म केसरिया लाइन, साम्राज्यवाद के साथ समझौते कर देश के संसाधनों की खुली लूट की छूट देने तक के मामले में कांग्रेस-नीत संप्रग गठबन्धन किसी भी रूप में भाजपा सरकार से ज़्यादा पीछे नहीं था। **लेकिन आर्थिक संकट का असर उन पूँजीपति वर्गों में ज़्यादा तेज़ी से भयाक्रान्तता का माहौल तैयार करता है जिनका आर्थिक सन्तुलन ज़्यादा नाजुक हो और जिनका जनवादी चरित्र या तो अनुपस्थित हो या फिर न होने की हद तक कमज़ोर और क्षणभंगुर हो। भारत के पूँजीपति वर्ग के बारे में ये दोनों ही बातें लागू होती हैं।** इसलिए यह संकट के दबाव में जल्दी भयाक्रान्त होता है, इसमें जल्दी भगदड़ मचती है, यह जल्दी अपने राजनीतिक संगठन व एका को खो बैठता है और इसीलिए यह कहीं जल्दी फासीवादी विकल्प को चुनने की ओर अग्रसर होता है। साथ ही, भारतीय समाज के टटपुँजिया वर्गों के फासीवादी रूपान्तरण की सम्भावना-सम्पन्नता भी आज के यूरोपीय देशों के टटपुँजिया वर्ग की अपेक्षा कहीं ज़्यादा है। इसलिए फासीवाद भारत के पूँजीपति वर्ग को ज़्यादा तेज़ी के साथ अपने टटपुँजिया उभार के ज़रिये तात्कालिक तौर पर एक सामाजिक आधार मुहैया करा सकता है। **इस रूप में भारत में फासीवादी उभार के कुछ विशिष्ट राजनीतिक और ऐतिहासिक कारण हैं जिन्हें समझना बेहद ज़रूरी है और केवल आर्थिक संकट के उपोत्पाद के रूप में उसका चित्रण हर-हमेशा बेहद सीमित होगा और आज के दौर में जो राजनीतिक सन्धि-बिन्दु उपस्थित है, उसकी कारणात्मक व्याख्या नहीं कर पायेगा।**

इस सन्दर्भ में पूँजीवादी व्यवस्था के तहत राज्यसत्ता और राजनीति की इस सापेक्षिक स्वायत्तता को समझना बेहद ज़रूरी है। **हर वर्ग समाज में राज्यसत्ता का कार्य होता है उस समाज के उत्पादन सम्बन्धों को कानूनी जामा पहनाना और उसकी हिफ़ाज़त करना या उसे कायम रखना।** लेकिन पूँजीवादी समाज अपने से पहले के समाजों से इस मायने में भिन्न होता है कि यह आर्थिक शोषण पर आधारित होता है, आर्थिकेतर उत्पीड़न पर नहीं।

यहाँ आर्थिक प्रक्रियाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए किसी प्रत्यक्ष राजनीतिक हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती है, जैसा कि सामन्तवाद में होता है। इसलिए पूँजीवादी राज्यसत्ता और पूँजीवादी राजनीति पूँजीवादी समाज में जारी उत्पादन व आर्थिक गतिविधियों से सापेक्षिक रूप से स्वायत्त होते हैं, हालाँकि अन्तिम विश्लेषण में किसी भी पूँजीवादी समाज में पूँजीवादी राज्यसत्ता को पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों, मुनाफ़े और पूँजी संचय के जारी रहने को सुनिश्चित करना होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अन्तिम विश्लेषण में पूँजीवादी राज्यसत्ता को पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के पुनरुत्पादन को सुनिश्चित करना होता है। लेकिन पूँजीवादी राज्यसत्ता यह कार्य वर्चस्व की अपनी प्रणाली के द्वारा करती है। पूँजीपति वर्ग केवल अपनी राज्यसत्ता के द्वारा ही एक वर्ग के तौर पर राजनीतिक रूप से संगठित होता है, या कहें कि अपने वैयक्तिक पूँजीवादी हितों से ऊपर उठकर अपने सामूहिक पूँजीवादी वर्ग हितों की मंज़िल तक पहुँचता है। राज्यसत्ता जब भी पूँजीपति वर्ग के वैयक्तिक सदस्यों के साथ अपनी निकटता को छिपा नहीं पाती तो यह उसकी भारी असफलता होती है और उसकी वैधता को कमज़ोर करती है। दूसरे शब्दों में, पूँजीवादी राज्यसत्ता अगर पूँजीपति वर्ग के वैयक्तिक सदस्यों से दूरी को प्रदर्शित करने में असफल होगा तो वह पूँजीपति वर्ग के हितों को राजनीतिक तौर पर संगठित कर पाने और उनकी नुमाइन्दगी कर पाने की क्षमता खोता जायेगा। वैयक्तिक पूँजीपतियों से दूरी को प्रदर्शित करके ही पूँजीवादी राज्यसत्ता पूँजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों को संगठित कर सकती है और उसे "राष्ट्रीय हित" के तौर पर जनता के बीच पेश कर वैधता अर्जित कर सकती है, और इसके लिए पूँजीवादी राज्यसत्ता को कई बार पूँजीपति वर्ग के वैयक्तिक सदस्यों की इच्छा के विपरीत कार्य भी करना होता है। यह पूँजीवादी राज्यसत्ता का सबसे अहम कार्य होता है।

इसी के साथ पूँजीवादी राज्यसत्ता का दूसरा सबसे अहम कार्य जुड़ा हुआ है। यह दूसरा कार्यभार है मज़दूर वर्ग व अन्य शासित मेहनतकश वर्गों को विसंगठित रखना, उन्हें लगातार वैयक्तिक या आणविकीकृत (atomized) व्यक्तियों के रूप में बनाये रखना। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्हें 'नागरिक' के रूप में, बुर्जुआ "राष्ट्र" के एक अंग या सदस्य के रूप में उत्पादित व पुनरुत्पादित करना (बड़े विस्मय की बात है कि सर्वहारा राजनीति का अगुवा होने का दावा करने वाला एक अर्थवादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी संगठन 'नागरिक' नाम से अपना मुखपत्र निकालता है, जो कि उसकी अधकचरी और दरिद्र ऐतिहासिक समझदारी को दिखलाता है; नागरिकता का पूरा विमर्श ही वास्तव में बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों के दौर में पैदा हुआ था और आज इस विमर्श की कोई विशिष्ट प्रगतिशील सम्भावना शेष नहीं रह गयी है)।

पूँजीवादी राज्य को पूँजीवादी आर्थिक सम्बन्धों के कानूनी औपचारिकीकरण और उनके सांगठनिक ढाँचे को तैयार करने और पूँजीवादी उत्पादन को सम्भव बनाने के लिए अवसरंचनात्मक ढाँचा तैयार करने के अलावा **संकटों को टालने के लिए आर्थिक विनियमन करने, श्रम और पूँजी के बीच के अन्तरविरोधों को ख़तरनाक हदों तक विकसित**

होने से रोकने के लिए राजकीय हस्तक्षेप द्वारा उन्हें विनियमित करने और साथ ही कल्याणकारी नीतियों और जुमलों के ज़रिये और साथ ही राष्ट्रीय कट्टरवाद के ज़रिये अपने शासन की ख़ातिर जनता की सहमति का निर्माण भी करना होता है। इनमें से विशेष तौर पर बाद के तीन कार्यों को पूरा करने के लिए उसे कभी-कभी पूँजीपति वर्ग के बहुलांश की इच्छाओं की अवहेलना भी करनी पड़ती है। लेकिन पहले दो कार्यों के लिए उसे पूँजीपति वर्ग के प्रत्यक्ष सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इन सारे प्रकार्यों के निष्पादन के लिए पूँजीवादी राज्यसत्ता को आर्थिक संसाधनों के साथ ही साथ न सिर्फ़ जनता की सहमति की आवश्यकता पड़ती है, बल्कि पूँजीपति वर्ग के भी प्रत्यक्ष सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। ज़ाहिर है, इसके लिए अर्थव्यवस्था में लगातार वृद्धि, यानी कि स्वस्थ व सतत् पूँजीवादी मुनाफ़े की, और साथ ही सामाजिक जीवन स्तर में बेहतरी की आवश्यकता होती है जो कि जनता के बीच सहमति का निर्माण कर सके और पूँजीपति वर्ग के सहयोग को सुनिश्चित कर सके। **लेकिन आर्थिक संकट के दौर में राज्यसत्ता के पास ये सारी सहूलियतें नहीं रह जाती हैं।** आर्थिक संकट के दौरों में जनता के व्यापक जनसमुदायों के बीच सहमति के निर्माण की प्रक्रिया को पूँजी संचय को जारी रखते हुए चलाना बेहद मुश्किल होता जाता है। **दूसरे शब्दों में, पूँजीपति वर्ग के पूँजी संचय को सुनिश्चित करना और जनता के बीच पूँजीवादी शासन की वैधता को बरक़रार रखना एक साथ असम्भव हो जाता है।** विशेष तौर पर, अगर किसी मज़बूत सुधारवादी मज़दूर आन्दोलन का दबाव हो तो आर्थिक संकट का असर पूँजीपति वर्ग पर और भी ज़्यादा ज़बरदस्त होता है, जैसा कि इटली और जर्मनी में हुआ। ऐसे में, पूँजीपति वर्ग की प्रतिक्रिया का फासीवादी रूप लेने की सम्भावना ज़्यादा प्रबल होती है। अगर मज़दूर वर्ग की राजनीति क्रान्तिकारी विकल्प को न अपनाकर सुधारवादी, अर्थवादी, संशोधनवादी और ट्रेड यूनियनवादी विकल्प को अपनाती है, तो वास्तव में वह फासीवादी उभार और प्रतिक्रिया को बढ़ावा देने का ही काम करती है। ऐसी सुधारवादी मज़दूर राजनीति न तो पूँजीवादी व्यवस्था के आगे जाने की बात करती है और न ही पूँजीवादी व्यवस्था के लिए साँस लेने की जगह छोड़ती है, जिसका नतीजा होता है पूँजीवादी प्रतिक्रिया जो कि फासीवादी रूप भी ले सकती है।

फासीवादी उभार और टटपुँजिया वर्गों की भूमिका का प्रश्न

हमने प्रस्तुत पुस्तिका में लिखा है कि फासीवादी उभार का प्रमुख सामाजिक आधार तमाम टटपुँजिया वर्ग होते हैं। हमने यह भी स्पष्ट किया है कि पूँजीवादी लूट और मुनाफ़े के कारण उजड़ते हुए टटपुँजिया वर्ग में फासीवादी प्रचार का शिकार होने की सम्भावना होती है; बर्बाद होता हुआ टटपुँजिया वर्ग यदि अपनी बर्बादी के कारणों को नहीं समझता तो फिर फासीवाद उसके सामने एक मिथ्या शत्रु खड़ा करने में सफल होता है और यह मिथ्या शत्रु होता है मज़दूर वर्ग और उसका आन्दोलन और साथ ही धार्मिक, नस्लीय, जातीय या किसी भी किस्म की अल्पसंख्यक आबादी, जिसे 'बाहरी', 'अन्य', 'भिन्न' आदि के रूप में चित्रित करके एक ख़तरे के तौर पेश किया जा सके। इस वर्ग के भीतर एक किस्म के अन्धराष्ट्रवाद को भड़काना, तानाशाही के लिए समर्थन पैदा करना और वास्तव में अपने ही आर्थिक और राजनीतिक हितों के ख़िलाफ़ जाते हुए फासीवादी बर्बरता की हिमायत करने और उसका उपकरण बनने की सम्भावनासम्पन्नता मौजूद होती है। साथ ही, हमने यह भी स्पष्ट किया था कि सामाजिक-जनवादियों यानी संसदीय वामपंथियों के अर्थवाद और सुधारवाद के कारण भी मज़दूर आन्दोलन एक राजनीतिक रवैया नहीं अपना पाता। इसके कारण वह निम्न मध्यवर्ग के विभिन्न संस्तरों को अपने साथ लाने का प्रयास नहीं करता, जिसके कारण ये वर्ग फासीवादी प्रचार के समक्ष अरक्षित होते हैं। एक प्रकार से चाहे क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में हो या फिर ग़द्दार संशोधनवादियों के नेतृत्व में, अर्थवादी व ट्रेडयूनियनवादी मज़दूर आन्दोलन फासीवाद को इस बात की इजाज़त दे देता है कि वह टटपुँजिया वर्गों की फासीवादी गोलबन्दी कर उसे मज़दूर आन्दोलन के विरुद्ध एक प्रति-सन्तुलनकारी शक्ति या प्रतिभार (बटखरे) के रूप में इस्तेमाल करे। यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद की यह ग़लती केवल संसदीय वामपंथियों तक नहीं सीमित है बल्कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में भी इस प्रकार के अर्थवाद का असर है। जैसा कि **लेनिन** ने लिखा था, **'अर्थवाद राजनीतिक प्रश्न उठा पाने में अक्षमता की प्रवृत्ति का नाम होता है।'** आज देश में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन यदि मध्यवर्ग व निम्न मध्यवर्ग के विभिन्न स्तरों तक कोई पहुँच रखता है तो वह मुख्य रूप से कुछ विश्वविद्यालय परिसरों और विशेष तौर पर कुछ कुलीन विश्वविद्यालय परिसरों तक सीमित है। एक व्यापक निम्न मध्यवर्गीय और अर्द्धमज़दूर बनने की सीमा पर खड़ी आम ग़रीब आबादी है जिसमें क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन की कोई विशेष पकड़ नहीं है। इस आबादी के बीच या तो संघ परिवार के विभिन्न फासीवादी संगठन काम कर रहे हैं और उन्हें 'हिन्दू राष्ट्र' के मिथ्या समाधान के लिए सहमत करने का प्रयास कर रहे हैं या फिर इन वर्गों में साम्राज्यवादियों के टुकड़ों पर पलने वाले तमाम एन.जी.ओ. संगठन काम कर रहे हैं और इन वर्गों में सुधारवाद के ज़रिये भिक्षावृत्ति पैदाकर उनकी क्रान्तिकारी सम्भावनाओं पर चोट पहुँचा रहे हैं। **साम्राज्यवाद-पोषित एन.जी.ओ. राजनीति और पतित समाजवादी**

राजनीति के अवैध सम्बन्धों से पैदा होने वाली 'आम आदमी पार्टी' की राजनीति भी इन्हीं वर्गों को निशाना बना रही है।

मगर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन इन वर्गों में अपने क्रान्तिकारी संगठनों को खड़ा करने के काम में अभी काफ़ी पीछे है और इसे कदम-कदम पर इसकी कीमत भी चुकानी पड़ती है। मुम्बई के मज़दूर आन्दोलन के ध्वंस में शिवसेना एक अहम भूमिका निभाने में कामयाब रही तो इसके दो प्रमुख कारण थेः **पहला**, शिवसेना ने तमाम आम मेहनतकश आबादी के रिहायशी इलाकों में 'लॉयल्टी नेटवर्क', मित्र मण्डल, युवा मण्डल, जिम आदि बनाने के ज़रिये अपना सामाजिक आधार तैयार किया जबकि मज़दूर वर्ग का आन्दोलन ट्रेडयूनियनवादी फ्रेमवर्क से बाहर नहीं निकल सका और वहाँ तक अपनी पहुँच नहीं बना सका; **दूसरा**, शिवसेना ने निम्न मध्य वर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से की मराठी कट्टरवाद के जुमले के ज़रिये फासीवादी प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी करने में सफलता पायी क्योंकि कम्युनिस्ट आन्दोलन ने इन वर्गों में क्रान्तिकारी प्रचार और उद्वेलन को पर्याप्त महत्व नहीं दिया। इसलिए क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन के लिए एक अहम सबक यह है कि उसे टटपुँजिया वर्गों के विशेष तौर पर निम्नतर संस्तरों के बीच सतत् राजनीतिक प्रचार करना होगा और संस्थाबद्ध हस्तक्षेप करते हुए उन्हें संगठित करना होगा; उनके सामने यह स्पष्ट करना होगा कि उनके जीवन की अनिश्चितता और असुरक्षा के लिए वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था ज़िम्मेदार है; उनके बीच सुधार कार्यों व सांस्कृतिक कार्यों की निरन्तरता बनानी होगी। यह समझना बेहद अहम है कि उनके बीच इस प्रकार के कार्यों को **संस्थाबद्ध रूप (institutional form)** देना होगा। मिसाल के तौर पर, नौजवानों व बच्चों के पुस्तकालय, जिम, खेल क्लब आदि बनाने होंगे, मेडिकल कैम्प, सफाई अभियान जैसे कार्यक्रम आयोजित करने होंगे, अपनी जनता डिस्पेंसरी व जनता क्लिनिक खोलने होंगे, मृतक वाहन सेवा आदि शुरू करनी होगी और इसी प्रकार के अगणित कार्य करने होंगे। और सबसे अहम बात यह कि इन वर्गों के विभिन्न हिस्सों, जैसे कि युवाओं, स्त्रियों, छात्रों व नागरिकों के जनसंगठन बनाने होंगे और उन्हें उनकी आर्थिक व सामाजिक माँगों के लिए संघर्ष करने के लिए शिक्षित-प्रशिक्षित करना होगा। लेकिन केवल आर्थिक मुद्दों तक हमें अपने प्रचार को सीमित नहीं रखना होगा, बल्कि जनसमुदायों के भीतर मौजूद उन प्रवृत्तियों और मूल्यों-मान्यताओं के विरुद्ध मित्रतापूर्ण संघर्ष चलाना होगा, जोकि उन्हें फासीवादी राजनीति के समक्ष अरक्षित बनाती हैं, विशेष तौर पर पितृसत्ता-विरोधी व स्त्री मुक्ति का संघर्ष और जाति उन्मूलन के लिए सर्वहारा वर्गीय कार्यदिशा के साथ जुझारू संघर्ष। **केवल इसी रास्ते से हम फ़ासीवादियों के विरुद्ध समाज में अपनी अवस्थितियाँ बाँध सकते हैं और उनसे लड़ सकते हैं।**

लेकिन इतना ही समझना काफ़ी नहीं है। टटपुँजिया वर्गों के हरेक हिस्से को इन सारे प्रयासों के ज़रिये भी मज़दूर वर्ग के पक्ष में नहीं जीता जा सकता है। और इसमें चिन्तित होने वाली भी कोई बात नहीं है! टटपुँजिया वर्ग कोई एकाश्मी निकाय नहीं है और इसके तमाम संस्तर होते हैं। मज़दूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग से सापेक्षिक दूरी के अनुसार इनके

राजनीतिक वर्ग चरित्र में परिवर्तन होता है। पूँजीवादी लूट से इसके कुछ संस्तर उजड़ते हैं तो एक छोटा-सा हिस्सा सामाजिक पदानुक्रम में सीढ़ियाँ चढ़ता भी जाता है। **फासीवाद जिस हद तक उजड़ते हुए टटपुँजिया वर्ग का मिथकीय या रूमानी उभार है वह उसी हद तक सामाजिक रूप से ऊपर की ओर गतिमान टटपुँजिया वर्ग का आन्दोलन भी है।** और उजड़ता हुआ टटपुँजिया वर्ग अगर फासीवादी उभार का आधार बनता है तो इसका एक अहम कारण तो क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों और मज़दूर आन्दोलन की विफलता भी है, जैसा कि हमने ऊपर प्रदर्शित किया। मगर सामाजिक पदानुक्रम में ऊपर की ओर चढ़ते टटपुँजिया वर्ग का फासीवाद का सामाजिक अवलम्ब बनना ज़्यादा स्वाभाविक है और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट प्रचार को चाहे जितनी भी सटीकता और कुशलता के साथ अंजाम दिया जाय, इस वर्ग के एक हिस्से को ही जीता जा सकता है और उस हिस्से के छोटा होने की सम्भावना ही ज़्यादा होगी। हमने अपनी पुस्तिका में इस पहलू को सन्तोषजनक रूप से स्पष्ट नहीं किया था, क्योंकि यह यथार्थ का प्रमुख पहलू नहीं है। लेकिन आज के परिदृश्य में फासीवादी उभार के तमाम पहलुओं को समझने के लिए हमें इस नुक्ते को स्पष्ट करने की आवश्यकता महसूस हो रही है। प्रमुख पहलू यही है कि उजड़ते हुए टटपुँजिया वर्ग फासीवादी प्रतिक्रिया का सामाजिक आधार बनते हैं क्योंकि समूचे टटपुँजिया वर्गों में ये उजड़ते हुए वर्ग बहुसंख्या होते हैं। लेकिन फिर भी इस प्रमुख पहलू पर सारी सच्चाई को अपचयित करने देने के अपने नुकसान भी हैं। अगर दूसरे गौण पहलू को नहीं समझा जाता है तो टटपुँजिया वर्गों में क्रान्तिकारी प्रचार और उद्वेलन की उपयुक्त रणनीति नहीं तैयार की जा सकती है।

यह सच है कि टटपुँजिया वर्गों का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा पूँजीवादी संचय की प्रक्रिया में अनिश्चितता और सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा के गड्ढे में धकेल दिया जाता है। यदि उनके बीच व्यापक और सघन पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी प्रचार न हो तो उसका एक बड़ा हिस्सा इस फासीवादी प्रचार को मानने को तैयार होता है कि उसके जीवन की अनिश्चितता के लिए मज़दूर वर्ग को मिले हुए "विशेषाधिकार" (सुरक्षात्मक श्रम कानून, न्यूनतम मज़दूरी, अन्य कल्याणकारी नीतियाँ आदि) ज़िम्मेदार हैं क्योंकि इनके कारण "राष्ट्र" का विकास नहीं हो पा रहा है, देश पूरी दुनिया में प्रतिस्पर्द्धात्मक नहीं हो पाता है, आर्थिक वृद्धि की दर कम हो जाती है, वगैरह। मोदी सरकार आजकल इस प्रकार का प्रचार ज़ोर-शोर से कर रही है। यह बात टटपुँजिया वर्ग के विशेष तौर पर ऊपरी हिस्सों और उद्यमी तबके पर लागू होती हैं। हालाँकि यह टटपुँजिया वर्ग किसी भी रूप में तकनोलॉजी, आधुनिकीकरण और उद्योगों का विरोधी नहीं होता है, मगर फिर भी यह संघ परिवार के काल्पनिक आधुनिकता-विरोध की ओर काफ़ी आकर्षित होता है। चूँकि इस वर्ग के पास देखने के लिए कोई भविष्य नहीं होता है या चूँकि इसे भविष्य का सपना दिखाने वाली ताक़तें मौजूद नहीं होतीं इसलिए इसे किसी कल्पित मिथकीय अतीत के चित्र बहुत रमणीय लगते हैं, जैसे कि किसी "रामराज्य" या किसी भी किस्म के प्राचीन हिन्दू राज्य की तस्वीर। इन वर्गों में पूँजीवादी प्रचार के प्रभाविता का एक और कारण भी होता है। इनमें से

कई पूँजीपति या उद्यमी बनने के सपने भी पालते रहते हैं। निम्न मध्यवर्ग का वह हिस्सा विशेष तौर पर उद्यमी बन जाने के इस सपने या कहें भ्रम का शिकार होता है जो कि पेशेवर के तौर पर काम नहीं करता, यानी कि जो किसी और नियोक्ता के पास नौकरी नहीं करता और अपना छोटा-मोटा कोई काम करता है, जैसे कि कोई वर्कशॉप या दुकान आदि चलाना। इस हिस्से को हमेशा यह लगता है कि वह भी एक दिन समृद्ध पूँजीपति बन जायेगा! इन लोगों को धीरूभाई अम्बानी जैसों के 'नीचे से ऊपर उठने' की कहानी बहुत अपील करती है! यह बात दीगर है कि इस वर्ग का बिरला ही कोई ऊपर चढ़कर पूँजीपति बन पाता है! इनमें से अधिकांश कभी इस स्थिति में ही नहीं आ पाते हैं। मगर फिर भी अपने छोटे-मोटे धंधे का मालिक होने के कारण इनके भीतर मालिक बनने का भ्रम, सपना और मानसिकता मौजूद होती है। इस सपने के सच न हो पाने के कारण के तौर पर वे हमेशा मज़दूरों को देखते हैं, जो कि "आलसी और कामचोर" होते हैं; ऐसा सोचने का कारण यह होता है कि ऐसे बेहद छोटे उद्यमी भी कई बार एक-दो मज़दूर काम पर रखते हैं। **इस वर्ग को उदार पूँजीवादी संसदीय जनवाद के विरुद्ध भड़का कर "राष्ट्र-विकास" हेतु, "रामराज्य-पुनर्स्थापना" हेतु फासीवादी तानाशाही और एक "मज़बूत नेता", "छप्पन इंच छाती वाले प्रधानमन्त्री" के लिए तैयार करना अपेक्षाकृत आसान होता है!** अपनी सामाजिक अवस्थिति से ही यह किसी भी प्रकार के प्रतिक्रियावादी प्रचार के सामने कहीं ज़्यादा निहत्था होता है। भारत में ऐसा टटपुँजिया उद्यमी वर्ग कोई छोटा नहीं है और इसको क्रान्तिकारी अवस्थिति पर जीतना सबसे मुश्किल होता है और इसका एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा अक्सर फासीवादी उभार का एक सामाजिक आधार बनता है। इस 'पूँजीपति बनने के आकांक्षी उद्यमी टटपुँजिया वर्ग' के मुकाबले किसी अन्य मालिक को अपना श्रम बेचने वाले टटपुँजिया वर्ग के क्रान्तिकारी अवस्थिति पर आने की सम्भावनासम्पन्नता कहीं ज़्यादा होती है और क्रान्तिकारी शक्तियों को उन्हीं पर अपने प्रयासों को केन्द्रित करना चाहिए।

टटपुँजिया वर्ग का एक दूसरा छोटा-सा हिस्सा ऐसा भी होता है जो कि सामाजिक पदानुक्रम में ऊपर की सीढ़ियाँ चढ़ रहा होता है, जो कि पूँजीवादी लूट का एक छोटा लाभ प्राप्तकर्ता होता है। छोटे ठेकेदारों, जॉबरों, दलालों, मोटी तनख़्वाहें पाने वाले पढ़े-लिखे शिक्षित मध्यवर्गीय युवाओं (जैसे कि आई.टी., बी.पी.ओ. सेक्टर आदि में काम करने वाली आबादी), अच्छी तनख़्वाहों वाली सरकारी नौकरी करने वाले मध्यवर्ग को पूँजीवादी संचय और विकास का लाभ भी प्राप्त होता है। उसे आधुनिकीकरण व उद्योगीकरण से भी फायदा मिलता है। इन वर्गों की राजनीतिक चेतना, या कहें भावनाएँ, पूँजीवादी व्यवस्था की अस्थिरता से काफ़ी डावाँडोल होती है। उसे हर ऐसी चीज़ से नफ़रत होती है जो कि उसके जीवन की प्रीतिकर स्थिरता या कहें ठहराव को अस्थिर करती हुई नज़र आती है। मिसाल के तौर पर, अगर वह अपनी बालकनी से मज़दूरों के किसी जुलूस को भी देखता है तो घबरा जाता है; उसे एकदम असम्बद्ध तरीके से तत्काल अपनी समृद्धि और सम्पत्ति पर ख़तरा महसूस होता है और साथ ही उसे अपने परिवार और "उसकी स्त्रियों" पर भी ख़तरा महसूस होता है। । यहीं से उसकी प्रतिक्रिया पैदा होती है। उसे लगता है कि मज़दूरों पर

मज़बूती से लगाम कसने के लिए उदार पूँजीवादी जनवाद नाक़ाफ़ी है और एक तानाशाह होना चाहिए जो इन सबके पेंच टाइट करके रखे! विशेष तौर पर आर्थिक संकट के दौर में इस खाती-पीती टटपुँजिया आबादी के बीच इस प्रकार के विचारों की ज़बरदस्त अपील होती है। अगर आप तमाम सामाजिक मीडिया की वेबसाइटों पर मोदी-समर्थकों की एक पूरी प्रोफाइल तैयार करें, तो आप पायेंगे कि उनमें से करीब 90 प्रतिशत लोग इसी वर्ग और इन्हीं पेशों से आते हैं। **अपनी प्रतिक्रिया में यह वर्ग जल्द ही सामान्यीकरण कर लेता है और इसकी प्रतिक्रिया जल्द ही पूरी तरह से अन्धी और निरंकुश हो जाती है। मिसाल के तौर पर, यह वर्ग जल्द ही मुखर तौर पर स्त्री-विरोधी, दलित-विरोधी, दमित राष्ट्रीयता-विरोधी, आदि भी हो जाता है, हालाँकि ऐसा बन जाने की सुषुप्त सम्भावना उसमें हमेशा से ही मौजूद रहती है। ये ही लोग हैं जो कविता कृष्णन, अभिनेत्री खुशबू और श्रुति सेठ के विरुद्ध ट्विटर व फेसबुक जैसी वेबसाइटों पर भयंकर अश्लील और गन्दी टिप्पणियाँ करते हुए नरेन्द्र मोदी का गुणगान करते हैं।** इस वर्ग का कोई व्यक्ति पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी पक्ष के साथ आ सकता है मगर एक वर्ग के तौर पर यह किसी सूरत में क्रान्तिकारी पक्ष के साथ नहीं आ सकता है।

टटपुँजिया वर्ग के ये दो हिस्से ऐसे हैं जो कि क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन के मित्र बनने की क्षमता नहीं रखते हैं और नैसर्गिक तौर पर इनमें प्रतिक्रिया का आधार बनने की सम्भावना ज़्यादा होती है, यानी कि टटपुँजिया वर्ग का ऊपरी हिस्सा और निम्न पूँजीवादी उद्यमी आबादी, यानी 'पूँजीपति बनने की आकांक्षी' टटपुँजिया आबादी। **इसलिए यह भी समझने की आवश्यकता है कि केवल एक मिथ्या चेतना का शिकार उजड़ता हुआ टटपुँजिया वर्ग ही फासीवादी उभार का सामाजिक आधार नहीं बनता, बल्कि सामाजिक रूप से ऊपर की ओर गतिमान और पूँजीवादी लूट का लाभ प्राप्तकर्ता बनने वाला टटपुँजिया वर्ग भी फासीवादी उभार का ज़बरदस्त सामाजिक आधार बनता है। फासीवाद केवल उजड़ते टटपुँजिया वर्ग का प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन नहीं है, बल्कि इस आर्थिक तौर पर उभरते टटपुँजिया वर्ग का भी प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है। सच कहें तो यह उभरता हुआ टटपुँजिया वर्ग सचेतन तौर पर इस फासीवादी प्रतिक्रिया का सामाजिक आधार बनता है और टटपुँजिया वर्गों के रूमानी उभार का नेतृत्व भी इसी के पास होता है। यह खाता-पीता टटपुँजिया वर्ग मिथ्या वर्ग भावना से कम अपने नैसर्गिक वर्ग हितों से ज़्यादा प्रेरित होता है, जबकि उजड़ता हुआ टटपुँजिया वर्ग वास्तव में अपने असली वर्ग हितों के प्रति अनभिज्ञ होता है और इस अज्ञान के कारण ही वह फासीवादी उभार के साथ खड़ा होता है।** इसीलिए उजड़ता हुआ टटपुँजिया वर्ग या दूसरे शब्दों में कहें तो निम्न मध्यवर्गीय आबादी और विशेषकर आम मेहनतकश निम्न मध्यवर्गीय आबादी के भीतर क्रान्तिकारी पक्ष के साथ आने की सम्भावना ज़्यादा होती है बशर्ते कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन अपने सतत् प्रचार और उद्वेलन के ज़रिये इस वर्ग को अपने पक्ष में लेने के लिए रचनात्मक, नये और व्यावहारिक तरीकों और रूपों का इस्तेमाल करे और अर्थवादी रवैये को छोड़ कर एक क्रान्तिकारी राजनीतिक रवैया अख्तियार करे।

मज़दूर वर्ग के कौन-से हिस्से फासीवाद का आधार बन सकते हैं

कई मार्क्सवादी विश्लेषणों में यह प्रवृत्ति पायी गयी है कि वे फासीवादी आन्दोलनों की मज़दूर वर्ग के भीतर पकड़ को कम करके दिखलाते हैं। हमने मौजूदा पुस्तिका में संक्षेप में इस बात पर चर्चा की थी कि मज़दूर वर्ग के भी कुछ हिस्सों में फासीवादी राजनीति का असर होता है और वे किस प्रकार फासीवादी उभार का एक उपकरण बन बैठते हैं। फिर भी हमें लगता है कि इस पर थोड़ा और विस्तार में जाने की आवश्यकता है क्योंकि यह मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक तात्कालिक महत्व रखता है और चुनौती पेश करता है। इसे न समझने के कारण पहले ही काफ़ी नुकसान हो चुका है और आगे चलकर और भी ज़्यादा नुकसान होगा।

हमने पुस्तिका में दिखलाया था कि किस प्रकार संघ परिवार से जुड़े हुए 'भारतीय मज़दूर संघ' द्वारा मज़दूरों के बीच पूँजीवादी राष्ट्रवाद का प्रचार किया जाता है और किस तरह से विशेष तौर पर सफेद कॉलर वाले मज़दूरों (जो कि अपने आपको 'कर्मचारी' कहलवाना पसन्द करते हैं!) के बीच फासीवादी का आधार तैयार होता है। कुछ वर्षों पहले भारतीय मज़दूर संघ का माकपा से सम्बद्ध ट्रेड यूनियन संघ 'सीटू' को पीछे छोड़ते हुए सबसे बड़ी यूनियन बन जाना सफेद कॉलर के मज़दूरों के बीच फासीवादी राजनीति की बढ़ती दख़ल को ही प्रदर्शित करता है। और यह कोई चौंकाने वाली बात भी नहीं है। अतीत में भी मज़दूर वर्ग के इस हिस्से का एक अंग फासीवादी उभार का आधार बन चुका है। आइये कुछ ठोस आँकड़ों पर निगाह डालें और फिर फासीवाद का आधार बनने वाले मज़दूर तबके का करीबी से विश्लेषण करें।

1930 में नात्सी पार्टी की सदस्यों में से 26.3 प्रतिशत मज़दूर थे। यह आँकड़ा 1932 में बढ़कर 32.5 प्रतिशत हो गया। इटली में तो फासीवादी आन्दोलन ने मज़दूर आन्दोलन के भीतर जड़ जमाने से ही शुरुआत की थी। हंगरी के 'एरो क्रॉस' नामक फासीवादी संगठन की भी मज़दूर आबादी के एक हिस्से में अच्छी पकड़ थी। बताने की ज़रूरत नहीं है कि इसके लिए फासीवादी राजनीति ने इटली और जर्मनी दोनों ही देशों में मज़दूरों के इलाकों में कुछ कारपोरेटवादी उपक्रम भी चलाये थे, जैसे कि मज़दूरों के लिए सुरक्षा फण्ड पूल का निर्माण करना; ज़रूरत पड़ने पर कुछेक मज़दूरों को ऋण देना, फासीवादी संगठन के चहेते मज़दूरों के समुदाय (जाति, क्षेत्र, भाषा, आदि) के कुछेक लोगों को नौकरियाँ दिलवा देना आदि। शिवसेना ने भी महाराष्ट्र में कुछ इलाकों में पकड़ बनाने के लिए उन इलाके के कुछ विशिष्ट समुदायों के कुछेक लोगों को किन्हीं कम्पनियों या उपक्रमों में बन्दूक की नोक पर नौकरी दिलवाने का काम किया था, जिससे कि उस पूरे समुदाय में ही उसका आधार तैयार होता था। **ज़ाहिर है, ऐसे तरीकों से मज़दूर आबादी को बेरोज़गारी या ग़रीबी से निजात नहीं मिल जाती है। बस एक भ्रम तैयार होता है और समुदायगत चेतना में बँधे मज़दूर, दूसरे शब्दों में कहें तो राजनीतिक चेतना की कमी के शिकार मज़दूर ऐसे फासीवादी संगठनों का समर्थन करते हैं और उनमें से कुछ उनके पैदल सैनिक बनने को भी तैयार हो**

जाते हैं। भारत में भी भाजपा और संघ परिवार के अन्य अनुषंगी संगठन इन कारपोरेटवादी तरीकों को अपनाते हैं। कारपोरेटवाद की सोच मुसोलिनी ने इटली में लागू की थी जिसका मकसद था मज़दूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच सहकार की बात करना और उनके अन्तरविरोधों को विभिन्न तरीकों से कुन्द करना। इसके लिए मज़दूरों के प्रतिनिधियों और पूँजीपतियों के प्रतिनिधियों को फासीवादी पार्टी की मध्यस्थता में साथ बिठाया जाता था। **हालाँकि इस प्रकार के सहकार का अन्त हमेशा ऐसे समझौतों या सौदों में होता था जिसमें मज़दूर वर्ग को पूँजीपति वर्ग की शर्तों को स्वीकार करना पड़ता था।** कहने की आवश्यकता नहीं है कि फासीवादी ताक़तें मज़दूरों के बीच अपने आधार को तैयार करने के लिए मज़दूरों के बीच मौजूद कूपमण्डूकतापूर्ण विचारों, धार्मिक ढोंग, ढकोसले और पाखण्ड और हर प्रकार की पिछड़ी हुई धार्मिक व जातिगत चेतना का भी इस्तेमाल करती हैं। इसलिए विशेष तौर पर सफेद कॉलर वाले मज़दूरों का एक हिस्सा फासीवादी उभार का सामाजिक आधार बनता है। लेकिन साथ ही मज़दूर आबादी के कुछ अन्य हिस्से भी होते हैं जिनमें फासीवादी उभार का आधार बन बैठने की सम्भावना होती है।

टिम मेसन नामक एक मार्क्सवादी अध्येता ने नात्सी जर्मनी का अध्ययन करते हुए दिखलाया था कि मज़दूर वर्ग के कौन-से हिस्सों में फासीवादी प्रचार के समक्ष कमज़ोर पड़ने की प्रवृत्ति और फासीवाद का आधार बनने की सम्भावना सबसे ज़्यादा होती है। मेसन ने दिखलाया है कि ठेका, दिहाड़ी या अस्थायी प्रकृति के रोज़गार में काम करने वाले **नये युवा और सतत् गतिमान या अस्थिर मज़दूर आबादी** में, जिन्हें किसी भी किस्म के मज़दूर संगठन या ट्रेड यूनियन संघर्ष का कोई अनुभव नहीं होता, फासीवादी राजनीति के पकड़ बनाने की पर्याप्त सम्भावना होती है। मेसन के अनुसार इसका कारण यह है कि यह आबादी राजनीतिक चेतना से सबसे ज़्यादा वंचित होती है। लेकिन आज के दौर में इसमें थोड़ा बदलाव आया है। हमारा मानना है कि आज के दौर में इस वर्ग में राजनीतिक बनने और ज़्यादा तेज़ी से व्यवस्था-विरोधी राजनीतिक वर्ग चेतना हासिल करने की क्षमता (सम्भावना-सम्पन्नता) सबसे ज़्यादा होती है। वास्तव में, विशेष तौर पर 1970 के दशक के बाद के दौर में समूचे अनौपचारिक/असंगठित मज़दूर वर्ग के राजनीतिक चरित्र में कुछ अहम बदलाव आये हैं और इसे पहले की तरह वर्ग चेतना के अभाव, राजनीतिक चेतना की कमी, आदिम चेतना या पिछड़ेपन से नहीं पहचाना जा सकता है। लेकिन यह बात आज भी सच है कि उनमें किसी भी किस्म के क्रान्तिकारी प्रचार व संगठन के अभाव में उनमें आज भी यह सम्भावना-सम्पन्नता मौजूद है कि वे समुदाय, जाति, धर्म आदि के आधार पर किसी फासीवादी गोलबन्दी का हिस्सा बन जायें। मगर निश्चित तौर पर पहले के दौर के मुकाबले इस सम्भावना में कमी आयी है।

टिम मेसन के अनुसार मज़दूर वर्ग का वह दूसरा हिस्सा जिसमें फासीवादी राजनीति का आधार बनने की सम्भावना होती है, वह है 'वर्दी वाले मज़दूर' जो कि रेलवे, पोस्ट व टेलीग्राफ़, आदि में काम करते हैं। इनमें बैंक व बीमा सेक्टर में काम करने वाली, बड़े सरकारी दफ्तरों में अच्छे वेतन के साथ काम करने वाली एक मज़दूर आबादी भी शामिल

है। तीसरा हिस्सा उन मज़दूरों का है जो कि छोटे व्यावसायिक सेक्टर में काम करते हैं। ऐसे मज़दूर अक्सर अकेले काम करते हैं या बेहद छोटे समूहों में काम करते हैं और इस वजह से इनमें वर्ग चेतना के विकसित होने की गति बेहद धीमी होती है और अवरुद्ध होती रहती है। टिम मेसन के अनुसार चौथा और आखिरी हिस्सा है लम्पट सर्वहारा का जिसमें वर्ग चेतना की नितान्त अभाव होता है, कई बार ग़रीबी और अमानवीकरण के कारण आपराधिक और बर्बरता की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन्हीं गुणों के कारण फासीवादी ताक़तें मज़दूर आबादी के इस हिस्से का इस्तेमाल का विनियोजन कर पाती हैं। **लेकिन ऐसा नहीं है कि इस आबादी को संगठित करने के प्रयास नहीं किये जा सकते हैं। वास्तव में, मज़दूर वर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से में फासीवादी राजनीति कम्युनिस्टों की असफलता और ग़लत कार्यपद्धति के कारण ही जगह बना पाती है।** जैसा कि टिम मेसन ने दिखलाया है कि अनौपचारिक/असंगठित मज़दूर वर्ग के एक हिस्से में नात्सी पार्टी ने जर्मनी में अपना आधार बनाया था और इसका बहुत बड़ा कारण था जर्मन सामाजिक जनवादी आन्दोलन और ट्रेड यूनियन आन्दोलन का संगठित/औपचारिक मज़दूर वर्ग तक सीमित रह जाना।

आज यह अनौपचारिक/असंगठित मज़दूर वर्ग कुल मज़दूर वर्ग का 93 प्रतिशत है और यह मज़दूर वर्ग 1930 के दशक के असंगठित मज़दूर वर्ग के समान पिछड़ा नहीं है। इस पूरे वर्ग में आज भारत के फ़ासीवादियों ने आधार बनाने के नये तरीके निकाले हैं। जागरण, चौकी आदि जैसे धार्मिक कार्यक्रमों का आयोजन कराकर धर्म और पुरानी धार्मिक परम्पराओं के आधार पर एक समुदाय की रचना करना; इसके अलावा, दुर्गा पूजा, सरस्वती पूजा आदि के आयोजन के लिए मित्र मण्डलों का निर्माण करना, आदि। इसके साथ ही संघ परिवार पुराने कारपोरेटवादी तरीकों का इस्तेमाल भी कर रहा है और उन्हें उन्नत भी कर रहा है। मिसाल के तौर पर, तमाम मज़दूर इलाकों में 'सेवा भारती' के नाम से तमाम सुधारवादी और एन.जी.ओ.-मार्का उपक्रम चलाये जा रहे हैं। इनमें महिलाओं को सिलाई-कढ़ाई सिखाने आदि से लेकर बच्चों को पढ़ाने तक के कार्य किये जा रहे हैं। इसके अलावा एक अन्य उदाहरण है जिसे मज़दूर इलाकों में कई 'कमेटी डालने' के नाम से जाना जाता है। ये वास्तव में एक 'फण्ड पूल' होता है जिसका प्रयोग मज़दूर आबादी के जीवन की आर्थिक अनिश्चितता में कुछ कमी लाने के लिए किया जाता है, हालाँकि इससे भ्रम ज़्यादा पैदा होता है और वास्तव में मज़दूरों के जीवन में कोई विशेष फर्क नहीं आता। ज़ाहिर है, इन कार्रवाइयों के साथ-साथ लोगों की चेतना का फासीवादीकरण करने का कार्य भी किया जाता है।

लेकिन यहाँ सबसे अहम बात यह है कि मज़दूर वर्ग के इन संस्तरों में फासीवादी ताक़तें आम तौर पर इसी लिए सामाजिक आधार बनाने में सफल होती हैं क्योंकि वहाँ क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तें या तो पहुँच ही नहीं पातीं या फिर उनकी उपस्थिति जिस रूप में होनी चाहिए उस रूप में नहीं होती। जर्मनी में सामाजिक जनवादी शक्तियों के साथ-साथ कम्युनिस्टों की भी एक भारी ग़लती यह थी कि संगठित मज़दूर आबादी के बाहर मज़दूर वर्ग को संगठित करने के उनके प्रयास नगण्य थे। अफसोस की बात यह है कि अधिकांश

देशों में इतिहास से कम्युनिस्ट ताक़तों ने कोई सबक नहीं लिया है। अभी भी उनकी ताक़तों का बड़ा हिस्सा संगठित मज़दूर आबादी के बीच ही लगा हुआ है, जो कि पूरे मज़दूर वर्ग का अब छोटा सा हिस्सा रह गया है। भारत के भीतर भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठनों की बड़ी ताक़त या तो मज़दूर आबादी से ही दूर हैं क्योंकि वे भारत को एक अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक देश मानते हैं और अपने इस पुराने पड़ चुके कार्यक्रम में बदलाव करने को ही मार्क्सवाद-लेनिनवाद से ग़द्दारी मानते हैं! ऊपर से वे यह भी नहीं समझते कि नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी मज़दूर वर्ग ही नेतृत्वकारी ताक़त होता है; किसान वर्ग केवल मुख्य ताक़त होता है। इसके अलावा, मोदी सरकार द्वारा हाल ही में किये गये जाति सर्वेक्षण के दौरान पता चला है कि गाँव की आबादी का भी आधे से ज़्यादा गैर-कृषि रोज़गार में लगा हुआ है और आबादी का जो हिस्सा कृषि में लगा भी है उसमें से अधिकांश ज़मीन के मालिक नहीं हैं और खेतिहर मज़दूर हैं! **ऐसे में, नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम किस रूप में प्रासंगिक है? 'जो ज़मीन को जोते-बोए वह ज़मीन का मालिक होए' नारा किस रूप में प्रासंगिक है? और तो और ताज्जुब की बात यह है कि नवजनवादी क्रान्ति को मानने वाले तमाम "वामपंथी" दुस्साहसवाद और क्रान्तिकारी आतंकवाद की लाइन के शिकार ये संगठन गाँवों में खेतिहर आबादी में भी अपनी पकड़ अधिकांश प्रदेशों में खो चुके हैं।** अब कुल मिलाकर उनका आधार मध्य भारत के कुछ जनजातीय क्षेत्रों में रह गया है, जहाँ 'आदिम संचय' की प्रक्रिया के ज़रिये कॉरपोरेट पूँजीवाद जनजातीय आबादी को उजाड़ रहा है। इनका मानना है कि भारत का पूँजीपति वर्ग एक दलाल पूँजीपति वर्ग है। ऐसे में उन्हें यह नहीं मानना चाहिए कि भारत में फासीवाद का उभार हो रहा है। दलाल पूँजीपति वर्ग प्रतिक्रियावादी होता है और उसका प्रतिक्रियावाद कई रूप ले सकता है। लेकिन दलाल पूँजीपति वर्ग प्रकृति से ही इस बात में अक्षम होता है कि उसका प्रतिक्रियावाद एक फासीवादी सामाजिक आन्दोलन का रूप ले सके। फासीवाद औद्योगिक और वित्तीय बड़े पूँजीपति वर्ग की सेवा करने वाला टटपुँजिया वर्ग का प्रतिक्रियावादी रूमानी उभार होता है। ऐसा प्रतिक्रियावादी रूमानी उभार किसी दलाल या कठपुतली पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में नहीं हो सकता है। नवजनवादी क्रान्ति की लाइन पर अटके हुए इन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए फासीवादी उभार की विवेचना करने का अर्थ है असमाधेय और मज़ाकिया अन्तरविरोधों के गड्ढे में जा गिरना। ख़ैर, इन तमाम नवजनवादी क्रान्ति मानने वालों और 'टाइम कैप्स्यूल' में कैद रह गये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बारे में जितना कम कहा जाये उतना अच्छा है।

लेकिन इससे भी ज़्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाजवादी क्रान्ति मानने वाले तमाम क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठन भी ऐसे हैं जिनका मानना है कि कम्युनिस्टों को उन्नत और बड़े उद्योगों में लगे संगठित मज़दूरों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए क्योंकि वही मज़दूर आबादी का उन्नत हिस्सा है! यानी कि उनके अनुसार 93 प्रतिशत असंगठित/अनौपचारिक मज़दूर आबादी उन्नत नहीं है, पिछड़ी हुई है, वर्ग चेतना से लैस नहीं है, वगैरह! यह वास्तव में कम्युनिस्ट आन्दोलन का एक पूर्वाग्रह है जो अतीत के एक ख़ास दौर

में पैदा हुआ था। वैसे तो यह पूर्वाग्रह उस दौर में भी निहायत ग़लत था मगर आज तो यह भयंकर रूप से नुकसानदेह है। आज की असंगठित/अनौपचारिक मज़दूर आबादी पहले के समान नहीं है। यह वर्ग चेतना से लैस है या उसमें वर्ग चेतना से लैस होने की सम्भावनासम्पन्नता मौजूद है; यह आबादी क्रान्तिकारी राजनीतिक वर्ग चेतना की दिशा में अपेक्षाकृत ज़्यादा सहजता से विकसित हो सकती है क्योंकि यह एक वर्ष में ही कई बार कई मालिकों के मातहत काम करती है और इसलिए किसी एक मालिक को अपने शत्रु के तौर पर नहीं देखती, बल्कि मालिकों के पूरे वर्ग को अपने शत्रु के तौर पर देखती है। यह आबादी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में राज्यसत्ता के दमनकारी निकायों का भी सामना करती है और इसके अन्दर नैसर्गिक तौर पर एक व्यवस्था-विरोधी भावना होती है। यह आबादी उन्नत मशीनों व तकनोलॉजी पर कार्य करने अनुभव रखती है और साथ ही बहुकुशल होती है। इस करोड़ों-करोड़ की और ज़बरदस्त क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से लैस अनौपचारिक/असंगठित मज़दूर आबादी को "पिछड़ा", "आदिम" आदि मानना भयंकर भूल है। इसलिए भी यह भयंकर भूल है कि अगर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन इस व्यापक मज़दूर आबादी को संगठित नहीं करता तो निश्चित तौर पर इसका एक हिस्सा फासीवाद के पाले में जायेगा और फासीवादी ताक़तों के उपकरण में तब्दील होगा। इसलिए इस मज़दूर आबादी के बीच ट्रेड यूनियन आन्दोलन खड़ा करने के साथ-साथ क्रान्तिकारी सुधार कार्य और क्रान्तिकारी सांस्कृतिक कार्य को संस्थाबद्ध रूप से करना आज क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के सामने एक अस्तित्व का प्रश्न बन गया है।

इस अस्तित्व के प्रश्न के समाधान में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठनों में व्याप्त एक और प्रवृत्ति भी भारी बाधा बनती है। यह प्रवृत्ति है स्वतःस्फूर्ततावाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद की प्रवृत्ति। कई ऐसे संगठनों का तर्क है कि मज़दूर आन्दोलन के प्रतिरोध की नयी रणनीतियों को निकालने का काम मज़दूर वर्ग स्वयं करेगा और क्रान्तिकारी पार्टी का कार्य महज़ उन नयी रणनीतियों को थोड़ा और सुसंगत रूप देना होगा! यह एक पुछल्लावाद (tailism) की प्रवृत्ति है और आज के दौर में जबकि मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध हस्तक्षेप और भी ज़्यादा शिद्दत के साथ ज़रूरत है, उस समय इस प्रकार के विचार ख़ास तौर पर नुकसान पहुँचा रहे हैं। मारुति मज़दूर आन्दोलन में मज़दूरों के बीच 'सहयोग केन्द्र' चलाने वाले एक संगठन के ज़रिये ऐसे रुझान का हावी होना इस आन्दोलन की असफलता का सबसे बड़ा कारण बना। बजाय आन्दोलन को सचेतन तौर पर राजनीतिक नेतृत्व देने के यह संगठन उसे कभी खाप पंचायतों तो कभी संशोधनवादियों की ट्रेड यूनियनों के गलियारों में घुमाता रहा और अन्ततः उसे थका कर हरा दिया।

बहरहाल, मज़दूर वर्ग के इन विभिन्न हिस्सों के बीच फासीवादी ताक़तों द्वारा आधार बनाने के प्रयासों को विफल करने और उनके बीच क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन का आधार तैयार करने के लिए क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन को अपने पुराने पड़ चुके विश्लेषण को और पूर्वाग्रहों को त्यागना होगा और नये रचनात्मक तरीके से मज़दूर वर्ग के बीच

क्रान्तिकारी कार्य को अंजाम देना होगा। और इस पूरे कार्य में अनौपचारिक/असंगठित मज़दूर वर्ग के बीच में विशेष ज़ोर दिये जाने की ख़ास अहमियत है।

फासीवाद और किसान आबादी

भारत के फासीवादी कई मामलों में अपने जर्मन व इतालवी पिताओं से ज़्यादा सयाने साबित हुए हैं। मगर कई मामलों में वे उनसे काफ़ी पीछे भी साबित हुए हैं। उनमें से एक मामला है इस बात की ज़रूरत को समझना कि भारत में फासीवादी उभार को थोड़ा टिकाऊ बनाने के लिए टटपुँजिया ग्रामीण आबादी व किसान आबादी में पकड़ बनाना बेहद ज़रूरी है। बीसवीं सदी में यूरोप में कई देशों में फासीवादी आन्दोलन पैदा हुआ। लेकिन हर जगह वह विजयी नहीं हो सका। **आनुभविक तौर पर देखें तो हम पाते हैं कि जिन देशों में भी फासीवादी आन्दोलन टटपुँजिया किसान आबादी और ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के ठीक-ठाक हिस्से में पकड़ नहीं बना सका, वहाँ-वहाँ वह एक राष्ट्रीय पैमाने का आन्दोलन बनने में असफल रहा। मिसाल के तौर पर, फिनलैण्ड का लापुआ आन्दोलन (1929-32) और पैट्रियॉटिक नेशनल मूवमेण्ट (1932-44)**। यही हाल स्वीडन और नॉर्वे के फासीवादी आन्दोलनों का हुआ। जर्मनी और इटली में फासीवादी आन्दोलन के सफल होने का एक बहुत बड़ा कारण था उसका कुलकों और युंकरों, यानी कि धनी किसानों और पूँजीवादी भूस्वामियों के साथ मज़बूत गठजोड़।

भारत में संघ परिवार की राजनीति की गाँवों में पकड़ ऐतिहासिक तौर पर कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश क्षेत्रों में बेहद कमज़ोर रही है। इसका एक कारण तो यह है कि भारत में फासीवादी नेतृत्व स्वयं इस बात को समझने में काफी समय तक असफल रहा। तो दूसरी ओर इसका दूसरा कारण यह भी है कि भारत में एक विशिष्ट किस्म की कुलक राजनीति का वर्चस्व भी इसमें आड़े आता रहा, जो कभी कांग्रेस के करीब रही, कभी समाजवादियों के करीब तो कभी इनसे बराबर दूरी बनाकर कुछ समय के लिए अपनी स्वायत्तता बनाये रही। लेकिन चरण सिंह-ब्राण्ड कुलक राजनीति का अब भारतीय राजनीति के परिदृश्य में कोई विशेष स्थान नहीं रह गया है। इसके ऐतिहासिक और राजनीतिक कारण हैं। नवउदारवादी नीतियों के दौर में संरक्षण करने के लिए उसके पास बहुत-सी सहूलियतें रह नहीं गयी हैं! नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में अधिशेष विनियोजन में ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के हिस्से में सापेक्ष गिरावट आयी है। भारतीय राजनीति के दृश्यपटल से इस क्लासिकीय कुलक राजनीति के प्रस्थान के साथ एक खाली जगह पैदा हुई है। संघ परिवार के विचारकों ने इस दफ़ा अपनी कमी को पकड़ा है और इस ख़ाली जगह को भरने के योजनाबद्ध षडयन्त्र को अंजाम देना शुरू किया है।

गत चुनावों में भाजपा-नीत राजग गठबन्धन के विजय का एक बहुत बड़ा कारण उत्तर प्रदेश और बिहार में हुई सीटों की बढ़ोत्तरी था। अगर हम उत्तर प्रदेश और बिहार में हुई बढ़ोत्तरी को हटा दें तो हम पाते हैं कि भाजपा के लिए सामान्य बहुमत तक पहुँचना भी मुश्किल हो जाता। उत्तर प्रदेश में ग्रामीण क्षेत्रों में साम्प्रदायिक तनाव फैलाकर फासीवादी गोलबन्दी

करना और विशेष तौर पर पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा के जाट-बहुल क्षेत्रों के साम्प्रदायिकीकरण के काम को योजनाबद्ध तरीके से अंजाम देना भाजपा के लिए काफ़ी फ़ायदेमन्द रहा। किसान राजनीति करने वाली तमाम ताक़तें आज कुलक वर्ग और धनी किसान वर्ग को अधिशेष में हिस्सा बढ़ाने में कोई विशेष सहायता नहीं कर सकती हैं; साथ ही, तमाम किस्म की राजकीय सहायता जो कुलक व धनी किसान वर्गों को उपलब्ध थीं, उनमें भी लगातार कटौती हुई है। **यह सच है कि किसान आबादी को पूँजीवादी राज्य द्वारा आज जो भी थोड़ा-बहुत दिया जा रहा है वह सब कुलकों और धनी किसानों को ही मिलता है। मगर यह भी सच है कि वित्तीय, औद्योगिक और वाणिज्यिक पूँजीपति वर्ग को मिल रहे तोहफ़ों की तुलना में यह कुछ ख़ास नहीं है।** निश्चित तौर पर, इसमें हमें ज़्यादा चिन्तित होने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि यह बड़े और छुटभैये लुटेरों का आपसी झगड़ा है!

कृषि व कृषि-सम्बन्धित क्षेत्रों में कॉरपोरेट घरानों के प्रवेश के साथ भी पुराने पूँजीवादी भूस्वामियों और साथ ही धनी काश्तकार किसान वर्ग के एक छोटे-से हिस्से का तो कारपोरेट सहयोजन हो गया, मगर दूसरे हिस्से को अपने ग्रामीण वर्चस्व के लिए ख़तरा महसूस हो रहा है। आज भारतीय कृषि जिस पूँजीवादी संकट का शिकार है, वह असुरक्षा और अनिश्चितता के माहौल को और भी बढ़ा रहा है। **नतीजतन, एक अलग रूप में उच्च मध्यम और धनी काश्तकार किसानों और साथ ही पूँजीवादी भूस्वामियों के बीच भी फासीवादी प्रतिक्रिया की ओर आकृष्ट होने की ज़मीन पैदा हुई। वैसे भी इस वर्ग में हमेशा से ही एक फासीवादी सम्भावनासम्पन्नता थी, जिसका इस्तेमाल समय-समय पर समाजवादी व अन्य ब्राण्ड की कुलक राजनीति ने किया था।** इस सम्भावना को हम गाँवों में मौजूद खाप पंचायतों और अन्य ऐसे निकायों में साफ़ तौर पर देख सकते हैं। अब इसी सम्भावना को वास्तविकता में तब्दील करने का कार्य संघ परिवार और भाजपा की राजनीति कर रही है। ये ग्रामीण पूँजीपति और टटपुँजिया वर्ग अपनी वर्ग प्रवृत्ति से ही जनवाद-विरोधी, आधुनिकता-विरोधी (मगर आधुनिक!), ग़रीब-विरोधी, जातिवादी, पितृसत्तावादी और निरंकुश हैं। इन सारी प्रवृत्तियों के फासीवादी विनियोजन में संघ परिवार और भाजपा को बहुत ज़्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। एक तरह से कह सकते हैं कि इन प्रतिक्रियावादी वर्गों की यह सम्भावना-सम्पन्नता वस्तुतः कई दशकों से फासीवादी विनियोजन की ही प्रतीक्षा कर रही थी! क्लासिकीय कुलक राजनीति के प्रस्थान के साथ यह प्रतीक्षा समाप्त हो गयी!

इसलिए आज यह समझना भी बेहद अहम हो गया है कि अगर गाँवों में हम फासीवादी गोलबन्दी और आन्दोलन के बरक्स ग्रामीण ग़रीबों के क्रान्तिकारी संगठन नहीं खड़े करते, तो आने वाले समय में हम एक भयंकर संकट के सामने खड़े होंगे। बल्कि इस कार्यभार में पहले ही कुछ देर हो चुकी है। अभी से ही गाँवों नौजवानों के क्रान्तिकारी संगठन, जातितोड़क संगठन, ग्रामीण मज़दूरों की यूनियन, खेतिहर मज़दूरों की यूनियन बनाने के साथ-साथ ग़रीब और परिधिगत किसानों के संगठन भी बनाने होंगे। ताज़ा आँकड़े बता रहे हैं कि ये वर्ग आज गाँवों में बहुसंख्यक हैं। मगर वे स्वयं ही क्रान्तिकारी गोलबन्दी नहीं कर

सकते हैं। वहाँ क्रान्तिकारी अभिकर्ता की और भी ज़्यादा ज़रूरत है। ऐसे में, क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को गाँवों भी अपने क्रान्तिकारी जनसंगठनों का नेटवर्क तैयार करने और अपना व्यापक सामाजिक आधार बनाने पर कार्य करना होगा और इसमें ज़रा भी देर नहीं करनी होगी।

फासीवादी प्रचार की विशिष्टता और उसके सटीक जवाब की चुनौती

जैसा कि हमने ऊपर देखा, फासीवादी प्रचार और गोलबन्दी के आम तौर पर और राष्ट्रीय तौर पर सफल होने के पीछे तमाम किस्म के शहरी और ग्रामीण टटपुँजिया वर्गों में इसकी सफलता अनिवार्य रही है और आज भी अनिवार्य है। मगर हम जिन वर्गों की बात कर रहे हैं वे बेहद भिन्न प्रकृति और प्रवृत्तियों के हैं; उनकी आकांक्षाएँ, उनके वर्ग हित, उनकी संस्कृति आपस में एकदम तुलनीय नहीं प्रतीत होती। **वर्गों के इस वैविध्यपूर्ण समुच्चय में फासीवादी राजनीति अपना आधार किस प्रकार तैयार करती है? फासीवादी संगठन अपने प्रचार को किस प्रकार इन विभिन्न प्रकार के वर्गों के बीच प्रभावी बनाते हैं?** निश्चित तौर पर, इसमें कुछ भूमिका इन वर्गों के वस्तुगत चरित्र और प्रकृति की भी है। मसलन, तमाम टटपुँजिया वर्गों और विशेष तौर पर तमाम किस्म के लम्पटीकृत वर्गों, चाहे वह टटपुँजिया वर्ग हों या फिर मज़दूर वर्ग, में अपने वर्ग हितों को समझ पाने की क्षमता ठीक अपनी सामाजिक-आर्थिक अवस्थिति के कारण बेहद कम होती है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। इन वर्गों के बीच एक मिथ्या शत्रु को तैयार करना, इसकी प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी करना और इसे पूँजीपति वर्ग की नग्न और बर्बर तानाशाही का उपकरण बनाना अपेक्षाकृत आसान होता है। मगर सिर्फ इस वस्तुगत प्रकृति को समझना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इन्हीं वर्गों के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को क्रान्तिकारी प्रचार से जीता भी जा सकता है। **इसलिए फासीवादी प्रचार की विशिष्टता और उसकी कार्यप्रणाली को समझना उसे निष्फल बनाने के लिए बेहद ज़रूरी है।**

इस बाबत जो बात सबसे अहम है वह यह है कि हम फासीवादी प्रचार की एक स्वच्छन्द प्रकार की अनुकूलनीयता (adaptability) या लचीलेपन को समझें। क्रान्तिकारी प्रचार कार्य का मकसद होता है आम मेहनतकश जनता के बीच पूँजीवादी व्यवस्था और उनकी ज़िन्दगी की दुर्वस्था के सच को उजागर करना। ऐसा प्रचार तर्क और विज्ञान पर आधारित ही हो सकता है क्योंकि उसे एक वस्तुगत यथार्थ को सामने लाना है। वह सिद्धान्तहीन नहीं हो सकता है। न ही वह विज्ञान और तर्क से रिक्त हो सकता है। वह व्यवहारवादी तरीके से किसी भी चीज़ का और हर चीज़ का इस्तेमाल नहीं कर सकता है। लेकिन फासीवादी प्रचार कार्य के सामने ऐसी कोई बाध्यता नहीं होती है। उसे जनता के सामने एक मिथ्या शत्रु पैदा करना होता है; उसे जनता को एक अन्धभक्ति (fetish) की राजनीतिक वस्तु प्रदान करनी होती है जिससे कि जनता अपने जीवन के हालात के सच्चे कारणों और उसके लिए ज़िम्मेदार ताक़तों को न समझ पाये। यह 'फेटिश' उसे नात्सी पार्टी ने यहूदी-

विरोध व अन्य अल्पसंख्यकों के विरोध के रूप में दी, भाजपा और संघ परिवार की राजनीति यह 'फेटिश' उसे मुसलमान व इस्लाम के प्रति नफ़रत के रूप में देते हैं, फ्रांसीसी फासीवादी इस 'फेटिश' को प्रवासी-विरोध के रूप में पेश करते हैं। जब पूरी फासीवादी राजनीतिक प्रचार ही मिथकों को सामान्य बोध (Common Sense) के रूप में स्थापित करने और मिथ्या चेतना तैयार करने पर आधारित होता है, तो ज़ाहिर है उसके हाथ दाँव-पेच के लिए ज़्यादा खुले होते हैं। उसे किसी भी किस्म के सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं होती। **प्रतिक्रियावादी व्यवहारवाद ही उसका सिद्धान्त होता है।** वैसे हर प्रकार की व्यवहारवादी राजनीति में, चाहे वह डयूईवादी या अम्बेडकरवादी राजनीति का "प्रगतिशील व्यवहारवाद" (?) ही क्यों न हो, दक्षिणपंथी रास्ता पकड़ लेने की सम्भावना हमेशा मौजूद होती है। **आज अम्बेडकरवादी राजनीति जिस नंगे तरीके से शासक वर्गों की गोद में बैठी है वह अम्बेडकर की राजनीति से कोई प्रस्थान या विचलन नहीं है, जैसा कि तमाम उदार अम्बेडरकवादी और विशेष तौर पर वामपंथी अम्बेडरकवादी सोचते हैं। यह अम्बेडकर की व्यवहारवादी राजनीति का तार्किक निर्वाण है। ऐसी व्यवहारवादी राजनीति अपने उद्गम से ही इस संयोग (contingency) पर निर्भर थी कि उसके शीर्ष पर कौन है। हो सकता है कि अम्बेडकर जैसे किसी नेता की मौजूदगी में वह दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावाद तक नहीं जाये, मगर इस प्रकार की व्यवहारवादी राजनीति में अपने आपमें ऐसा कुछ नहीं है जो उसे धुर दक्षिणपंथ के साथ खड़ा होने से रोक दे।**

बहरहाल, फासीवादी राजनीति की सबसे अहम ख़ासियत होती है उसकी स्वच्छन्द, बल्कि मार्क्सवादी विश्लेषक **ज्याँफ एली** के शब्दों का प्रयोग करें तो, कामुक किस्म की अनुकूलनीयता (promiscuous adaptability)। यह हर चीज़ को फासीवादी राजनीति के हितों के अनुसार सहयोजित कर सकती है क्योंकि इसे प्रतिक्रियावादी व्यवहारवाद के अलावा किसी सिद्धान्त से बँधे होने की आवश्यकता नहीं होती है। **एक ऐसे किस्म का प्रचार अनगिनत किस्म के आकारहीन और दिशाहीन सामाजिक असन्तोषों को अपने में समेट लेने की क्षमता होती है।** कारण यह है कि फासीवादी प्रचार वास्तव में एक साथ इन तमाम अस्पष्ट सामाजिक असन्तोष के शिकार वर्गों को हरेक चीज़ देने, मगर वास्तव में, कुछ भी नहीं देने का वायदा करते हैं। फासीवादी विचारधारा और राजनीति अपनी इस प्रचार पद्धति के ज़रिये एकदम असमान प्रकार के, असम्बद्ध प्रकार के और अक्सर आपस में अन्तरविरोधी किस्म के असन्तोषों, आकांक्षाओं और सपनों को एक सर्वसमावेशी या कहें सर्वसत्तावादी किस्म के लोकरंजक राजनीतिक ढाँचे में सम्मिलित कर लेते हैं। यह क्षमता एक हद तक हर दक्षिणपंथी लोकरंजक राजनीति में होती है, जैसे कि 'आम आदमी पार्टी' की राजनीति। मिसाल के तौर पर, कुछ समय पहले तक दिल्ली के टटपुँजिया व्यापारियों, धनी व्यापारियों व दुकानदारों, ठेकेदारों, प्रॉपर्टी डीलरों के साथ-साथ छोटी-मोटी नौकरी करने वाली निम्न मध्यवर्गीय आबादी, झुग्गीवासियों, लम्पट सर्वहारा आबादी और यहाँ तक कि औद्योगिक मज़दूर वर्ग के भी एक हिस्से को यह लग रहा था कि आम आदमी पार्टी का "भ्रष्टाचार-विरोधी धर्मयुद्ध" उन सबकी सभी समस्याओं का समाधान

कर देगा! लेकिन इस प्रकार के यूटोपियाई राजनीति के मुकाबले संघ परिवार का प्रतिक्रियावादी यूटोपिया ज़्यादा मज़बूत है क्योंकि वह शुद्ध रूप से फन्तासी है! **फासीवादी प्रचार सच्चाई से जितना दूर और जितना रूमानी फन्तासी के करीब होता है, उतना प्रभावी होता है। इसी के ज़रिये वह जनसमुदायों विशेषकर टटपुँजिया जनसमुदायों के भीतर मौजूद प्रतिक्रियावादी सम्भावना को वास्तविकता में तब्दील कर सकता है।** यही कारण है कि भाजपा की राजनीति भारतीय पूँजीवादी राजनीति की कहीं ज़्यादा स्थायी परिघटना है, बनिस्बत 'आम आदमी पार्टी' की राजनीति के जिसे कालान्तर में या तो विसर्जित हो जाना है या फिर यह छोटी नाली अन्त में संघ परिवार की राजनीति के बड़े गन्दे नाले में आकर मिलने वाली है!

ख़ैर, मूल बात यह है कि फासीवादी राजनीति की प्रचार पद्धति में यह ख़ासियत होती है कि यह एकदम अतुलनीय अस्पष्ट व आकारहीन सामाजिक असन्तोषों, आकांक्षाओं और सपनों को एक सर्वसत्तावादी और सर्वसमावेशी आमूलगामी यूटोपिया में सम्मिलित कर लेती है या सोख लेती है। नात्सी पार्टी का यूटोपिया जर्मन जनता/नस्ल का एक शुद्ध श्रेष्ठ विचारधारात्मक समुदाय था और भाजपा और संघ परिवार के लिए यह हिन्दुत्ववादी शासन या "रामराज्य" है। ('विचारधारात्मक' इस रूप में कि वास्तव में ऐसा कोई समुदाय कभी नहीं था और इसे विशेष वर्ग हितों के मद्देनज़र काल्पनिक और मिथकीय तौर पर गढ़ा जाता है) यहाँ अतीत के और परम्परा के आविष्कार और मिथकीकरण को और फिर इन मिथकों को सामान्य बोध के तौर पर अत्यधिक दुहरावपूर्ण प्रचार के द्वारा स्थापित करने की प्रक्रिया को समझना बेहद ज़रूरी है। यह अनायास नहीं है कि भारत की फासीवादी ताक़तें ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों, विज्ञान, कला, साहित्य, सिनेमा आदि में भगवा मिथकीकरण की एक पूरी प्रक्रिया चला रहे हैं। यह प्रक्रिया एक **शुद्ध श्रेष्ठ विचारधारात्मक हिन्दू समुदाय** के निर्माण के लिए आवश्यक है। यह कोई अलग-थलग घटना नहीं है। न ही यह फासीवादी अपनी अज्ञानता मात्र के कारण कर रहे हैं। फासीवादियों के साथ इतिहास में भी अपने दौर की कुछ श्रेष्ठ मेधाएँ थीं और आज भी हैं। इनमें तमाम वैज्ञानिक भी हैं, कलाकार भी हैं। ऐसे में, हमें कला और विज्ञान के क्षेत्र में किये जा रहे भगवा मिथकीकरण को सम्पूर्ण फासीवादी राजनीतिक एजेण्डे के अंग के तौर पर समझना चाहिए। तभी इन प्रयासों का सफल विरोध किया जा सकता है। आज एन.सी.ई.आर.टी., इतिहास अनुसन्धान परिषद्, भारतीय फिल्म व टेलीविजन संस्थान, आदि के साथ जो दुराचार संघ परिवार कर रहा है, वह भी केवल अज्ञान या पिछड़ेपन के कारण नहीं है। यह समूचे फासीवादी राजनीतिक एजेण्डा का अभिन्न अंग है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कम्युनिस्ट प्रचार फासीवादी प्रचार के इस ख़तरनाक किस्म के लचीलेपन का मुकाबला किस प्रकार करे? ज़ाहिर है, जो बात कोई भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट स्वतः ही समझ सकता है वह यह है कि कम्युनिस्टों को हमेशा जनता के जनसमुदायों को उनके जीवन की ठोस भौतिक, सामाजिक और आर्थिक माँगों के लिए लगातार गोलबन्द और संगठित करना चाहिए, उन्हें यह समझाना चाहिए कि उनके जीवन

में ये समस्याएँ क्यों हैं और उनके लिए कौन ज़िम्मेदार है। **लेकिन क्या इतना ही काफ़ी है? नहीं!** हमारे विचार में इस सन्दर्भ में सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन की पूरी अवधारणा को समझना बेहद ज़रूरी है।

क्रान्तिकारी शक्तियों को आज सर्वहारा वर्ग और जनता के संघर्षों के गौरवशाली अतीत से सघनता के साथ और रोचक तरीके से परिचित कराया जाना चाहिए। जनता के विभिन्न हिस्सों में प्राचीन भारत की तमाम प्रगतिशील और भौतिकवादी परम्पराओं का प्रचार करना चाहिए। **प्राचीन भारत, यानी कि हमारे देश के सुदूर अतीत पर फ़ासीवादियों को अपना एकाधिकार या दावा स्थापित नहीं करने देना चाहिए।** वास्तव में, प्राचीन भारत के सच्चे इतिहास को देखें तो उस पर फासीवादी दावा स्थापित होने योग्य ज़्यादा चीज़ें संघ परिवार को मिलेंगी भी नहीं! यही कारण है कि प्राचीन भारत की तमाम प्रगतिशील और भौतिकवादी परम्पराओं का भी संघ परिवार विकृतिकरण करके उसे अपने एजेण्डा में शामिल करने का प्रयास करता रहता है। मिसाल के तौर पर, योग की परम्परा। जब योग दिवस मनाने की नौटंकी चल रही थी तो बहुत से मार्क्सवादियों ने योग की पूरी परम्परा और आनुभविक विज्ञान के भगवा विनियोजन पर प्रश्न खड़ा करने और उसे बेनक़ाब करने की बजाय योग पर ही प्रश्न करना या उसका मखौल बनाना शुरू कर दिया। यह तरीका वास्तव में भगवा ताक़तों को ही फायदा पहुँचा रहा था। साथ ही, मध्यकालीन भारत और आधुनिक भारत की ऐसी कई जनपक्षधर परम्पराएँ, बुद्धिजीवी, लेखक, वैज्ञानिक हैं जिनकी प्रगतिशील विरासत से भारत का आम जनमानस अपरिचित है। हम अगर उन्हें अपने सर्वहारा पुनर्जागरण का अंग नहीं बनाते, उन्हें अपने क्रान्तिकारी सांस्कृतिक प्रचार और कार्य का अंग नहीं बनाते तो वास्तव में फासीवादी ताक़तों को समूचे भारतीय अतीत के ही भगवा विनियोजन का अवसर देते हैं। साथ ही, हमें इस सर्वहारा पुनर्जागरण का अंग महज़ भारत की अतीत की प्रगतिशील और जनपक्षधर परम्पराओं को नहीं बनाना चाहिए, बल्कि पूरी दुनिया की भौतिकवादी, प्रगतिशील और जनपक्षधर परम्पराओं, कला, साहित्य और विज्ञान को भी इसका एक हिस्सा बनाना चाहिए। सर्वहारा पुनर्जागरण का यही अर्थ है-दुनिया भर में जनता की प्रगतिशील और भौतिकवादी परम्पराओं और व्यक्तित्वों से और इन परम्पराओं और व्यक्तित्वों के पश्चगामी और प्रतिक्रियावादी ताक़तों के विरुद्ध संघर्ष से जनता के जनसमुदायों का परिचय कराना। **यह हमारे अतीत के विषय में जनता के बीच एक ऐसी समझदारी विकसित कर सकता है जो कि उन्हें किसी कल्पित गौरवशाली अतीत की ओर देखते रहना या अतीतग्रस्त रहना नहीं बल्कि भविष्य की ओर देखना और एक बेहतर भविष्य का निर्माण करने के बारे में सिखाये।** निश्चित तौर पर, इस कार्य में बच्चों के मोर्चे की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है, जोकि पीढ़ी निर्माण के कार्य के लिए अनिवार्य है। साथ ही, इस कार्य को अंजाम देने के लिए क्रान्तिकारी साहित्य के प्रकाशन, क्रान्तिकारी नाटय व संगीत मण्डली, फिल्म प्रोडक्शन हाउस, फिल्म क्लब समेत सामुदायिक रेडियो जैसे माध्यमों तक का इस्तेमाल करना होगा।

ज़ाहिर है कि केवल अतीत की इस तार्किक और वैज्ञानिक पेशगी से ही हमारे कार्यभार पूरे नहीं होते। भविष्य के सारे सवालों का जवाब अतीत की भौतिकवादी और प्रगतिशील परम्पराओं में भी नहीं मिल सकता है। भविष्य और वर्तमान के प्रश्नों के जवाब को तभी पूर्ण किया जा सकता है, जबकि उसमें नये के तत्व की भी पहचान सही तरीके से की जाय। इतिहास अपने आपको हूबहू दुहराता नहीं है, बल्कि हर बार उच्चतर स्तर पर दुहराता है। इसलिए नये के तत्व की पहचान ज़रूरी है। आज पूरी पूँजीवादी व्यवस्था जिस अन्तकारी संकट का शिकार है और इस मरणासन्न हालत में वह जिस प्रकार की सड़ी चीज़ें पैदा कर रही है उसे केवल अतीत के सन्दर्भ से नहीं समझा जा सकता है। इसलिए आज की साम्राज्यवादी-पूँजीवादी दुनिया के एक वैज्ञानिक-तार्किक विश्लेषण की ज़रूरत है जिससे कि इसकी ऐतिहासिकता को भी समझा जा सके, यानी कि निरन्तरता के तत्व को, और इसकी समकालीनता को भी समझा जा सके, दूसरे शब्दों में, परिवर्तन के तत्व को। यह दूसरा कार्यभार **सर्वहारा प्रबोधन** का कार्यभार है। निश्चित तौर पर, इस कार्यभार के लिए उन सभी माध्यमों के उपयोग की आवश्यकता होगी जिनकी हमने ऊपर चर्चा की है। साथ ही, मज़दूर वर्ग के एक राजनीतिक अख़बार की विशेष तौर पर आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त, छात्रों-युवाओं के बीच, स्त्रियों के बीच, युवा व ईमानदार बुद्धिजीवियों के बीच प्रचार हेतु भी तमाम मुखपत्रें की आवश्यकता होगी। इन तमाम मुखपत्रें को ज़्यादा से ज़्यादा बारम्बारता के साथ नियमित तौर पर निकालना सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के कार्यभार को पूरा करने के लिए अनिवार्य है।

लेकिन सिर्फ इस व्यापक कार्यभार को समझ लेना पर्याप्त नहीं है। यह तो सामान्य राजनीतिक कार्यभार या यूँ कहें कि पहुँच (approach) और पद्धतिशास्त्र (methodology) के विषय में कुछ मोटी बातों को समझने के समान है। इसके अतिरिक्त, आज फासीवादी राजनीति की प्रचार पद्धति को निष्फल करने के लिए बहुत से अन्य पहलुओं को समझना अनिवार्य है। लेनिन की राजनीतिक पद्धति पर लिखते हुए एक जगह हंगेरियाई कम्युनिस्ट **ग्यॉर्गी लूकाच** ने लिखा था कि लेनिन के राजनीतिक व्यवहार से कम्युनिस्टों के सीखने के लिए जो अहम बात निकलती है वह यह है कि सर्वहारा राजनीतिज्ञ को अपने राजनीतिक वर्चस्व को स्थापित करने और फिर उसकी हिफ़ाज़त करने की प्रक्रिया में दाँव-पेच में कभी भी अपने हाथ नहीं बाँधने चाहिए; उसे अपने दोनों हाथ खुले रखने चाहिए! **दूसरे शब्दों में, सर्वहारा राजनीति को सिद्धान्त के मसलों को रणनीति के मसलों से और रणनीति के मसलों को रणकौशल के मसलों से गड्ड-मड्ड नहीं करना चाहिए।** चाहे वह मज़दूर आन्दोलन का प्रश्न हो, किसी ट्रेड यूनियन संघर्ष का प्रश्न हो, युवा मोर्चे पर किसी अभियान या आन्दोलन का प्रश्न हो या किसी भी अन्य मोर्चे पर ठोस ज़मीनी कार्रवाइयों का मसला हो, यदि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी नेतृत्व में हैं तो उन्हें ठोस ज़मीनी कार्रवाइयों में फासीवादी और अन्य प्रतिक्रियावादी ताक़तों से निपटने में ठोस व्यावहारिकता का परिचय देना चाहिए। ज़मीनी संघर्ष के दाँव-पेच में अपने हाथ किसी भी

रूप में बाँधने नहीं चाहिए। यह एक बुनियादी शिक्षा है जो हमें विशेष तौर पर लेनिन के राजनीतिक व्यवहार से लेनी चाहिए।

तीसरी अहम बात जिसे समझना हमें ज़रूरी लगता है वह यह है कि किसी भी किस्म की राजनीति का प्रचार किस हद तक प्रभावी होगा इसका निर्धारण करने वाला एक बहुत बड़ा कारक सामाजिक आधार होता है। जिस ताक़त का सामाजिक आधार जितना व्यापक और जितना गहरा होता है, उसके प्रचार की प्रभाविता और जनता के बीच उसकी स्वीकार्यता भी उतनी ही ज़्यादा होती है। फासीवादी ताक़तें इस चीज़ पर पर्याप्त ज़ोर देती हैं कि वे तमाम निम्न मध्यवर्गीय और साथ ही मज़दूर इलाकों में अपने सामाजिक आधार को विस्तारित करें। इसके लिए वे तमाम संस्थाओं का निर्माण करते हैं, मसलन, मित्र मण्डल, पूजा समितियाँ, जिम आदि। अगर इतिहास में जायें तो हम पाते हैं कि रिहायशी इलाकों में सामाजिक आधार विकसित करने के लिए सुधार कार्य और सांस्कृतिक कार्य की परम्परा वास्तव में कम्युनिस्टों की थी; फ़ासीवादियों ने यह चीज़ उनसे ही सीखी थी। यह अनायास नहीं है कि इटली में फासीवादी आन्दोलन का संस्थापक बेनितो मुसोलिनी पहले इतालवी समाजवादी पार्टी का सदस्य था। मगर अफ़सोस की बात है कि कम्युनिस्ट अपनी इस शानदार कार्यशैली को भूल गये और फ़ासीवादियों ने लगभग सभी देशों में और विशेष तौर पर हमारे देश में इस कार्यशैली को मज़बूती से अपना लिया। इस सूरत को बदले बग़ैर हम फासीवाद के प्रतिरोध के कार्यभार को शायद ही पूरा कर पायें। कई दृष्टिकोणों और कई ज़रूरतों से हमें मज़दूरों और निम्न मध्यवर्गीय रिहायशी इलाकों में संस्थाबद्ध रूप से सुधार कार्य और सांस्कृतिक कार्य करने होंगे। जब क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का तमाम मज़दूर बस्तियों और निम्न मध्यवर्गीय इलाकों में मज़बूत सामाजिक आधार होगा, तभी उनके क्रान्तिकारी प्रचार की प्रभाविता भी दूनी-चौगुनी होगी। इसके बिना, सही तर्क और सही विज्ञान के बावजूद उसकी प्रभाविता को अधिकतम बनाना सम्भव नहीं होगा।

इसके अलावा, अन्य कई सहज समझे जाने वाले कारक हैं जिनका हम ज़िक्र नहीं कर रहे हैं। मिसाल के तौर पर, हरेक फासीवादी प्रचार के विरुद्ध क्रान्तिकारी ताक़तों को प्रचार करना चाहिए और उसकी असत्यता को जनता के बीच उघाड़कर रख देना चाहिए। फ़ासीवादियों के बीच व्याप्त अनैतिकता और भ्रष्टाचार को लगातार बेनक़ाब करना चाहिए क्योंकि फ़ासीवादियों को अपनी राजनीति को सफल बनाने के लिए हमेशा एक आभा-मण्डल (aura) की आवश्यकता होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पूरी की पूरी फासीवादी राजनीति दरअसल राजनीति का सौन्दर्यीकरण करती है। दूसरे शब्दों में फासीवादी राजनीति हमेशा अपने आपको स्वच्छता, नैतिकता, शुद्धि के पर्याय के तौर पर पेश करती है क्योंकि तभी किसी गौरवशाली और शुद्ध-बुद्ध अतीत पर उसका वैध दावा हो सकता है। इसीलिए आज व्यापम, ललित-गेट आदि जैसे खुलासों से फासीवादियों को काफ़ी नुकसान पहुँच रहा है और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कहीं न कहीं अपने आपको अपने चुनावी फ्रण्ट भाजपा से इन मामलों में अलग दिखलाने का प्रयास कर रहा है। क्योंकि अगर मुख्य सिक्का ही पिट गया तो फासीवादी राजनीति का बड़ा भारी नुकसान हो

जायेगा। इसलिए जो भी लानत-मलामत होनी है वह भाजपा और उसके चन्द नेताओं की होनी चाहिए और ऐसा दिखना चाहिए कि संघ स्वयं भी भाजपा के नेतृत्व पर पार्टी को भ्रष्टाचारियों से शुद्ध करने के लिए दबाव डाल रहा है। यह भी फासीवादियों के प्रचार के अद्भुत रूप से लचीले होने की ही निशानी है। हालाँकि, आज यह लचीलापन बहुत प्रभावी सिद्ध नहीं हो पा रहा है। **इसलिए सर्वहारा शक्तियों को फासीवादियों की इस कोर ताक़त पर लगातार चोट करनी चाहिए; इसके लिए पर्चे, लेख, नाटक, गीत आदि तैयार किये जाने चाहिए और इन संघियों की नैतिकता, चाल-चेहरा-चरित्र की पोल लगातार खोलते रहना चाहिए। ये चोटें इनके लिए बड़ी दर्दनाक होती हैं!** फासीवादी प्रचार की विशिष्टता और उसे निष्प्रभावी बनाने के विषय में इस संक्षिप्त चर्चा के बाद हम कम्युनिस्ट आन्दोलन द्वारा अतीत में फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष की रणनीति और रणकौशल के बारे में संक्षेप में चर्चा करेंगे और साथ ही उससे आज की फासीवाद-विरोधी रणनीति और रणकौशल के बारे में कुछ आम नतीजे निकालने का प्रयास करेंगे। हमने मौजूदा पुस्तिका में कुछ ठोस कार्यभारों को पहले ही रेखांकित किया है। उसी आम दिशा में आगे बढ़ते हुए हम फासीवाद-विरोधी वर्ग मोर्चे के विषय में कुछ परिवर्तनों की ओर ध्यानाकर्षित करना चाहेंगे।

फासीवाद-विरोधी संघर्ष की रणनीति व आम रणकौशल तथा वर्ग मोर्चे के विषय में अतीत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की समझदारी और मौजूदा हालात में हुए परिवर्तनों का प्रश्न

प्रथम विश्वयुद्ध और बोल्शेविक क्रान्ति के बाद जब इटली और जर्मनी में फासीवादी राजनीति का उभार हुआ तो दुनिया भर में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की ओर से इस नयी परिघटना की कई व्याख्याएँ सामने आयीं। उनमें कई भिन्नताएँ थीं मगर वे कुछ बुनियादी बिन्दुओं पर सहमत थी। उनमें से एक महत्वपूर्ण बिन्दु यह था कि फासीवादी राजनीति का जन्म पूँजीवाद के एकाधिकारी चरण या इज़ारेदारी के चरण का नतीजा है। इसका कारण यह है कि इज़ारेदार पूँजीवाद के दौर में, या दूसरे शब्दों में साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीपति वर्ग के लिए हर प्रकार के मज़दूर अधिकार, जनवादी अधिकार का दमन एक अनिवार्यता बन जाती है; आर्थिक कट्टरपंथ राजनीतिक कट्टरपंथ को जन्म देता है। **लेकिन ज़ाहिर है कि इज़ारेदार पूँजीवाद आम तौर पर पूँजीवादी प्रतिक्रिया को जन्म देता है, जिसमें से फासीवादी प्रतिक्रिया केवल एक रूप है और एक अहम मायने में वह अन्य पूँजीवादी प्रतिक्रियाओं से भिन्न है, यानी कि इस अर्थ में यह एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है जिसका मुख्य तौर पर टटपुँजिया वर्गों में आधार होता है।** आरम्भिक कम्युनिस्ट विश्लेषण में इस बात की पहचान की गयी थी कि फासीवाद का सामाजिक आधार मुख्य तौर पर टटपुँजिया वर्गों के भीतर होता है। इन विश्लेषणों में फासीवाद के गुणों तौर पर सैन्यवाद और अन्धराष्ट्रवाद की भी पहचान की गयी थी और साथ ही यह तथ्य भी इंगित किया गया था कि फासीवाद मज़दूर वर्ग के तमाम श्रम अधिकारों को नष्ट करने के अलावा आम तौर पर जनवादी और नागरिक अधिकारों को भी छीनता है। लेकिन यह स्पष्ट तौर

पर रेखांकित किया गया था एक धुर दक्षिणपंथी, मानवतावाद-विरोधी पूँजीवादी प्रतिक्रिया के तौर पर इसका प्रमुख निशाना मज़दूर वर्ग और कम्युनिस्ट होते हैं।

1921 से 1928 के बीच कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की नीति इसी समझदारी से तय हो रही थी। उस समय कोमिण्टर्न ने **मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे (United Front of the Working Class)** की कार्यदिशा का अनुमोदन किया था। इस कार्यदिशा के अनुसार कम्युनिस्ट शक्तियाँ सामाजिक-जनवादियों के साथ फासीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चा तो बना सकती थीं, मगर साथ ही उनका यह कार्यभार भी पूरे ज़ोर के साथ रेखांकित किया गया था कि उन्हें मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में सामाजिक-जनवाद की ग़द्दार भूमिका को विशिष्ट रूप से बेनक़ाब करना चाहिए और उनके सुधारवाद पर चोट करनी चाहिए। 1924 में कोमिण्टर्न की पाँचवीं कांग्रेस में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पार्टियों ने सामाजिक-जनवाद की फासीवादी उभार में भूमिका को सटीक तौर पर चिन्हित किया था और कहा था कि ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और एक-दूसरे के पूरक हैं। इस दिशा में आगे बढ़ते हुए 1928 की कोमिण्टर्न कांग्रेस में सामाजिक-जनवादियों को पहली बार **सामाजिक फासीवादी** कहा गया। इस समय तक फासीवादी उभार में मज़दूर आन्दोलन में सुधारवादी संशोधनवादियों के असर की भूमिका स्पष्ट तौर पर दिखने लगी थी और कोमिण्टर्न में इसकी सही पहचान की जा रही थी। लेकिन 1928 तक आधिकारिक नीति के अन्तर्गत सामाजिक-जनवादियों के साथ फासीवाद-विरोधी मोर्चा बनाने और साथ में मज़दूर आन्दोलन में उसके ख़िलाफ़ संघर्ष करने की नीति, यानी कि मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे की नीति को स्वीकार किया गया था।

1930-34 के दौरान पूरे यूरोप में फासीवादी ताक़तें तेज़ी से मज़बूत हुईं। जर्मनी में नात्सी पार्टी सत्ता में आ चुकी थी। इसी बीच पहली बार **'पापुलर फ्रण्ट'** की सोच सामने आने लगी थी। कोमिण्टर्न की सातवीं कांग्रेस 1935 में हुई। इस कांग्रेस में उदार पूँजीवादी जनवाद और फासीवादी तानाशाही में अन्तर किया गया और इसे पूँजीवादी अधिनायकत्व के दो रूपों के तौर पर देखा गया। इसमें फासीवादी तानाशाही को धुर दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी तानाशाही और पूँजीपति वर्ग के सबसे कट्टरवादी, प्रतिगामी हिस्से की आतंकवादी तानाशाही का नाम दिया गया। **ग्यॉर्गी दिमित्रेव** ने दलील पेश की कि चूँकि फासीवाद कई देशों में सत्ता में आ चुका है, इसलिए इस समय मज़दूर वर्ग के पास तात्कालिक विकल्प समाजवादी जनवाद और पूँजीवादी जनवाद नहीं है, बल्कि उदार पूँजीवादी जनवाद और फासीवादी तानाशाही है। नतीजतन, इस समय कम्युनिस्ट शक्तियों को व्यापक फासीवाद-विरोधी पॉपुलर फ्रण्ट का निर्माण करना चाहिए। उस समय दूसरे इण्टरनेशनल, यानी पीले इण्टरनेशनल की पार्टियों और साथ ही कोमिण्टर्न की पार्टियों के साझा मोर्चे का आह्वान किया गया और साथ ही इस मोर्चे में अन्य सभी फासीवाद-विरोधी ताक़तों को शामिल करने की बात की गयी। इसके अलावा, इस मोर्चे के अन्तरराष्ट्रीय चरित्र पर विशेष तौर पर बल दिया गया। लेकिन साथ ही दिमित्रेव ने यह भी रेखांकित किया कि यह आम नीति है और इसकी कोई भी यान्त्रिक व्याख्या नुकसानदेह हो सकती है। साथ ही, उन्होंने आगाह किया

कि फासीवादी उभार के कई विविध रूप अस्तित्व में आये हैं और उनमें से कुछ औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक समाजों में भी अस्तित्व में आये हैं। उनके विरुद्ध संघर्ष की रणनीति स्वतन्त्र जाँच-पड़ताल के बाद ही बनायी जा सकती है क्योंकि तभी उनकी विशिष्टता की पहचान हो सकती है। कोमिण्टर्न की इसी कार्यदिशा की रोशनी में आने वाले कई वर्षों तक कम्युनिस्टों ने अपनी फासीवाद-विरोधी रणनीति तैयार की। हंगरी में **ग्यॉर्गी लूकाच** ने भी **फासीवाद-विरोधी जनमोर्चे (Anti-Fascist People's Front)** के निर्माण की बात की जिसका मकसद होगा जनता की जनवादी तानाशाही की स्थापना जो कि साम्राज्यवाद के युग में बुर्जुआ शासन के तहत अस्तित्व में आ ही नहीं सकती है। लेकिन ऐसी व्यवस्था का वर्ग चरित्र बुर्जुआ जनवादी ही होगा क्योंकि लूकाच के अनुसार हंगरी में कृषि क्षेत्र में मुख्य कार्य बुर्जुआ भूमि सुधार का ही था।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद भी विश्व के कम्युनिस्ट आन्दोलन में पॉपुलर फ्रण्ट की नीति आम तौर पर स्वीकृत नीति बन गयी। समय बीतने के साथ यह कम्युनिस्टों के बीच एक आकाशवाणी के समान सत्य के तौर पर स्थापित हो गया कि फासीवाद-विरोधी कम्युनिस्ट रणनीति हर-हमेशा पॉपुलर फ्रण्ट की ही होगी! हमारे विचार में यह एक अनैतिहासिक नज़रिये को अपनाने के कारण हुआ है। कम्युनिस्ट आन्दोलन में भी हमेशा से पॉपुलर फ्रण्ट की नीति ही स्वीकार्य नीति नहीं रही है। जैसा कि हमने ऊपर प्रदर्शित किया, विशेष तौर पर 1921 से 1928 के दौर में मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे की रणनीति को अपनाया गया था। पॉपुलर फ्रण्ट की रणनीति केवल तब अपनायी गयी जब यूरोप के तमाम देशों में मज़दूर आन्दोलन निर्णायक तौर पर परास्त हो चुका था और जर्मनी और इटली में फासीवादी सत्ता मज़बूती से स्थापित हो चुकी थी और एक भयंकर नरसंहार और विनाश का ख़तरा पूरी मानवता के सिर पर था। **उस दौर में भी वास्तव में किस हद तक बुर्जुआ और सामाजिक-जनवादी ताक़तों ने ऐसे पॉपुलर फ्रण्ट में सक्रिय और प्रभावी भागीदारी की, यह शोध का विषय हो सकता है।** सरसरी निगाह से देखा जाये तो फासीवाद का विरोध सबसे बहादुरी और प्रभाविता के साथ करने में कम्युनिस्टों के बाद अगर किसी शक्ति का नाम आता है तो वे अराजकतावादी थे, जिन्होंने सशस्त्र तौर पर कई स्थानों पर फ़ासीवादियों से ज़बरदस्त टक्कर ली। कई जगहों पर कम्युनिस्ट और अराजकतावादी साथ में फ़ासीवादियों के ख़िलाफ़ लड़े। सामाजिक-जनवादी ताक़तें ज़्यादातर स्थानों पर आत्मसमर्पण की मुद्रा में थीं और कहीं-कहीं ही कुछ सशस्त्र प्रतिरोध कर रही थीं। इसलिए उस दौर में भी पॉपुलर फ्रण्ट में वास्तव में उदार बुर्जुआ या सामाजिक-जनवादी ताक़तों की औपचारिक ही भूमिका थी, न कि वास्तविक। वास्तविक तौर पर अधिकांश जगहों पर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट और अराजकतावादी ही फासीवादी ताक़तों के विरुद्ध लड़ रहे थे। बहरहाल, फिर भी पॉपुलर फ्रण्ट की नीति अगर अराजकतावादी शक्तियों को भी साथ लेने की निगाह से देखा जाये, तो सही थी। कम-से-कम तात्कालिक तौर पर, यही उस समय की कमोबेश व्यावहारिक नीति प्रतीत होती है।

मगर आज के दौर में क्या पॉपुलर फ्रण्ट की नीति क्या फासीवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष की आम रणनीति हो सकती है? हमारे विचार में यह मुश्किल है। इसका कारण यह है कि 1934-35 के दौर से आज पूँजीवाद और पूरी पूँजीवादी दुनिया बहुत आगे निकल आयी है। उस दौर में सामाजिक-जनवादी शक्तियों में जो कुछ प्रगतिशील बचा था, वह भी आज कितना बचा है, यह देखना पड़ेगा। वास्तव में, रूस और चीन में सत्ता में आने और रहने के बाद भी पूरे सामाजिक-जनवाद के चरित्र में और ज़बरदस्त प्रतिक्रियावादी परिवर्तन हुए हैं। क्या आज चीन की सामाजिक-फासीवादी और धीरे-धीरे विश्व पूँजीवाद में अपनी वर्चस्वकारी स्थिति को स्थापित करने की प्रक्रिया में व्यस्त चीनी बुर्जुआज़ी से यह उम्मीद की जा सकती है कि वह किसी फासीवाद-विरोधी मोर्चे में वास्तविक (औपचारिक नहीं!) और सक्रिय (जुबानी जमाख़र्च नहीं!) वाली भूमिका निभायेगी? क्या आज माकपा और भाकपा जैसी शक्तियों से यह उम्मीद की जा सकती है कि वे भारत में फासीवादी उभार के ख़िलाफ़ नपुंसक किस्म का प्रतीकवाद करने के अलावा कोई जुझारू भूमिका निभायेंगे? अगर ऐसा करना होता तो क्या 2002 के गुजरात नरसंहार के ख़िलाफ़ ही ये सामाजिक-जनवादी पार्टियाँ पूरे देश में आम हड़ताल का आह्वान नहीं कर सकती थीं, क्योंकि सबसे बड़ी ट्रेड यूनियनें इन्हीं के पास हैं? **ये ताक़तें आज बुर्जुआ चुनावी खेल में इस कदर डूबी हुई हैं और पूँजीपति वर्ग के साथ इनका समेकन 1930 के दशक की तुलना में इतना बढ़ गया है कि ये फासीवादी उभार के विरुद्ध कोई भी जुझारू कदम उठाने की क्षमता खो बैठी हैं।** कुल मिलाकर इन संशोधनवादी पार्टियों से जुड़े या उनके करीब पड़ने वाली कुछ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी हैं जो कि फासीवादी उभार के इतिहास और जन्मकुण्डली को खोलने में एक सराहनीय भूमिका निभाते हैं। लेकिन विडम्बना की बात है कि उनकी ये रचनाएँ भी आम तौर पर अंग्रेज़ी में होती हैं और इनको भी जनता के बीच जनता की भाषा में ले जाने का कार्य आम तौर पर स्वतन्त्र मार्क्सवादी या फिर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टियाँ और समूह ही करते हैं। संक्षेप में, ये तमाम उदार पूँजीवादी और सामाजिक-जनवादी ताक़तें वह थोड़ी-बहुत क्षमता भी खो चुके हैं, जो कि 1930 के दशक में इन्हें 'पॉपुलर फ्रण्ट' जैसे किसी फासीवाद-विरोधी मोर्चे में शामिल होने के योग्य बनाती थी। **आज के दौर में ये जिन भी फासीवाद-विरोधी मोर्चों में शामिल भी होते हैं, उनमें भी ये उसकी धार को कुन्द करने, कुछ उदारवादी रवैया अपनाने की वकालत करने, कायरता प्रदर्शित करने और हर प्रकार की जुझारू कार्रवाई से बचने के प्रयास में लगे रहते हैं।** इस रूप में ये ताक़तें आज ऐसे मोर्चे की शक्ति को कमज़ोर ही करती हैं।

इस परिवर्तन का कारण क्या है? सामाजिक जनवाद वास्तव में एक टटपुँजिया पूँजीवादी विचारधारा ही है। इसका सामाजिक आधार भी वास्तव में टटपुँजिया वर्गों के बीच ही होता है; यह दीगर बात है कि यही टटपुँजिया वर्ग संकट के दौर में फासीवाद का आधार बन जाते हैं। कारण यह है कि सामाजिक जनवादी राजनीति पूँजीवाद की समृद्धि के दौरों में और सामान्य दौरों में इन्हीं वर्गों को मिली हुई सहूलियतों की हिफ़ाज़त करने का काम करती हैं। लेकिन जब संकट के दौर में व्यवस्था इतना अधिशेष उत्पन्न नहीं करती जिससे

कि इन सहूलियतों का ख़र्च उठाया जा सके, तो सामाजिक-जनवाद के समझ नहीं आता है कि वह क्या करे! नग्न रूप से नवउदारवादी होना उसके लिए सम्भव नहीं होता क्योंकि इससे वह अपने बचे-खुचे वोटर भी खो देगा और वैसे भी बुर्जुआ राजनीति के उस खेमे में पहले ही माँग से ज़्यादा आपूर्ति है; न ही वह क्रान्तिकारी रास्ते को अपना सकता है! दूसरे शब्दों में कहें तो सामाजिक-जनवाद मन्दी और राजनीतिक संकट से घिरी पूँजीवादी व्यवस्था से निपटना नहीं जानता क्योंकि क्रान्तिकारी रास्ता उसकी कल्पना के सीमान्त के दूसरी ओर होता है। **नतीजतन, वही वर्ग जो सहूलियतें मिलने तक सामाजिक-जनवाद का आधार होता है, इन सहूलियतों के कम होने या ख़त्म होने पर आम तौर पर पूँजीवादी प्रतिक्रिया और विशिष्ट तौर पर फासीवादी प्रतिक्रिया का सामाजिक आधार बनता है।**

ख़ैर, हम अभी जिस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि सामाजिक-जनवाद का सामाजिक आधार हमेशा से ही पूँजीवादीकृत मज़दूर वर्ग (सफेद कॉलर वाले कुलीन मज़दूर), टटपुँजिया वर्ग (मँझोले किसान, छोटे उद्यमी व व्यवसायी आदि) और पेशेवर मध्यवर्ग का एक हिस्सा होता है। 1930 के दशक में इन वर्गों में कुछ प्रगतिशील सम्भावना बची थी। दूसरे शब्दों में मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के लिए खाते-पीते मध्यवर्ग की प्रासंगिकता एक हद तक बची हुई थी। **लेकिन आज भूमण्डलीकरण और नवउदारवाद के दौर में यह वर्ग मज़दूर वर्ग के साथ अपनी ऐतिहासिक ग़द्दारी को अंजाम दे चुका है।** आज इसके कुछ सदस्य मज़दूर आन्दोलन के साथ आ सकते हैं, या ज़्यादा से ज़्यादा इसका एक बेहद छोटा-सा हिस्सा मज़दूर आन्दोलन के साथ आ सकता है। मूलतः और मुख्यतः खाता-पीता मध्यवर्ग मज़दूर वर्ग के साथ अपना विश्वासघात कर चुका है। मध्यवर्ग के चरित्र में आये इस बदलाव के कारण इसकी पूरी ऐतिहासिक भूमिका में भी परिवर्तन आया है। आज के दौर में पूँजीवादी व्यवस्था ने खाते-पीते मध्यवर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को तमाम किस्म की सुविधाओं और ऋण-वित्तपोषित उपभोग की नीति द्वारा सहयोजित कर लिया है। इसका अधिकांश हिस्सा संकट के दौर में बर्बाद होने पर भी मज़दूर वर्ग के साथ नहीं आता, बल्कि फासीवाद का ही आधार बनता है क्योंकि इसकी आकांक्षाएँ मूलतः पूँजीवादी हो चुकी हैं।

खाते-पीते मध्यवर्ग के चरित्र में आये इन ऐतिहासिक परिवर्तनों के फलस्वरूप और साथ ही रूस और चीन में सामाजिक-जनवादी सत्ताओं के सामाजिक फासीवाद के पूर्ण रूप से अनावृत्त होने के ऐतिहासिक अनुभवों के बाद सामाजिक-जनवाद के चरित्र में भी अहम बदलाव हुए हैं। आज उनमें वह प्रगतिशीलता भी नहीं बची रह गयी है जो कि एक फासीवाद-विरोधी पॉपुलर फ्रण्ट के स्थायी और भरोसेमन्द मित्र बनने के लिए एक अनिवार्य पूर्वशर्त है। आज अन्य उदार पूँजीवादी ताक़तों में भी किसी में यह राजनीतिक पुंसत्व नहीं रह गया है कि वह फासीवादी उभार का सक्रिय और जुझारू तौर पर मुकाबला करने के लिए आगे आये। **ऐसे में, कुछ मुद्दों या घटनाओं पर ऐसी ताक़तों के साथ संयुक्त गतिविधि करना एक बात हो सकती है और इसमें कोई गुरेज़ भी नहीं होना चाहिए। मगर सकारात्मक तौर पर ऐसा कोई फासीवाद-विरोधी मोर्चा बनाना हो तो निश्चित तौर पर**

क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तों को स्वयं अपनी ताक़त और प्रयासों पर ज़्यादा भरोसा करना चाहिए; वैसे तो भारत में उस प्रकार ऐसे अराजकतावादी समूह या संगठन पाये नहीं जाते हैं जो कि जुझारू तरीके से फ़ासीवादियों के ख़िलाफ़ संघर्ष करने को तैयार हों (जैसे कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में और आज भी यूरोप के तमाम देशों में पाये जाते हैं) , मगर फिर भी अगर ऐसे अराजकतावादी समूह हों तो उनके साथ फासीवाद-विरोधी मोर्चा बनाया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में कहें तो आज फासीवाद-विरोधी पॉपुलर फ्रण्ट की कार्यदिशा कितनी कारगर होगी इस पर इतिहास ने कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न-चिन्ह खड़े कर दिये हैं। पॉपुलर फ्रण्ट की सोच पर आज प्रश्न इसलिए भी खड़े हो गये हैं कि आज उदार पूँजीपति वर्ग के पूरे चरित्र में भी कुछ बुनियादी बदलाव आये हैं। इज़ारेदार पूँजीवाद जिस तेज़ी से लेनिन के समय से कहीं ज़्यादा परजीवी, अनुत्पादक, सट्टेबाज़ और जुआखोर बना है, उसी गति से तथाकथित उदार पूँजीपति वर्ग की सारी उदारता, बची-खुची जनवादी स्पिरिट जाती रही है। हम यह प्रश्न भी पूछ सकते हैं कि आज मज़दूर वर्ग के आन्दोलनों के दमन और उसके अधिकारों को छीने जाने की बात करें तो क्या दुनिया भर के देशों के उदार पूँजीपति वर्ग उन देशों के फ़ासीवादियों से क्या ज़्यादा पीछे ठहरते हैं? यह उदार पूँजीपति वर्ग 1930 के दशक में भी कोई ज़्यादा प्रगतिशील नहीं रह गया था, मगर आज तो इसकी प्रगतिशीलता की बात एक अच्छा राजनीतिक चुटकुला हो सकती है। साथ ही, आज के फासीवादी उभार के जवाब में क्या किसी उदार पूँजीवादी जनवाद के लिए लड़ना सम्भव है? दूसरे शब्दों में, क्या उदार पूँजीवादी जनवाद जैसी कोई चीज़ अब अस्तित्वमान है? उन्नत दुनिया तक में इस उदार पूँजीवादी जनवाद कितना उदार और कितना जनवादी रह गया है, इस पर गहरे सवालिया निशान लग रहे हैं। ऐसे में, फासीवादी उभार के समक्ष आज मज़दूर वर्ग के पास विकल्प उदार पूँजीवादी जनवाद नहीं बल्कि समाजवाद है। इसलिए कोई व्यक्ति किसी भी वर्ग से क्रान्ति का मित्र और फासीवाद का विरोधी हो सकता है मगर "उदार" पूँजीपति वर्ग के किसी भी हिस्से को फासीवाद-विरोधी मोर्चे में शामिल करने की बात करना आज कितना अर्थपूर्ण होगा, इस पर सोचना पड़ेगा।

यही बात राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग पर भी लागू होती है, जो कि अब इतिहास की संग्रहालय की वस्तु बन चुका है! दुनिया के किसी भी देश में आज बुर्जुआ वर्ग का कौन-सा हिस्सा जनता के साथ है? कोई नहीं! बुर्जुआ वर्ग के हरेक हिस्से को आज सत्ता में कम या ज़्यादा भागीदारी हासिल है। अपनी भागीदारी के हिस्से को बढ़ाने के लिए उनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा और अन्तरविरोध होना और हमारे द्वारा उन अन्तरविरोधों का लाभ उठाने के दाँव-पेच अलग मसला हैं, मगर अपने इन तमाम अन्तरविरोधों के बावजूद मेहनतकश ग़रीब जनता के विरुद्ध वे एक हैं।

एक उदाहरण से हम अपनी बात स्पष्ट करना चाहेंगे। हमने देखा था कि जब दिल्ली में इस सहस्राब्दी की शुरुआत में प्रदूषण के नाम पर छोटे उद्योग-धन्धे आदि दिल्ली से बाहर किये

जा रहे थे या बन्द किये जा रहे थे और उसके बाद जब खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की बात हो रही थी तो हमारे देश के नवजनवादी क्रान्ति मानने वालों ने किस प्रकार अपना मखौल बनाया था। **मतलब, एक मज़ेदार दृश्य उपस्थित हुआ था! नवजनवादी क्रान्ति मानने वाले कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी इस तथाकथित "राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग" (छोटे मालिक, उद्यमी, दुकानदार आदि) के पीछे यह चिल्लाते हुए भाग रहे थे कि 'हम तुम्हारे असली हिमायती हैं', तो दूसरी ओर यह "राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग" भाजपा के तमाम स्वदेशी की बात करने वाले मंचों के पीछे यह कहते हुए भाग रहा था कि 'तुम तो हमारे थे!'; मगर भाजपा देशी-विदेशी बड़े पूँजीपतियों के पीछे भाग रही थी कि 'हम तुम्हारे असली नुमाइन्दे हैं!' और यह देशी-विदेशी बड़ी पूँजी देश की मेहनत और कुदरत को खुले हाथों से लूटने के लिए भाग रही थी! मतलब पूरा दृश्य मज़ेदार था!**

आज किसी फासीवाद-विरोधी पॉपुलर फ्रण्ट के लिए उदार पूँजीपति वर्ग या राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के पीछे भागना ऐसा ही मज़ाकिया दृश्य उपस्थित कर सकता है। ये वर्ग आज अपने तरह से हर प्रकार की प्रतिक्रिया के साथ खड़े हैं और संकट के कारण पैदा होने वाली अनिश्चितता हर दिन उन्हें विभिन्न प्रकार के प्रतिक्रियावादियों की बाँहों में धकेल रही है। वे अपनी हर प्रकार की जनवादी सम्भावना से आज लगभग रिक्त हो चुके हैं और इस रूप में फासीवाद से लड़ने की शक्ति और पुंसत्व और कुछ भी नया पैदा करने की उर्वरता वे खो चुके हैं।

हमारे विचार में पिछले सात-आठ दशकों में और विशेष तौर पर पिछले पाँच दशकों में उदार पूँजीपति वर्ग और खाते-पीते मध्य वर्ग के चरित्र में कुछ बुनियादी बदलाव आये हैं और राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग इतिहास के रंगमंच पर अपनी 'कैमियो' भूमिका निभाकर प्रस्थान कर चुका है। हमारा मानना है कि भूमण्डलीकरण के दौर के परजीवी, सट्टेबाज़, खोखले और मरणासन्न इज़ारेदार पूँजीवाद के इस दौर में हमें एक नये रूप और नये अर्थ में मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे की बात करनी चाहिए। नये रूप और नये अर्थ में इसलिए कि अब सामाजिक-जनवादी/सामाजिक फासीवादी ताक़तों के साथ फासीवाद-विरोध के कार्य में कोई रणनीतिक मोर्चा बनेगा, इसकी गुंजाइश कम ही है; आज उनके साथ मुद्दा-आधारित फासीवाद विरोधी मोर्चे बन सकते हैं, मगर कोई दीर्घकालिक फासीवाद-विरोधी मोर्चे में भाकपा, माकपा आदि जैसी ताक़तों को शामिल करना पूरे उद्देश्य को ही बेकार कर देगा। लेकिन निश्चित तौर पर ऐसे फासीवाद-विरोधी मोर्चे में समाज के तमाम जेनुइन और जुझारू जनवादी, प्रगतिशील व सेक्युलर तत्वों को शामिल करने की पुरज़ोर कोशिश की जानी चाहिए। आज ऐसे किसी मोर्चे के अभाव में ये तत्व या तो निराश हैं या फिर विकल्पहीनता में सामाजिक-जनवादियों व संशोधनवादियों की प्रतीकात्मक कवायदों का हिस्सा बनते हैं। लेकिन अगर मज़दूर वर्ग का फासीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चा खड़ा किया जाये तो इन तत्वों को साथ लिया सकता है।

हमें जिस प्रकार के मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे की आज फासीवाद के प्रतिरोध हेतु ज़रूरत है उसमें कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियों का एकजुट होना एक अहम ज़रूरत है। इसके अतिरिक्त विशेष तौर पर अनौपचारिक क्षेत्र व असंगठित क्षेत्र के विराटकाय मज़दूर वर्ग को फासीवाद के विरुद्ध एकजुट करने की आवश्यकता है; दूसरी सबसे बड़ी आवश्यकता है भारत के विशाल निम्न मध्यवर्ग को एकजुट करना और उन्हें फासीवाद के हत्थे न चढ़ने देना; याद रहे कि इस निम्न मध्यवर्ग को एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा अर्द्धमज़दूर जैसा ही है और उसकी नैसर्गिक एकता खाते-पीते मध्यवर्ग के साथ नहीं बल्कि मज़दूर वर्ग के साथ बनती है। तीसरा अहम कार्य होगा जाति-विरोधी जुझारू जनसंघर्षों को और साथ ही पितृसत्ता-विरोधी स्त्री संघर्षों को इस मोर्चे का अंग बनाना; आज इन संघर्षों की शक्ति और सम्भावनासम्पन्नता में वृद्धि हुई है और इन संघर्षों के नेतृत्व को सर्वहारा शक्तियों को अपने हाथ में लेकर उसे अम्बेडकरवादी राजनीति के जंजाल से निकालना चाहिए और साथ ही स्त्री संघर्षों को बुर्जुआ नारीवाद के गर्त से बाहर निकालना चाहिए। कभी भूलना नहीं चाहिए कि दलितों और स्त्रियों के भी सबसे जुझारू और लड़ाकू संघर्ष क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में हुए हैं न कि विभिन्न प्रकार के सुधारवादियों, व्यवहारवादियों, अम्बेडकरवादियों और बुर्जुआ नारीवादियों के नेतृत्व में। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों को एक बार फिर से इन मोर्चों पर अपने वर्चस्व को स्थापित कर इन संघर्षों को एक सही क्रान्तिकारी दिशा में मोड़ने का प्रयास करना चाहिए। लेकिन यह तो एक आम कार्यभार है जिस पर हर सूरत में कम्युनिस्टों को काम करना ही होगा। जब तक ऐसा नहीं भी होता है, तब तक भी 'जेनुइन' जाति-विरोधी संघर्षों और पितृसत्ता-विरोधी संघर्षों को फासीवाद-विरोधी मोर्चे में शामिल करना चाहिए। जो ईमानदार और जुझारू अराजकतावादी विचारधारा को मानने वाले लोग हैं (हालाँकि ऐसे समूह भारत में बिरले ही मिलते हैं!) वे भी फासीवाद-विरोधी संघर्ष के ज़्यादा टिकाऊ और सशक्त मित्र बन सकते हैं। लेकिन चूँकि ऐसे क्रान्तिकारी और सक्रिय अराजकतावादियों की परम्परा ही भारत में कमज़ोर है, इसलिए उनके बारे में ज़्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता है। भारत में ज़्यादातर अराजकतावादी वस्तुतः निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी हैं; यानी बातें काफ़ी गर्म करते हैं, मगर व्यावहारिक तौर पर कुछ भी नहीं करते! विश्वविद्यालय परिसरों और अन्य कुलीन बौद्धिक दायरों से बाहर उनकी मौजूदगी नगण्य है। मगर फिर भी अगर ऐसे 'जेनुइन' अराजकतावादी समूह और संगठन हों जिनकी मज़दूर-वर्गीय कार्यदिशा हो, तो फासीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चे में उन्हें शामिल होना चाहिए।

इसके अलावा, एक क्षेत्र जिसमें कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तें विशेष तौर पर कमज़ोर हैं, वह है ग्रामीण मज़दूर वर्ग (जिसमें कि खेतिहर और ग़ैर-खेतिहर मज़दूर दोनों ही शामिल हैं) के बीच अपने क्रान्तिकारी जनसंगठनों की मौजूदगी। यह फासीवाद-विरोधी मोर्चे के लिए आज विशेष तौर पर महत्वपूर्ण है। कुलक राजनीति के प्रस्थान के साथ फासीवाद ने गाँवों अपना मज़बूत वर्ग मित्र ढूँढ लिया है। अगर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तें गाँवों में अपने वर्ग मित्रों को साथ लेकर वर्ग संघर्ष में उतरने को तैयार नहीं हैं, तो तमाम किस्म की

आदिम धारणाओं, वर्ग चेतना की कमी और जातिगत वर्चस्व के कारण ग्रामीण मज़दूरों का एक भी एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा धनी काश्तकार किसानों और पूँजीवादी भूस्वामियों के संगठनों का पुछल्ला बनकर फ़ासीवादियों के पैदल सैनिकों की संख्या ही बढ़ायेगा। **यह क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन के लिए प्राणान्तक सिद्ध हो सकता है। इस बात को समझने में अब ज़्यादा देर नहीं की जा सकती; हमारे पास कतई वक़्त की कमी है।**

जिन राजनीतिक ताक़तों और सामाजिक वर्गों को हम फासीवाद-विरोधी मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे में शामिल करने की बात कर रहे हैं, वह आज समाज की भारी बहुसंख्या है। लेकिन इस बहुसंख्या को गोलबन्द और संगठित करने के लिए महज़ फासीवाद के इतिहास या उसकी सैद्धान्तिक परिभाषा को समझ लेना पर्याप्त नहीं होगा। हमें यह भी समझना होगा कि बीसवीं सदी में फासीवादी उभार की परिघटना आज इक्कीसवीं सदी में हूबहू दुहरायी नहीं जाने वाली है। फासीवादी उभार की विचारधारा और राजनीति में विश्व पूँजीवादी व्यवस्था और उसके संकट के चरित्र में आने वाले बदलावों के साथ जो बदलाव आये हैं, उन्हें समझना आज अनिवार्य है। इसके बिना, फासीवाद के प्रतिरोध के लिए मज़दूर वर्ग का क्रान्तिकारी आन्दोलन कोई रणनीति नहीं बना सकता है। मौजूदा पुस्तिका में फासीवादी उभार की परिघटना का विश्लेषण करते हुए हमने कुछ परिवर्तनों की ओर ध्यानाकर्षित करने का प्रयास किया था। मगर फिर भी हमें इस विश्लेषण में कुछ अहम छूटे हुए नुक्तों को जोड़ना मोदी सरकार और फासीवाद के इस नये उभार के समकालीन सन्दर्भ में ज़रूरी महसूस हुआ। ग़ौरतलब है कि यह पुस्तिका उस समय लिखी गयी थी जब कुछ अतिआशावादी निठल्ला वामपंथी और साथ ही कुछ क्रान्तिकारी वामपंथी फासीवाद को चुक गयी शक्ति क़रार दे रहे थे। हमने तब भी आग्रहपूर्वक कहा था कि ऐसा सोचना क्रान्तिकारी वाम की भारी भूल सिद्ध होगा। 2014 के लोकसभा चुनावों में फासीवादी शक्तियों की अभूतपूर्व जीत ने इस बात को सिद्ध भी किया। एक ऐसे दौर में हमने इस पुस्तिका के साथ यह पश्चलेख जोड़ा है और हम उम्मीद करते हैं कि इससे हम इस पुस्तिका में पेश अपनी समझदारी को और विस्तार के साथ व्याख्यायित कर पाये होंगे और साथ ही उसे विस्तार दे पाये होंगे।

16 July 2015

उन समझदारों के लिए सबक जो हमेशा हाशिये पर पड़े रहना चाहते हैं

समझदारों का गीत

हवा का रुख़ कैसा है, हम समझते हैं

हम उसे पीठ क्यों दे देते हैं, हम समझते हैं

हम समझते हैं ख़ून का मतलब

पैसे की क़ीमत हम समझते हैं

क्या है पक्ष में विपक्ष में क्या है, हम समझते हैं

हम इतना समझते हैं

कि समझने से डरते हैं और चुप रहते हैं

चुप्पी का मतलब भी हम समझते हैं

बोलते हैं तो सोच-समझ कर बोलते हैं हम

हम बोलने की आज़ादी का

मतलब समझते हैं

टुटपुँजिया नौकरी के लिए

आज़ादी बेचने का मतलब हम समझते हैं

मगर हम क्या कर सकते हैं

अगर बेरोज़गारी अन्याय से

तेज़ दर से बढ़ रही है

हम आज़ादी और बेरोज़गारी दोनों के

ख़तरे समझते हैं

हम ख़तरों से बाल-बाल बच जाते हैं

हम समझते हैं

हम क्यों बच जाते हैं, यह भी हम समझते हैं।

———————

हम सरकार से दुखी रहते हैं
कि समझती क्यों नहीं
हम जनता से दुखी रहते हैं
कि भेड़ियाधँसान होती है
हम सारी दुनिया के दुख से दुखी रहते हैं
हम समझते हैं
मगर हम कितना दुखी रहते हैं यह भी
हम समझते हैं
यहाँ विरोध ही वाजिब कदम है
हम समझते हैं
हम कदम-कदम पर समझौते करते हैं
हम समझते हैं
हम समझौते के लिए तर्क गढ़ते हैं
हर तर्क गोल-मटोल भाषा में
पेश करते हैं, हम समझते हैं
हम इस गोल-मटोल भाषा का तर्क भी
समझते हैं
वैसे हम अपने को किसी से कम
नहीं समझते हैं
हर स्याह को सफ़ेद और
सफ़ेद को स्याह कर सकते हैं
हम चाय की प्यालियों में
तूफ़ान खड़ा कर सकते हैं

करने को तो हम क्रान्ति भी कर सकते हैं

अगर सरकार कमज़ोर हो

और जनता समझदार

लेकिन हम समझते हैं

कि हम कुछ नहीं कर सकते हैं

हम क्यों कुछ नहीं कर सकते हैं

यह भी हम समझते हैं।

– गोरख पाण्डेय

हाशिये पर खड़े लोगों के अपने दुःख होते हैं तो अपने सुख भी होते हैं। सवाल देखने के नज़रिये और ज़ोर का होता है। हाल ही में, हाशिये पर खड़े वामपन्थी आन्दोलन से लम्बे समय से जुड़े रहे एक बुद्धिजीवी रवि सिन्हा ने हाशिये पर खड़े अपने अन्य बिरादरों के लिए भारत में साम्प्रदायिक फ़ासीवाद के उभार के बरक्स कुछ सबक पेश किये हैं (*http://nsi-delhi.blogspot.in/2014/05/lesson-for-saner-segments-of-margins.html* व हिन्दी अनुवाद 'समकालीन तीसरी दुनिया' के जून, 2014 के अंक में प्रकाशित)। लेकिन इन सबकों को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि ये सबक हमेशा हाशिये पर ही कैसे खड़े रहें, इसका 'यूज़र मैनुअल' है। यूँ भी कह सकते हैं कि यह आज के सबसे ज़रूरी कार्यभारों को अनिश्चितकाल तक के लिए स्थगित कर देने का प्रस्ताव है।

इस लेख की एक विस्तृत आलोचना पेश करना हम कई कारणों से ज़रूरी समझते हैं, हालाँकि इस लेख में हाशिये पर खड़े (पड़े!?) लोगों का आवाहन किया गया है!

पहला कारण यह है कि यह लेख 'हाशिये' को काफ़ी आकर्षक बना देता है; नतीजतन, जो अभी हाशिये पर नहीं है और राजनीतिक मुख्य भूमि की ओर जा सकते हैं, या फिर जो हाशिये पर अपनी इच्छा या चुनाव से नहीं हैं या सम्भवतः हाशिये पर अपनी अवस्थिति के बारे में सचेत भी नहीं हैं; ऐसे सभी लोगों के लिए यह लेख 'हाशिये' को एक वांछनीय स्थान बना देता है। **दूसरा कारण** यह है कि 'हाशिये' को मनमोहक बनाने की प्रक्रिया में यह लेख इतिहास और विचारधारा दोनों के ही साथ बदसलूकी करता है। फ़ासीवाद के इतिहास और विचारधारा की इस 'समझदारों के पाठ' में जो समझदारी पेश की गयी है, उसे अधिकतम सम्भव उदारता के साथ लचर और बचकाना कहा जा सकता है। इसलिए कुछ अहम विचारधारात्मक और इतिहास-सम्बन्धी मुद्दों पर साफ़-नज़र होने के लिए भी हम इस लेख की आलोचना को ज़रूरी समझते हैं।

लेख में जो बातें कहीं गयीं हैं, उनकी क्रमानुसार या महत्वानुसार आलोचना की जा सकती है। चूँकि लेख में शैली और अन्तर्वस्तु की निरन्तरता कमोबेश बनी रही है, इसलिए क्रम

का निर्धारण महत्व से ही हुआ है। और पाठकों की सुविधा के लिए लेख में पेश मुद्दों के क्रम के अनुसार अपनी आलोचना रखना ही उचित होगा। चूँकि प्रकाशित हिन्दी अनुवाद में कुछ स्थानों पर हमें शुद्धता का अभाव महसूस हुआ इसलिए हम मूल अंग्रेज़ी लेख को ही अपने स्रोत के तौर पर इस्तेमाल कर रहे हैं। जहाँ कहीं भी हमने लेखक को उद्धृत किया है, वह हमारा अनुवाद है।

सबकों की पृष्ठभूमि की तैयारीः भाषा में अन्तर्निहित भूगोल और स्थलाकृति

'जब बदलाव करना सम्भव था

मैं आया नहीं: जब यह ज़रूरी था

कि मैं, एक मामूली सा शख़्स, मदद करूँ,

तो मैं हाशिये पर रहा।'

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, 'सेण्ट जोन ऑफ दिन स्टॉकयार्ड्स')

लेखक मानता है कि उनका सरोकार उस हाशिये से नहीं है जो कि राजनीतिक मुख्यभूमि के दक्षिण में पड़ता है, बल्कि उस हाशिये से है जो कि इस मुख्यभूमि के वाम पक्ष में पड़ता है। लेखक चिन्तामग्न है कि पूरा का पूरा वाम अब इस हाशिये पर ही चला गया है। यद्यपि परम्परागत वाम इस बात को अभी स्वीकार नहीं कर सका है। लेखक यह भी मानता है कि स्वयं उसके जीवन का बहुलांश इस हाशिये पर बीता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस हाशिये पर नये वामपन्थी आगन्तुकों का वह एक बहुआयामी विडम्बना-बोध के साथ स्वागत कर रहा है। इस विडम्बना-बोध का एक आयाम तो यह है कि इसके नवागन्तुकों का एक बड़ा हिस्सा अब तक राजनीतिक मुख्यभूमि में था और अब दक्षिणपन्थ के उभार ने उसे हाशिये पर धकेल दिया है! और इसका दूसरा आयाम यह है कि लेखक इन नवागन्तुकों का स्वागत करते हुए भी यह जानता है कि हाशिये पर रहने के लम्बे अनुभव से लैस एक समझदार व्यक्ति (wiseman) द्वारा दिये जा रहे सबकों पर ये नवागन्तुक कान नहीं देंगे! इससे पहले कि लेखक द्वारा प्रयोग में लायी गयी शब्दावली की राजनीति पर अपनी बात रखते हुए हम अपनी आलोचना की विधिवत् शुरुआत करें, पहले इस शब्दावली में अन्तर्निहित भूगोल (geography) और स्थलाकृति-विज्ञान (topography) को भी समझ लिया जाय, विशेष तौर पर, राजनीतिक मुख्यभूमि और हाशिये को।

यहाँ राजनीतिक मुख्यभूमि संसद व विधानसभा प्रतीत होते हैं, हालाँकि लेखक ने सम्भवतः इरादतन इसके बारे में अस्पष्टता बनाये रखी है। समाज विज्ञान और आलोचनात्मक सिद्धान्त बहुत पहले ही बता चुका है कि चुप्पियों (silences) के भी अर्थ होते हैं, और अकसर वे 'टेक्स्ट' से भी अहम होते हैं। वस्तुतः, सामाजिक सिद्धान्त की किसी भी शाखा

का असल मकसद शब्दों से ज़्यादा इन चुप्पियों को विकूटीकृत (decipher) करना होता है! बहरहाल, यहाँ **राजनीतिक मुख्यभूमि** का अर्थ संसद-विधानसभा ही प्रतीत होता है। क्योंकि संसदीय वाम के अतिरिक्त जो वाम है, वह तो पहले से ही हाशिये पर है! **ऐसे में, जिन नवागन्तुकों के हाशिये में आगमन की बात की जा रही है, वह निश्चित तौर पर संसदीय वाम ही है, यानी भाकपा, माकपा, भाकपा (माले) लिबरेशन इत्यादि।**

लेकिन **हाशिये** का अर्थ यहाँ केवल ग़ैर-संसदीय वाम नहीं प्रतीत होता। बल्कि यह भूभाग उन शक्तियों का है जिनका समाज में कोई विशेष आधार या पकड़ नहीं है। पहले तो हाशिये पर वह वाम ही था जिसे आम तौर पर चलताऊ राजनीतिक शब्दावली में '*लेफ्ट ऑफ सीपीएम*' कहा जाता है। लेकिन अब दक्षिणपन्थी फ़ासीवाद के इस नये उभार ने उस वाम को भी हाशिये पर पहुँचा दिया है जो '*सीपीएम या राइट ऑफ सीपीएम*' हैं! ऐसे में, लेखक चिन्तित है। वह खुद के लम्बे समय से हाशिये पर ही रहने से उतना चिन्तित नहीं है, जितना कि इस बात से कि जो संसदीय वामपन्थी हाशिये पर नहीं थे वे भी हाशिये पर आ गये हैं और हाशिया 'ओवरक्राउडेड' हो गया है! फिर भी, वह भारी मन और भरे दिल से इन संसदीय वामपंथियों का हाशिये पर खुली बाहों के साथ स्वागत भी कर रहे हैं! कम-से-कम लेखक के शब्दों के प्रयोग-व्यवहार या प्रयोग-धर्म से तो उनके राजनीतिक भूविज्ञान के यही अर्थ सम्प्रेषित होते हैं। क्योंकि उन्होंने राजनीतिक मुख्यभूमि और हाशिये की कोई विवादित सीमा-रेखा भी स्पष्ट नहीं की है। बहरहाल, यहाँ से हम अपनी आलोचना के पहले प्रमुख बिन्दु पर आ सकते हैं।

शब्दावली में निहित इस भूविज्ञान से एक बात स्पष्ट हैः लेखक 'वाम' या 'वामपन्थ' को एक 'जेनेरिक' शब्द के रूप में इस्तेमाल करते हैं और इसका उग्रता के साथ तर्कपोषण करते हैं। 'समझदार लोगों' से लेखक का क्या तात्पर्य है, यह उन्होंने यह कहकर बताने से इंकार कर दिया है कि ऐसी कसौटियाँ निर्धारित करने का पाण्डित्य-प्रदर्शन उन्हें नहीं करना है! लेकिन बाद में वह अपने आपको ऐसे पाण्डित्य-प्रदर्शन से रोक नहीं पाये हैं और एक बेहद व्यापक पैमाना उन्होंने पेश कर ही दिया है! इसमें वे सभी लोग हैं, जो कि उन "पागलों से भरी परिधि" में नहीं हैं जो कि संशोधनवादी वामपन्थ और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद में फर्क करते हैं! इस बात को लेखक ने प्रहसनात्मक ढंग से कहा हैः "*जो बाकी सभी दूसरे लोगों पर संशोधनवाद, ग़द्दारी और इससे भी बुरे आरोप लगाकर ही ज़िन्दा रहते हैं!*" स्पष्ट है कि अगर लेनिन या माओ ज़िन्दा होते तो वह भी लेखक के अनुसार इसी पागलपन की परिधि में आते! हम स्पष्ट कर दें कि **सवाल यहाँ यह नहीं है कि कोई क्रान्तिकारी मार्क्सवादी संशोधनवादियों के सैद्धान्तिकीकरणों से विचारधारात्मक तौर पर 'इंगेज' करेगा या नहीं!** सवाल यह है कि वह उनसे कोई बहस या संवाद इसलिए नहीं चलाता है कि वह उन्हें क्रान्तिकारी वाम का अंग मानता है या उनसे कोई उम्मीद रखता है! लेनिन या बाद में माओ ने अगर संशोधनवादियों से विचारधारात्मक संघर्ष चलाया तो इसका मक़सद क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की हिफ़ाज़त और क्रान्तिकारी कतारों की शिक्षा थी। लेकिन यहाँ सभी क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को जानबूझकर एक श्रेणी में रख दिया गया हैः वे

बचकाने लोग जो अपने सिवा बाकी सभी लोगों को संशोधनवादी, ग़द्दार आदि की संज्ञा देकर ज़िन्दा रहते हैं; वे बचकाने लोग जो मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच के पुराने पड़ चुके फर्क की माला जपते रहते हैं, जबकि दूसरी ओर साम्प्रदायिक फ़ासीवादी उभार सिर पर खड़ा है! निश्चित तौर पर, यह स्वर पराजयबोध और निराशा के गर्त में पड़े लोगों को वाकई 'वाइज़ मैन' का स्वर प्रतीत हो सकता है! लेकिन सच्चाई यह है कि 'वाइज़ मैन' के पास न तो फ़ासीवाद की कोई ऐतिहासिक समझदारी है और न ही उसके प्रतिरोध को संगठित करने की रणनीतियों के बारे में। वह इस बात से भी नावाकिफ़ है कि इतिहास में फ़ासीवादी उभार में योगदान करने वाले कारकों में एक अहम कारक रहा है सामाजिक-जनवादियों की ग़द्दारी और मज़दूर आन्दोलन को बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों और वैधिकता (legality) का कैदी बनाये रखना।

बहरहाल, रवि सिन्हा 'वामपन्थ' और 'वाम' जैसे शब्दों के अपने इस प्रयोग-धर्म और उसके तर्क-पोषण के ज़रिये शेष लेख का स्वर और इसमें सिखाये गये "पाठों" की अन्तर्वस्तु निर्धारित कर देते हैं। लेखक कहता है कि किसी को अच्छा लगे या न लगे, उन्हें तो इन परिधिगत वामपन्थी पागलों को भी वाम में शामिल करना ही पड़ेगा और अफसोस की बात यह है कि उससे सरोकार रखे बिना, उसके विषय में चिन्तित हुए बिना भी नहीं रहा जा सकता है! लेकिन लेखक इस बात को लेकर आश्वस्त है कि ये पागल लोग उनके इस लेख में सिखाये गये पाठों को नहीं सीखेंगे और अन्त में इसे लेकर आपस में झोंटा-झुटव्वल करेंगे! इस कथन के पीछे का सन्देश यह है, '*अगर तुमने मेरे द्वारा दिये गये सबक की आलोचना की तो मैं तुम्हें संकीर्ण हितवादी, स्वार्थी, झगड़ालू और बन्द-दिमाग़ बुलाऊँगा*!' बहरहाल, इस ख़तरे को उठाते हुए भी हम आलोचना के कार्यभार को पूरा करने के लिए आगे बढ़ते हैं।

16 मई को नरेन्द्र मोदी की लोकसभा चुनावों में अभूतपूर्व विजय के बारे में अपनी समझदारी को सामने रखते हुए लेखक शुरुआत करते हैं। **बुर्जुआ चुनावों की जीत-हार का यहाँ जो विश्लेषण पेश किया गया है, वह प्रतीतिगत यथार्थ को ही सारभूत यथार्थ के तौर पर देखता है।** लेखक की यह दलील निश्चित तौर पर कुछ वज़न रखती है कि मोदी की जीत के बाद वामपन्थी खेमे (यहाँ हम भी 'वामपन्थी' शब्द का इस्तेमाल सिर्फ़ तात्कालिक स्पष्टता के लिए 'जेनेरिक' विशेषण के तौर पर कर रहे हैं!) में तमाम लोग '*डिनायल मोड*' में चले गये थे। इससे मोदी की विजय से उनमें पैदा हुए मानसिक सदमे का अनुमान लगाया जा सकता है। इन लोगों की लेखक ने एक सही आलोचना पेश की है और कहा है कि यह मानना चाहिए कि इन चुनावों में धुर दक्षिणपन्थ को स्पष्ट तौर पर ज़बरदस्त जनादेश मिला है। लेकिन इसके बाद लेखक इस जनादेश के लिए जनता से थोड़ा नाराज़ से नज़र आते हैं! इस नाराज़गी को वह अभी थोड़ा छिपा रहे हैं। लेकिन लेख में आगे बढ़ते-बढ़ते उनका संयम जवाब दे जाता है। लेकिन बाद की बातों पर बाद में। यहाँ लेखक यह बताने की कोशिश करते हैं कि बुर्जुआ चुनावों में जनता ने नरेन्द्र मोदी को जो जनादेश दिया है वह **जनता द्वारा अपनी इच्छा और विवेक का प्रकटीकरण था**, हालाँकि उसमें

कारपोरेट मीडिया व धनबल का भी हाथ है। इस बात से रवि सिन्हा वामपंथियों (जो कि जनता पर अनालोचनात्मक भरोसा करते हैं!) के लिए यह सबक निकालते हैं: **उन्हें जनता के विवेक पर अपनी अनालोचनात्मक आस्था के साथ इस बात का सामंजस्य बिठाना पड़ेगा कि आखिर उनकी महान जनता ने नरेन्द्र मोदी को जनादेश कैसे दे दिया!**

बुर्जुआ चुनावों में विजय और पराजय का यह विश्लेषण, बहुत छूट देकर कहें तो, एक पस्तहिम्मत उदार निम्न-पूँजीवादी बुद्धिजीवी के हारे हुए दिल की कराह है। कोई भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति यह जानता है कि बुर्जुआ चुनावों में पूँजीपति वर्ग जनता से शासन करने की सहमति लेता है; इस मायने में यह वर्ग समाज का पहला शासक वर्ग है जो कि *सहमति* लेकर शासन करता है और इसीलिए उसके शासन का मूल आधार वर्चस्व है, महज़ प्रभुत्व नहीं; उसका शासन दिव्य रूप से प्रदत्त (divinely-ordained) नहीं होता। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि बुर्जुआ समाज में यह 'सहमति' निर्मित होती है, '*मैन्युफैक्चर*' की जाती है। **इसलिए सीधे यह कहना कि जनता ने 'अपने विवेक से' नरेन्द्र मोदी और संघ परिवार को जनादेश दिया है, कम-से-कम एक गम्भीर रूप से अधूरी बात तो मानी ही जायेगी।** जनता अपने *स्वतःस्फूर्त* विवेक से इतिहास में पहले भी बर्बरों का साथ दे चुकी है, चाहे वह उन समाजों की जनता ही क्यों न हो जिन्हें लेखक आधुनिक समाज मानता है! जनता की स्वतःस्फूर्त चेतना ही यदि सर्वहारा चेतना होती तो सर्वहारा वर्ग के हिरावलों की आवश्यकता शायद ही पड़ती! बहरहाल, पहली बात तो यह है कि जनता 'अपने विवेक से' कभी प्रतिक्रियावाद के पक्ष में नहीं खड़ी होती है, ऐसा किसी विवेकवान वामपन्थी का मानना नहीं है। **लेनिन** ने कहीं लिखा था कि जनता अत्यधिक भ्रान्ति की स्थिति में प्रतिक्रिया के पक्ष में जाकर खड़ी हो जाती है और इसके लिए मूल तौर पर स्वयं जन समुदायों को नहीं बल्कि उनके बीच क्रान्तिकारी शक्तियों की अनुपस्थिति को ज़िम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। सर्वहारा विश्व-दृष्टिकोण, या मज़दूर वर्ग की राजनीतिक वर्ग चेतना मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों के समाहार से निःसृत होती है, जो समाहार मज़दूर वर्ग के सदस्य बिरले ही करते हैं। आम तौर पर, ऐसे लोग मध्य वर्गीय बौद्धिक जमातों से आते हैं। हम यहाँ कोई भी नयी बात नहीं कह रहे हैं। लेकिन चूँकि रवि सिन्हा भी यहाँ कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं, बल्कि पुराने अवसादग्रस्त उदार बुर्जुआ 'ऑर्थोडॉक्सी' को ही नये पाण्डित्यपूर्ण शब्दों में पुनर्जीवित कर रहे हैं, इसलिए हम भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान द्वारा दिये गये जवाबों को ही प्रस्तुत करने को बाध्य हैं। यहाँ तमाम प्रयासों के बावजूद भारत की नालायक जनता से रवि सिन्हा की नाराज़गी टपक ही जाती है; लेकिन यह तो सिर्फ़ ट्रेलर है! कुल मिलाकर, इस पूरे हिस्से में बुर्जुआ चुनावों का एक बेहद सतही विश्लेषण है और जनता द्वारा नरेन्द्र मोदी को दिये गये जनादेश की भी एक अनालोचनात्मक समझदारी सामने आती है। इसके अलावा, जनता को कोई एक एकाश्मीय, सजातीय प्रवर्ग के तौर पर पेश किया गया है। दूसरे शब्दों में, रवि सिन्हा के विश्लेषण से वर्ग दृष्टि पूर्ण रूप से अनुपस्थित है। इस पर हम आगे थोड़ा विस्तार से आयेंगे। साथ ही, इस पूरे विश्लेषण में जनता के राजनीतिक निर्णयों और कार्रवाइयों में

अगुआ क्रान्तिकारी शक्तियों की उपस्थिति/अनुपस्थिति/अपर्याप्त उपस्थिति की भूमिका को एक चर राशि (variable) के तौर पर शामिल ही नहीं किया गया है। यह एक उदार बुर्जुआ रूपवादी (formalist) व प्रत्यक्षवादी (positivist) विश्लेषण है, जो विशेष तौर पर फ़ासीवादी उभार का विश्लेषण करते हुए अक्सर हताशा और अवसाद अथवा अवसरवाद में ही समाप्त होता है।

नरेन्द्र मोदी की विजय के बाद लेखक हर बात को लेकर दुःखी भी नहीं है! उनकी यह दलील दुरुस्त है कि नरेन्द्र मोदी की अगुवाई में भाजपा व संघ परिवार अपनी निर्णायक विजय के बाद खुले और व्यापक दंगों की रणनीति नहीं अपनायेगा। हमारा भी मानना है कि अब गुजरात-2002 जैसे नरसंहार कराने की आवश्यता नहीं है। न तो यह पूँजी के हितों के लिए बेहतर है और न ही बुर्जुआ जनवाद के विभ्रम को बरक़रार रखने के लिए अच्छा है। बस मुसलमानों का घेट्टोकरण करके और एक प्रकार की अघोषित 'अपार्थाइड' की नीति के ज़रिये उनका हिन्दुओं से पार्थक्य स्थापित करना पर्याप्त होगा। लेखक का यह प्रेक्षण भी **कमोबेश** ठीक लगता है। लेकिन इसके बाद वह अपने पहले सबक पर जाते हैं और यह बताते हैं कि भारत में भगवा साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों की कार्यपद्धति में सत्ता में आने के बाद यह बदलाव क्यों होगा, और यहीं से भयंकर दिक्कतें शुरू होती हैं। आइये, रवि सिन्हा के विश्लेषण और उनके तर्कों पर एक निगाह डालते हैं।

पहला सबकः आओ चलें संसद, विधानसभाओं और अदालतों की ओर!

"जो काम बल-प्रयोग से किया जाता है वह अच्छा नहीं होता। मैं उनमें से नहीं हूँ। अगर भूख और दरिद्रता के हालात ने बचपन में ही मुझे हिंसा सिखायी होती तो मैं भी उनमें से एक होता और कोई प्रश्न नहीं पूछता। लेकिन जैसा है वैसा है। इसलिए मुझे जाना चाहिए।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, 'दि रेज़िस्टिबल राइज़ ऑफ आर्तुरो उई)

रवि सिन्हा का मानना है कि फ़ासीवादियों के सत्ता में आने के बाद वे देश के सामाजिक ताने-बाने के साथ क्या करते हैं यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि यह कि वे "*राज्य और उसकी संरचना के साथ क्या कर सकते हैं और क्या नहीं।*" उनके अनुसार जो बात यहाँ वामपंथियों के लिए आकाशवाणी के समान या सहज उपलब्ध तथ्य के समान नहीं है, काउण्टर-इण्टचूटिव (counter-intuitive) है, वह समझना ज़्यादा अहम है। बकौल रवि सिन्हा फ़ासीवादियों की बर्बर शक्ति का स्रोत समाज में है, लेकिन अपनी इस शक्ति के बूते वे राज्य की संरचनाओं को अपनी सामाजिक विचारधारा के अनुसार नहीं बदल सकते हैं। लेखक मानता है कि यह तर्क सामान्य बोध से समझा जा सकता है कि एक बार सत्ता में आने के बाद फ़ासीवादियों को पूँजीवादी राज्य सत्ता में अहम बदलाव करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह राज्यसत्ता कारपोरेट हितों की सेवा करने के लिए पर्याप्त है। लेकिन

सिर्फ़ इतना समझना लेखक के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि यह एक अहम नुक्ते को पकड़ने से चूक जाना होगा। उनके अनुसार यह नुक्ता उस फ़र्क में अन्तर्निहित है जो कि एक प्रबुद्ध बुर्जुआ-जनवादी कल्याणकारी राज्य और एक हिटलर जैसी फ़ासीवादी तानाशाही के बीच होता है। रवि सिन्हा पूछते हैं कि क्या इस अन्तर के एक वामपन्थी के लिए कोई मायने नहीं हैं? उनके अनुसार "***भारतीय राज्यसत्ता एक ऐसे समाज की गोद में बैठी है जो कई बार ऐसे लोगों को सत्ता में बिठा सकता है जो कि एक फ़ासीवादी-तानाशाहाना रास्ते को अख़्तियार करना पसन्द करेंगे।***" लेकिन भारतीय संवैधानिक बुर्जुआ जनवादी राज्यसत्ता का धन्यवाद ज्ञापन करते हुए, बल्कि शुक्र मनाते हुए, वह इस बात पर राहत का अहसास करते हैं कि भारत में फ़ासीवादी सत्ता में काबिज़ होने के बावजूद अपनी चाहतों और विचारधाराओं के अनुसार यह सब नहीं कर पायेंगे! उनके अनुसार, इस पूरे विश्लेषण से वामपंथियों के लिए जो पहला सबक निकलता है वह है भारतीय राज्यसत्ता और भारतीय समाज के बीच के पहेलीनुमा रिश्तों को समझना। उनके अनुसार, "*आपको इस बात पर ग़ौर करना चाहिए कि समाज बर्बर शक्तियों को पैदा करता है और उन्हें राज्यसत्ता की ज़िम्मेदारी सौंपता है लेकिन राज्यसत्ता बर्बरों को सभ्य बनने के लिए और संवैधानिक ढाँचे के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करती है। इतिहास ने एक अभी-तक-आधुनिक-नहीं-हुए-समाज के बीच से एक आधुनिक राजनीति को ढाला है। इस समाज का निर्माण करने वाली तमाम संस्कृतियाँ और प्रथाएँ आधुनिक राजनीतिक संरचना के साथ असुविधाजनक रूप से अस्तित्वमान हैं। और फिर भी राजनीतिक संरचना काफ़ी हद तक सुरक्षित है। बच्चा एक ऐसी माता के गोद में बैठा है जो बच्चे को कई बार अजनबी और यहाँ तक कि शत्रुतापूर्ण पाती है, लेकिन वह फिर भी बच्चे को अपनी गोद में लिए रहती है।*"

यहाँ रवि सिन्हा ने भारत में राज्य और समाज के सम्बन्धों की एक समझदारी पेश करते हुए इससे अपना पहला सबक निकाला है। अगर मौजूदा हालात में नये फ़ासीवादी शासक वामपंथियों के विरुद्ध अपना अभियान जारी करते हैं तो हमें क्या करना चाहिए? वह कहते हैं कि वामपन्थी कहेंगे कि हम जनता के बीच जायेंगे और उनकी शक्ति के बूते फ़ासीवादियों से लड़ेंगे; यह उनके अनुसार पूरी तरह से ग़लत नहीं होगा। लेकिन वह हिदायत देते हैं कि फिर फ़ासीवादी शक्तियाँ आप से भी ज़्यादा लोगों तक पहुँचेंगी! फिर आप क्या करेंगे? फिर वह एक ग़ज़ब का उदाहरण देते हैं। वह कहते हैं कि अगर वामपन्थी पश्चिम बंगाल की सड़कों और खेतों पर तृणमूल कांग्रेस से नहीं लड़ पाये तो फिर अगर सारे वामपन्थी साथ भी आ जायें, जिसकी उम्मीद कम है, तो भी अन्धकार के इस नये राजकुमार से वे शहरों, बस्तियों, गाँवों और जंगलों में कैसे लड़ेंगे? वह भी तब जबकि नये राजकुमार को यूनानी देवताओं के समान जनसमुदायों की सराहना, डरों और प्रार्थनाओं से जीवन शक्ति मिलती है? **इसलिए रवि सिन्हा के मुताबिक नये फ़ासीवादी शासकों को जनता के बीच राजनीतिक संघर्ष करने के लिए न्यौता देने से पहले अच्छी तरह से सोच लेना चाहिए!** रवि सिन्हा के अनुसार ज़्यादा बेहतर तरीका होगा कि वामपन्थी अपने आपको पहले से अस्तित्वमान राजनीतिक ढाँचे में यानी कि संसद, विधानसभाओं, अदालतों आदि

में बचाने का प्रयास करें जिसमें कि वे संविधान और कानून की पूरी मदद ले सकते हैं। यहाँ पर वह मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ के साहसिक संघर्षों का उदाहरण देते हैं, जो कि अहमदाबाद की सड़कों पर नहीं हुआ बल्कि अदालतों में हुआ। बाद में वह एक *कैविएट* जोड़ते हैं, जिसे एक बेशर्म दलील पेश करने के बाद इज़्ज़त बचाने का प्रयास कहना ज़्यादा उचित होगा। वह कहते हैं कि हमें आधुनिक राज्यसत्ता और राजनीति व उनकी संरचनाओं से ज़्यादा उम्मीदें भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि जब बर्बर शक्तियाँ सत्ता में आती हैं तो वे इन संरचनाओं को भी अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार एक हद तक तोड़ती-मरोड़ती हैं, लेकिन फिर भी, उनके अनुसार, उनकी उपरोक्त दलील मूलतः और मुख्यतः सही ठहरती है।

अब आइये लेखक के पहले सबक में अन्तर्निहित इस पूरी तर्क पद्धति के गुणों और अवगुणों के आधार पर इसका मूल्यांकन करते हैं। हम यहाँ शुरुआत अपने नतीजों से नहीं करेंगे क्योंकि फिर इस बात की पूरी गुंजाइश होगी हमारी बात सुनने से पहले ही हाशिये पर खड़े या पड़े समझदार लोग हमें 'वाम की पागल परिधि' की संज्ञा दे दें! इसलिए हम लेखक द्वारा पेश की गयी दलीलों की एक क्रमबद्ध पड़ताल करेंगे और उससे उनकी तर्क पद्धति और विचारधारात्मक-राजनीतिक अवस्थिति को निःसृत करने का प्रयास करेंगे और देखने की कोशिश करेंगे कि यह तर्कपद्धति फ़ासीवाद के इतिहास और विचारधारा की समस्याओं और उससे लड़ने की रणनीति और रणकौशलों के विषय में इतिहास के सबकों को किस हद तक समझ पाती है।

रवि सिन्हा ने भारत में राज्य और समाज के चरित्र के बीच एक विरोधाभास पेश किया है। **उनके अनुसार भारतीय समाज अभी आधुनिक नहीं बना है, जबकि कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से उसे एक आधुनिक बुर्जुआ उदार जनवादी संवैधानिक राज्य प्राप्त हुआ है**। इसके लिए उन्होंने ऊपर बतायी गये माँ और बच्चे वाले रूपक को पेश किया है (हालाँकि यह रूपक सटीकता के पैमाने पर दुरुस्त नहीं ठहरता है)। उनके अनुसार फ़ासीवादियों की बर्बर शक्ति का स्रोत समाज में है क्योंकि समाज पुनर्जागरण, धर्म-सुधार आन्दोलन व प्रबोधन जैसे आन्दोलनों की अनुपस्थिति में प्राक्-आधुनिक रह गया है, जबकि राज्य और उसकी संरचनाएँ बुर्जुआ उदार जनवादी हैं व संवैधानिक नियम-कायदों से बँधी हुई हैं। इसी बुनियादी तर्क पर उन्होंने अपने सबक निकाले हैं। लेखक के अनुसार भारत में समाज ऐसा है जो अपनी अन्तर्निहित प्रकृति से फ़ासीवादी, धुर दक्षिणपन्थी और तानाशाहाना ताक़तों को सत्ता में लाता है; लेकिन भला हो भारत के जनवादी राज्य का जिसके कारण सत्ता में आने के बाद फ़ासीवादी ताक़तों को अपने हाथ बाँधने पड़ते हैं, क्योंकि वे इस बुर्जुआ जनवादी राज्य संरचना को या संविधान को बदल नहीं सकते हैं; वास्तव में, ये राज्य, राजनीति और उसकी संरचनाएँ एक प्रकार से फ़ासीवादी बर्बर ताक़तों को सभ्य बनने पर मजबूर करती हैं, उन्हें अपने अनुकूल अनुशासित करती हैं! यह पूरी समझदारी कई बल्कि लगभग हर स्तर पर ग़लत, अनैतिहासिक, समाजशास्त्रीयतावादी (sociologist) है और बुर्जुआ विभ्रमों का भयंकर तरीके से शिकार है।

पहली बात तो यह है कि भारतीय समाज और राज्यसत्ता का यहाँ क्रमशः प्राक्-आधुनिक व आधुनिक के तौर पर सारभूतीकरण (essentialization) किया गया है, जो कि वास्तविकता से बहुत दूर है। दूसरी बात यह कि फ़ासीवादी आन्दोलन और विचारधारा का भी यहाँ एक प्राक्-आधुनिक परिघटना या प्राक्-आधुनिक स्रोतों से पैदा हुई परिघटना के तौर पर सारभूतीकरण किया गया है, जो कि न सिर्फ़ हमारे देश के सन्दर्भ में बल्कि फ़ासीवाद के पूरे वैश्विक इतिहास के सन्दर्भ में ग़लत है। तीसरी बात यह कि फ़ासीवादी उभार का राजनीतिक अर्थशास्त्रीय और ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण इस लेख से पूरी तरह अनुपस्थित है। यह एक बुर्जुआ समाजशास्त्रीयतावादी विश्लेषण है और वह भी ख़राब गुणवत्ता का; यदि किसी को फ़ासीवादी उभार का उदार बुर्जुआ और समाजशास्त्रीय विश्लेषण ही पढ़ना होगा तो इससे बेहतर विकल्प मौजूद हैं। **और चौथी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज और राज्यसत्ता के बीच के सम्बन्धों का जो विश्लेषण पेश किया गया है वह न सिर्फ़ अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक और भोंड़ा प्रत्यक्षवादी विश्लेषण है, बल्कि वह वास्तव में अमेरिकी डचूईवादी व्यवहारवाद से काफ़ी कुछ उधार लेता है**। इस विश्लेषण का क्रान्तिकारी वामपन्थी या मार्क्सवादी विश्लेषण से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। इसे ज़्यादा से ज़्यादा एक उदार बुर्जुआ फेबियनवादी व व्यवहारवादी विश्लेषण कहा जा सकता है। इसके अलावा, रवि सिन्हा चलते-चलते भारतीय वामपन्थ पर ऐसी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करते हैं, जो उन पर लागू नहीं होती। मिसाल के तौर पर, उनका प्रश्न है कि क्या वामपन्थी उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य और एक तानाशाहाना फ़ासीवादी बुर्जुआ राज्य में फर्क नहीं करते हैं या फिर पर्याप्त रूप से फ़र्क़ करते हैं? कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्रश्न मूल्यरहित नहीं है और इसमें एक आक्षेप अन्तर्निहित है। लेकिन हमें ताज्जुब होता है कि लेखक इस बात से वाक़िफ़ नहीं है कि दुनिया भर में मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के बीच यह स्थापित तथ्य है कि एक उदार बुर्जुआ राज्य और एक फ़ासीवादी बुर्जुआ राज्य के बीच फर्क किया जाना चाहिए; इस फर्क को मार्क्सवादियों ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से और पूँजीवाद के ऐतिहासिक विश्लेषण से स्पष्ट किया है और इस फर्क के मुताबिक रणनीतिक और रणकौशलात्मक नतीजे भी निकाले हैं। हम जानते हैं कि ऐसा कहना कतई ग़लत होगा कि फ़ासीवादी और विशेष तौर पर वर्तमान फ़ासीवादी उभार के बारे में कम्युनिस्टों ने सारा विश्लेषण पहले ही कर रखा है! लेकिन रवि सिन्हा का यह इशारा कि कम्युनिस्टों को उदार बुर्जुआ राज्य और फ़ासीवादी बुर्जुआ राज्य में फर्क करने का सबक भी हाशिये से प्रसारित होते उनके सबकों से लेना होगा, अनुचित लगता है।

बहरहाल, अब रवि सिन्हा द्वारा भारत में राज्य और समाज के रिश्तों की जो अवधारणा पेश की गयी है, उस पर आते हैं। भारतीय समाज को एक प्राक्-आधुनिक समाज के रूप में पेश किया गया है, जिसमें नैसर्गिक तौर पर सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियाँ मौजूद है और इन प्रवृत्तियों के चलते ही वह स्वतःस्फूर्त तौर पर कई बार फ़ासीवादियों और तानाशाहों को सत्ता सौंप देता है! **यह भारतीय समाज का एक अनैतिहासिक सारभूतीकरण**

(ahistorical essentialization) है। निश्चित तौर पर, भारतीय समाज पश्चिम के समान पुनर्जागरण, धर्म सुधार आन्दोलन और प्रबोधन की प्रक्रिया से नहीं गुज़रा और जिस समय यहाँ पुनर्जागरण और प्रबोधन के अलग किस्म के संस्करणों की ज़मीन तैयार हो रही थी, उसी समय उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय समाज में बुर्जुआ आधुनिकता के तत्वों के प्रकट होने और पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं को कुचल दिया। अंग्रेज़ी औपनिवेशिक राज्य ने अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए एक शिक्षा व्यवस्था, कानून के समक्ष समानता आदि की स्थापना की तो दूसरी ओर भारतीय समाज के पुनरुत्थानवादी, प्राक्-आधुनिक तत्वों को प्रश्रय भी दिया। औपनिवेशिक राज्यसत्ता की नीति का द्वन्द्व बार-बार प्रकट होता रहता था, जैसा कि 'सहमति की आयु' विवाद, कानून के समक्ष समानता को लेकर हुए विवाद, और भूमि व्यवस्था (land settlement) को लेकर फ़िज़ियोक्रैट्स और यूटिलिटैरियन फरके में चली बहस आदि में देखा जा सकता है। एक ओर सामन्ती शासक वर्ग और प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ संश्रय बनाने की आर्थिक और राजनीतिक ज़रूरत थी, तो दूसरी ओर औपनिवेशिक राज्य की अन्य प्रशासनिक व राजनीतिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मैकाले की शिक्षा व्यवस्था और एक कानूनी, संवैधानिक व्यवस्था की स्थापना भी वांछनीय थी। औपनिवेशिक राज्यसत्ता की इस दोहरी और परस्पर अन्तरविरोधी ज़रूरतों और उसके नतीजे के तौर पर सामने आने वाली दोहरी और एक हद तक अन्तरविरोधी नीतियों के कारण राष्ट्रवादी आन्दोलन के उदय में हमें दो धाराएँ देखने को मिलती हैं: पुनरुत्थानवादी धारा और पश्चिमी प्रबोधन व तर्कणा से प्रभावित आधुनिकतावादी धारा। ये दोनों धाराएँ कुछ अर्थों में 1916 के बाद के राष्ट्रवादी आन्दोलन में आकर संलयित हुईं और इस प्रक्रिया के प्रतीक पुरुष गाँधी थे। गाँधी में जहाँ पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया के स्पष्ट तत्व मौजूद हैं तो वहीं उनमें बुर्जुआ आधुनिकता, मानवतावाद और उदारतावाद के तत्व भी दिखायी पड़ते हैं। **लेकिन कुल मिलाकर कहा जाये तो राष्ट्रवादी आन्दोलन मुख्य तौर पर एक आधुनिकतावादी आन्दोलन था** (यहाँ हम सबऑल्टर्न इतिहासकारों की तरह राष्ट्रवादी आन्दोलन को आधुनिक नहीं कह रहे हैं)। यह महज़ एक देशभक्तिपूर्ण (patriotic) आन्दोलन नहीं था बल्कि एक राष्ट्रवादी आन्दोलन था; 'राष्ट्र' की अवधारणा अपनी प्रकृति से ही एक बुर्जुआ आधुनिक अवधारणा या परिकल्पना है। **कोई राष्ट्रीय आन्दोलन मूलतः और मुख्यतः प्राक्-आधुनिक हो ही नहीं सकता है। इस आन्दोलन में अलग-अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों में पुनरुत्थानवादी और प्राक्-आधुनिक तत्व हो सकते हैं, जिन्हें आधुनिक बुर्जुआ राष्ट्रवाद ने अपनी ज़रूरतों के मुताबिक सहयोजित किया हो, जैसा कि भारत में मामले में कहा जा सकता है।** ख़ैर, सवाल यह है कि आज़ादी के बाद जो भारतीय समाज सामने आया और आज़ादी के बाद से लेकर अभी तक भारतीय समाज में जो विकास हुए उसके फलस्वरूप आज जो भारतीय समाज हमारे सामने है, क्या आज हम उसे एक प्राक्-आधुनिक समाज कह सकते हैं? हमारा विचार है कि यह सूत्रीकरण सिरे से ग़लत है।

हमारे सामने जो समाज है वह एक उत्तर-औपनिवेशिक (उत्तरऔपनिवेशिक नहीं) आधुनिक समाज है; भारत में इस उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिकता में पर्याप्त मात्र में प्राक्-आधुनिक, आदिम (primordial) तत्व मौजूद हैं और ये तत्व इस विशिष्ट किस्म की आधुनिकता के द्वारा सहयोजित, समायोजित और *आर्टिकुलेटेड* (articulated) हैं। इसके अलावा हम और कोई अपेक्षा भी नहीं कर सकते हैं। और इस समाज ने जिस राज्यसत्ता, राजनीतिक परम्पराओं और संरचनाओं को जन्म दिया वह इसी सामाजिक ढाँचे की हिफ़ाज़त के लिए है। यह कहना एक बात है कि सामाजिक-आर्थिक ढाँचे और राजकीय व राजनीतिक अधिरचना के बीच 'बराबर' का चिन्ह नहीं लगाया जा सकता है और उनके बीच अन्तरविरोध होने के कारण एक **संगति (correspondence)** का सम्बन्ध होता है; कोई भी मार्क्सवादी समाज विज्ञानी इस बात से सहमति ज़ाहिर करेगा; **लेकिन समाज और राज्य के बीच जिस प्रकार के द्विभाजन (dichotomy) और विरोधाभास (paradox) रवि सिन्हा पेश करते हैं, वह कतई बुर्जुआ समाजशास्त्रीयतावादी विश्लेषण है जो कि अपने ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव से पहचाना जा सकता है।** ऐसे विरोधाभासी सम्बन्ध के साथ कोई राज्य और समाज दीर्घकालिक अवधि के लिए अस्तित्व में रह ही नहीं सकते हैं। वास्तव में, भारतीय राज्य और समाज के बीच के सम्बन्ध को समझने में रवि सिन्हा ठीक इसलिए असफल रहते हैं क्योंकि वे भारतीय समाज के चरित्र और भारतीय राज्य के चरित्र को समझने और उसे एक विशिष्ट किस्म के उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी विकास के आख्यान में अवस्थित कर पाने में नाकाम रहते हैं। राज्य और समाज के चरित्र और उनके बीच के सम्बन्धों का एक आधिभौतिक दृष्टिकोण हमारे सामने पेश किया जाता है जो कि उनके सम्बन्धों को समझने का दावा करने के बावजूद उनके अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन नहीं करता है, बल्कि उन्हें अलग-थलग करके (in isolation) विश्लेषित करता है और अन्ततः उनके रिश्तों का एक गतिक (dynamic) दृष्टि पर नहीं बल्कि एक स्थैतिक (static) दृष्टि पर पहुँचता है।

रवि सिन्हा भारतीय संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य को और उसकी राजनीतिक संरचनाओं को आधुनिक क़रार देते हैं; **लेकिन क्या यहाँ की राजनीतिक और राजकीय संरचनाओं व परम्पराओं को क्लासिकीय अर्थों में और अनालोचनात्मक तौर पर आधुनिक कहा जा सकता है?** हमें नहीं लगता। क्या धार्मिक कानूनों का व्यक्तिगत मामलों में लागू किया जाना एक सेक्युलर आधुनिक राज्य या संविधान की निशानी है? क्या हम राजनीतिक व राजकीय अधिरचना को यहाँ धर्म से पूर्ण रूप से अलग तौर पर देख सकते हैं? पाश्चात्य आधुनिकता राजनीतिक संस्थाओं में धर्म या धार्मिक संस्थाओं में राजकीय/राजनीतिक संस्थाओं की मौजूदगी का पूर्ण रूप से निषेध करती है, जिसे फ्रांसीसी भाषा में **लाईसाईट (laïcité)** की अवधारणा के द्वारा व्याख्यायित किया जाता है, और जिसे बुर्जुआ आधुनिकता का एक बुनियादी संघटक तत्व माना जाता है। क्या भारत में हम इसका दावा कर सकते हैं? भारत राज्यसत्ता और धर्म के पूर्ण अलगाव की बात नहीं करती बल्कि सभी धर्मों को बराबर मानने की बात करती है और इसी आधार पर धार्मिक आधार पर 'पर्सनल

लॉ' की व्यवस्था की गयी है। **इसलिए भारतीय राज्य और संविधान को अनालोचनात्मक तौर पर और क्लासिकीय अर्थों में एक आधुनिक संस्था मानना भी एक भूल है।**

वास्तव में, भारत में जिस प्रकार की उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज और अर्थव्यवस्था आयी उन्होंने उसी प्रकार के उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्य और संविधान को भी जन्म दिया। समाज और राज्य दोनों में ही आधुनिकता और पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया के तत्व मौजूद हैं और शासक वर्गों के लिए अपने शासन को जारी रखने की ख़ातिर इन तत्वों का मिश्रण काफ़ी उपयोगी भी हैं। रवि सिन्हा के पूरे सैद्धान्तिकीकरण में भारतीय पूँजीवाद के विशिष्ट चरित्र की कोई द्वन्द्वात्मक समझदारी नहीं है। **वह अपनी उदार बुर्जुआ व्यवहारवादी (pragmatist) दृष्टि से प्रस्थान करते हैं और राज्य और समाज के बीच लगभग वैसा ही द्विभाजन पेश करते हैं, जो कि डचूई और रॉल्स जैसे व्यवहारवादियों और उनका अनुसरण करते हुए अम्बेडकर ने किया था।** उनकी नज़र में उदार बुर्जुआ संवैधानिक कल्याणकारी राज्य सबसे तार्किक अभिकर्ता होता है; समाज की अव्यवस्था, अनियमितता और असंगतियों को वह प्रति-सन्तुलित करता है! और भारत में तो रवि सिन्हा के मुताबिक इसकी बेइन्तहाँ ज़रूरत है क्योंकि भारतीय समाज की बात तो छोड़ दें, पाश्चात्य समाजों में भी (जो कि रवि सिन्हा के मुताबिक सर्वसत्तावादी, आदिम और प्राक्-आधुनिक नहीं हैं) कुछ असंगतियाँ, असमानताएँ आदि होती हैं जिन्हें कि राज्य अपनी सकारात्मक कार्रवाई के ज़रिये प्रति-सन्तुलित करता है। रवि सिन्हा का सैद्धान्तिकीकरण पूरी तरह डचूई या रॉल्स का अनुसरण तो नहीं करता, लेकिन यह कहना होगा कि उस पर डचूई और रॉल्स की छाया बराबर बनी रहती है। रवि सिन्हा के विश्लेषण में भारतीय संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य का ढाँचा पूर्वप्रदत्त नियतांक (given constant) है। भारतीय समाज मुख्यतः और मूलतः प्रतिक्रियावादी, सर्वसत्तावादी और प्राक्-आधुनिक है और समय-समय पर बर्बरों को सत्ता में पहुँचा देता है; लेकिन सत्ता में पहुँचने के बाद बेचारे बर्बरों को भारतीय राज्यसत्ता और संविधान सभ्य बनने पर मजबूर करने लगते हैं! यह हास्यास्पद है और भारतीय इतिहास के तथ्यों का मखौल बनाना है। **भारतीय राज्य और संविधान ने इतिहास ने बार-बार दिखलाया है कि धुर दक्षिणपन्थी ताक़तें और प्रतिक्रियावादी ताक़तें बिना संवैधानिक ढाँचे और राज्य की संरचनाओं से खिलवाड़ किये, अपने राजनीतिक 'डिज़ाइन' पर अमल कर सकती हैं। बल्कि कहना चाहिए कि भारतीय राज्य और संविधान में शुरू से ही इस बात की सुषुप्त सम्भावना मौजूद थी कि उसके बुनियादी ढाँचे में कोई परिवर्तन किये बिना या फिर किसी मामूली परिवर्तन के ज़रिये उससे फ़ासीवादी और दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी हितों की सेवा करवायी जा सकती है। इसके बावजूद, रवि सिन्हा का यह प्रेक्षण कि भारतीय राज्य और संवैधानिक ढाँचा बर्बरों को सत्ता में आने के बाद सभ्य बनने के लिए बाध्य करेगा, यह दिखलाता है कि भारतीय इतिहास की उनकी समझदारी बेहद दरिद्र है और साथ ही यथार्थवादी होने के नाम पर वास्तव में बुर्जुआ समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में पेश आद्यरूपीय श्रेणियों (archetypal categories) को वास्तविक इतिहास में ढूँढने का असफल प्रयास करती रहती है।**

यहाँ हम रवि सिन्हा के विश्लेषण में एक और अजीबो-ग़रीब सूत्रीकरण को देख सकते हैं। **उनके अनुसार, फ़ासीवादी ताक़तों के चरित्र और उनकी शक्ति के स्रोतों को प्राक्-आधुनिक क़रार दिया गया है।** यह वास्तव में उदारवादी बुर्जुआ विश्लेषण से भी पीछे जाने के समान है। ज़ाहिर है, फ़ासीवाद क्या है और उसके उभार के ऐतिहासिक कारण क्या हैं, इसकी जो व्याख्या रवि सिन्हा पेश करते हैं उसमें राजनीतिक अर्थशास्त्रीय और ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण ग़ायब है। **फ़ासीवाद का उभार बुर्जुआ उदारवादी राज्य और व्यवस्था के आख्यान (narrative) में किसी विच्छेद (rupture) को प्रदर्शित नहीं करता है, बल्कि उसकी निरन्तरता (continuity) को भी प्रदर्शित करता है।** अगर विच्छेद का कोई तत्व है भी तो वह रूप के धरातल पर ज़्यादा है। पूँजीवादी राज्य के लिए ऐतिहासिक तौर पर और आम तौर पर ज़्यादा मुफ़ीद अस्तित्व-रूप (modus vivendi) निश्चित तौर पर बुर्जुआ जनवादी राज्य है (चाहे वह कल्याणकारी हो या न हो)। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था का असमाधेय संकट द्वैध सुषुप्त सम्भावनाओं को जन्म देता है। यह संकट मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के राजनीतिक तौर पर तैयार होने और उसकी हिरावल शक्तियों के तैयार होने की सूरत में इतिहास को क्रान्तिकारी परिवर्तनों की दिशा में *ले जा सकता* है, और ऐसा न होने की सूरत में संकट प्रतिक्रियावादी समाधान (फ़ासीवाद या किसी अन्य प्रकार के प्रतिक्रियावादी दक्षिणपन्थी उभार) की ओर ले सकता है। फ़ासीवाद पूँजीवाद के महाख्यान में कोई विच्छेद नहीं बल्कि उसी का एक हिस्सा है। **फ़ासीवाद वास्तव में एक आधुनिक परिघटना है जिसे हम मोटे तौर पर बड़ी पूँजी की बर्बर और नग्न तानाशाही और साथ ही टटपुँजिया वर्गों के रूमानी उभार के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं। निश्चित तौर पर, यह समाज में मौजूद पुनरुत्थानवाद और प्राक्-आधुनिक तत्वों का इस्तेमाल करता है लेकिन वह इससे स्वयं कोई प्राक्-आधुनिक राजनीतिक परिघटना नहीं बन जाता है।** फ़ासीवाद कोई भी दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी उभार नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक आन्दोलन है। लेकिन इसे सिर्फ़ एक सामाजिक आन्दोलन कहना पर्याप्त नहीं होगा; साथ ही, इस राजनीतिक सामाजिक आन्दोलन का वर्ग विश्लेषण करना भी यहाँ अपरिहार्य होगा, अन्यथा उसे रवि सिन्हा के समान पूरे समाज और पूरी जनता पर यह कहकर थोपा जा सकता है कि 'जनता ने अपने विवेक' से फ़ासीवादियों को सत्ता में पहुँचाया।

फ़ासीवाद पूँजीवादी संकट का एक प्रतिक्रियावादी और बर्बर समाधान पेश करता है, जिसका कतई यह अर्थ नहीं है कि वह राजनीतिक तौर पर आधुनिक नहीं है। बुर्जुआ आधुनिकता का अनालोचनात्मक तौर पर जश्न नहीं मनाया जा सकता है, जैसा कि रवि सिन्हा करते हैं; न ही उसे पूरा का पूरा कचरा-पेटी में फेंका जा सकता है जैसा कि तमाम उत्तरआधुनिकतावादी, उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्तकार और सबऑल्टर्न सिद्धान्तकार करते हैं (हालाँकि, ये सारे के सारे स्वयं बुर्जुआ आधुनिकता के दायरे का अतिक्रमण नहीं करते हैं, बल्कि उसके दक्षिणपन्थी, प्रतिक्रियावादी और जनविरोधी हिस्से में वास करते हैं)। एंगेल्स 'समाजवादः काल्पनिक और वैज्ञानिक' में बुर्जुआ आधुनिकता का एक द्वन्द्वात्मक

विश्लेषण पेश करते हैं और उसके एक दौर में ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील चरित्र की बात करते हुए, उसे बुर्जुआ वर्ग के शासन के नैसर्गिकीकरण के तौर पर भी देखते हैं। आज के दौर में जब पूँजीवादी व्यवस्था अपने सबसे पतनशील और मानवद्रोही दौर में प्रवेश कर चुकी है और पूरी मानवता के भविष्य पर उसने एक सवालिया निशान लगा दिया है, तो फिर बुर्जुआ आधुनिकता अपने आपको तमाम मानवद्रोही, जनविरोधी, बर्बर और प्रतिक्रियावादी रूप में पेश करेगी और कर भी रही है। जो व्यक्ति बुर्जुआ प्रबोधन और तर्कणा के प्रति भक्ति का रुख़ अपनाये हुए हो और *एनाक्रॉनिस्टिक* ढंग से उसके हैंग-ओवर में फँसा हुआ हो, केवल वही फ़ासीवाद के उभार पर यह सोच सकता है कि यह बुर्जुआ आधुनिकता का अंग नहीं है, बल्कि समाज में मौजूद सर्वसत्तावादी रुझानों से पैदा हुआ है, जबकि राज्यसत्ता आधुनिक निकाय के तौर पर फ़ासीवादियों की बर्बरता को अपनी आधुनिक सभ्यता से प्रतिसन्तुलित कर रही है। **रवि सिन्हा के पूरे सैद्धान्तिकीकरण में बुर्जुआ आधुनिकता के प्रति एक फेटिश (fetish) को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।** और बुर्जुआ आधुनिकता के नैसर्गिक अंग और पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक परिणति के तौर फ़ासीवाद के उभार के बरक्स स्वयं रवि सिन्हा भी एक प्रकार के 'डिनायल मोड' में चले गये हैं और बार-बार फ़ासीवादी उभार के चरित्र और उसके स्रोतों को प्राक्-आधुनिक क़रार देने पर तुले हुए हैं, जबकि वास्तव में ये दोनों ही निहायत आधुनिक चीज़ें हैं। **ऐसा करके वस्तुगत तौर पर रवि सिन्हा बुर्जुआ आधुनिकता के एक 'अपॉलोजिस्ट' के तौर सामने आते हैं।**

फ़ासीवाद के उभार का पूर्ण विश्लेषण पूँजीवादी व्यवस्था की राजनीतिक अर्थशास्त्रीय आलोचना और ऐतिहासिक व्याख्या के बिना केवल समाजशास्त्रीयतावादी और प्रत्यक्षवादी ही हो सकता है। और रवि सिन्हा के विश्लेषण के साथ यही समस्या है। यह विश्लेषण फ़ासीवाद के उभार की अब तक की गयी मार्क्सवादी-लेनिनवादी और यहाँ तक कि अराजकतावादी और सामाजिक जनवादी व्याख्याओं से या तो अनभिज्ञ है या उन्हें सुविधाजनक चुप्पी के साथ नज़रन्दाज़ करता है। वामपन्थी विद्वानों के बीच फ़ासीवाद के उदय और विकास के कारणों को लेकर भारी बहस मौजूद रही है। **कर्ट गॉसवीलर, ऐंसन रैबिनबाख़, टिम मेसन, माईकल कालेकी, ब्रेष्ट, लूकाच, डेविड अब्राहम, डेरेक लिण्टन** आदि के विषय में रवि सिन्हा का विश्लेषण अनभिज्ञ है। अलग-अलग दृष्टिकोणों के बावजूद इन वामपन्थी विद्वानों के बीच एक बात को लेकर सहमति हैः फ़ासीवाद एक आधुनिक परिघटना है और इसे किसी भी रूप में प्राक्-आधुनिक या आदिम प्रवृत्तियों से गड्ड-मड्ड करना केवल यह दिखलाता है कि आप पूँजीवादी आधुनिकता को ही नहीं समझते हैं। रैबिनबाख़ का यह कथन ग़ौर करने योग्य हैः "**फ़ासीवाद निस्सन्देह रूप से एक आधुनिक परिघटना है। युद्धोत्तर उन्नत पूँजीवाद के दौर में पैदा हुए राज्य और समाज के सम्बन्धों के रूपान्तरण में यह बात सबसे अधिक देखी जा सकती है, हालाँकि यह उदार जनतन्त्र के सन्दर्भों में हुआ है।**" (रैबिनबाख़, '**टुवर्ड्स ए मार्क्सिस्ट थियरी ऑफ फाशिज़्म**', *रेज़िस्टिबल राइज़*, सं–मार्गिट कोव्स व शास्वती मजुमदार, लेफ़्रट वर्ड बुक्स, 2005, पृ-

71) आगे रैबिनबाख़ स्पष्ट करते हैं कि फ़ासीवादी उभार का चरित्र और आवश्यकताएँ ही ऐसी हैं कि वह टटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी के लिए ज़रूरी विचारधाराओं के लिए अतीत में देखता है और साथ ही उसकी भावी योजना समाज और अर्थव्यवस्था का एक अतिरेकपूर्ण पूँजीवादी आधुनिक पुनर्गठन की होती है।

यह भी ग़ौरतलब है यहाँ जिस अतीत की विचारधारा का फ़ासीवाद आवाहन करता है, वह कोई प्राक्-आधुनिक चीज़ नहीं है। वह वास्तव में एक गौरवशाली अतीत की आधुनिक कल्पना, आविष्कार और नवोन्मेष होता है। अतीत के "गौरव" के आवाहन की अनुगूँज टटपुँजिया जनसमुदायों के बीच इसलिए मिलती हैं क्योंकि इन वर्गों का संकट भी आधुनिक है और उसके समाधान की उनकी *फैण्टास्टिक* (fantastic) अपेक्षाएँ भी मूलतः आधुनिक हैं! रैबिनबाख़ ने ही आगे लिखा है, "**फ़ासीवाद के वे सिद्धान्त जो इन असंगत दिखने वाले क्षणों को नहीं समझते-यानी कि इसकी तकनोलॉजिकल और राजनीतिक आधुनिकता और इसका विचारधारात्मक परम्परावाद-वे अपूर्ण हैं।**" (वही) रैबिनबाख़ के पूरे सिद्धान्त से सहमति न रखते हुए भी इस प्रेक्षण को कमोबेश सही माना जा सकता है। **वाल्टर बेंजामिन** ने एक जगह लिखा था, "**अतीत का ऐतिहासिक आर्टिकुलेशन पेश करने का यह अर्थ नहीं है कि उसकी पहचान ठीक उस रूप में की जाये 'जैसा कि वह वास्तव में था' (रांके)। इसका अर्थ होता है स्मृति की उस कौंध को पकड़ना जो कि ख़तरे के क्षण में उपस्थित होती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद अतीत की उस छवि को कायम रखना चाहता है जो कि इतिहास द्वारा अकेले किये गये व्यक्ति के समक्ष ख़तरे के क्षण में अनपेक्षित रूप में उपस्थित होती है। यह ख़तरा परम्परा की अन्तर्वस्तु और इसके प्राप्तकर्ताओं, दोनों को ही प्रभावित करती है। एक ही जोखिम उनके सिर पर लटक रहा होता हैः शासक वर्ग का उपकरण बन जाने का।**" (वॉल्टर बेंजामिन, '**थीसीज़ ऑन दि फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री**', *इल्यूमिनेशंस*, फोण्टाना/कॉलिंस, ग्लास्गो, 1977, पृ- 257) इस उद्धरण में मौजूद जुडाइक मसीहावाद के प्रभाव को छोड़ दें, तो यह प्रेक्षण बिल्कुल सही है कि परम्पराओं और उसके प्राप्तकर्ताओं दोनों के सामने ख़तरे के क्षण में शासक वर्ग का उपकरण बन जाने का जोखिम मौजूद रहता है।

रवि सिन्हा का विश्लेषण एक अन्य मायने में फ़ासीवाद के उदय की व्याख्या करने वाले तमाम स्कूलों में से उदार बुर्जुआ स्कूलों के साथ जाकर खड़ा होता है और वास्तव में उनकी अवस्थितियों का एक दरिद्र मिश्रण है। इसमें से एक है **फ्यूहरर-स्टेट का सिद्धान्त** जो कि हिटलर जैसे किसी तानाशाह के सत्ता में पहुँचने को 'जनता की इच्छा' की अभिव्यक्ति मानते हैं! इस सिद्धान्त में जनता या समाज को एक जैविक पूर्णता (biological totality) या एकाश्मीय निकाय के तौर पर देखा जाता है। न तो यह सिद्धान्त समाज का कोई वर्ग विश्लेषण पेश करता है और न ही फ़ासीवादी तानाशाही के वर्ग चरित्र को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर पाता है। इसलिए इसमें तानाशाह पर भी कुछ अति-केन्द्रण हो जाता है। ऐसा विश्लेषण ही 'अन्धकार के राजकुमार'-मार्का भाषा का इस्तेमाल कर सकता है। निश्चित तौर पर, 'राजकुमार', 'बर्बरों' आदि जैसे रूपकों का

इस्तेमाल फ़ासीवाद के एक सम्पूर्ण वर्ग विश्लेषण में किया जा सकता है। लेकिन अगर पूरे विश्लेषण की जगह ही ऐसे साहित्यिक रूपक ले लें तो बात दिक्कततलब है!

रवि सिन्हा का विश्लेषण फ़ासीवाद के विश्लेषण को आधुनिक और प्राक्-आधुनिक के द्विभाजन के उपकरण द्वारा व्याख्यायित करने के प्रयास में (सम्भवतः अपनी इच्छा से स्वतन्त्र) पूँजीवादी व्यवस्था को दोषमुक्त कर देता है! क्योंकि फ़ासीवादी उभार उनके लिए पूँजीवादी व्यवस्था के आख्यान का एक नैसर्गिक अंग नहीं है बल्कि भारतीय या ऐसे समाजों में निहित सर्वसत्तावादी, प्राक्-आधुनिक, आदिम, बर्बरतापूर्ण प्रवृत्तियों का नतीजा है और उनकी प्रतिसन्तुलनकरी ताक़त अम्बेडकर द्वारा निर्मित बुर्जुआ उदार जनवादी संविधान और उसके द्वारा संचालित (?) राज्य व्यवस्था है! यह अद्वितीय विश्लेषण न चाहते हुए भी रवि सिन्हा को **हेनरी ऐशबाई टर्नर** जैसे असुधारणीय रूप से उदारवादी बुर्जुआ सिद्धान्तकारों की कतार में खड़ा कर देता है, जो कि फ़ासीवादी उभार और पूँजीवादी व्यवस्था के बीच के नाभिनालबद्ध सम्बन्ध को जाने या अनजाने या तो ग़ायब कर देता है या फिर कमज़ोर कर देता है। आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता की 'बाइनरी' का रवि सिन्हा (केवल इस लेख में ही नहीं बल्कि अन्य स्थानों पर भी) जिस प्रकार इस्तेमाल करते हैं, उसे **गाइल्स देल्यूज़** ने सही नाम दिया है: '**डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस' (dysjunctive synthesis)**, यानी, छद्म विकल्पों का समुच्चय। रवि सिन्हा जो 'बाइनरी' हमारे सामने पेश कर रहे हैं और वास्तव में जिस बाइनरी से उनका पूरा विश्लेषण और उनके द्वारा दिये जाने वाले 'सबक' निर्धारित होते हैं, वह वास्तव में एक 'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस', एक छद्म विकल्पों की 'बाइनरी' है। फ़ासीवाद के विरुद्ध पूरे संघर्ष को इस 'बाइनरी' में अपचयित (reduce) कर दिया गया है। और जो नतीजे निकले हैं, वे भयंकर हैं!

इसके अलावा, रवि सिन्हा के सैद्धान्तिकीकरण पर फ़ासीवाद के उभार के एक अन्य बुर्जुआ सिद्धान्त की छाया भी देखी जा सकती है, जिसे **राष्ट्रीय विशिष्टता के सिद्धान्त** से भी जाना जाता है। इसके एक सिद्धान्तकार **जूर्गेन कोका** ने दलील पेश की है कि जर्मन समाज सही मायने में कभी बुर्जुआ आधुनिक समाज नहीं था और यही कारण है कि वहाँ फ़ासीवाद का उदय हुआ; क्योंकि वहाँ अतार्किक, प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं और बर्बर मूल्यों व सिद्धान्तों के फलने-फूलने की ज़मीन मौजूद थी। **यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करने में असफल रहता है कि फ़ासीवाद के उभार का पूँजीवाद के विकास के एक विशिष्ट क्षण से रिश्ता है और इस विशिष्ट क्षण में ही दुनिया के कई देशों में फ़ासीवादी आन्दोलन पैदा हुए थे, हालाँकि उन्हें सफलता जर्मनी, इटली और एक हद तक स्पेन, हंगरी, पुर्तगाल, यूनान आदि जैसे देशों में ही मिली थी।** आज के दौर में भी जब विश्व पूँजीवाद अभूतपूर्व संकट से गुज़र रहा है, तो न केवल हम यूनान जैसे दक्षिण यूरोपीय देश में 'गोल्डेन डॉन' जैसी फ़ासीवादी ताक़तों का उभार देख रहे हैं, बल्कि फ्रांस जैसे आधुनिक समाज में (यानी, जितने अधिक से अधिक आधुनिक की आप कल्पना कर सकते हैं!) 'नेशनल फ्रण्ट' जैसी धुर दक्षिणपन्थी फ़ासीवादी पार्टी के उभार को भी देख रहे हैं। 'आधुनिक' और 'प्राक्-आधुनिक' के छद्म विकल्पों के समुच्चय के ज़रिये आज फ़ासीवादी और धुर दक्षिणपन्थी

ताक़तों के वैश्विक उदय की व्याख्या नहीं की जा सकती है। न तो भारत में फ़ासीवादी उभार की विशिष्टता को रवि सिन्हा की पद्धति से पहचाना जा सकता है और न ही इसे फ़ासीवाद के वैश्विक उभार की सामान्यता में अवस्थित किया जा सकता है।

यह है रवि सिन्हा द्वारा राज्य और समाज के सम्बन्धों के विषय में प्रस्तुत समझदारी, जिसे भरपूर उदारता के साथ राजनीतिक तौर पर उदार बुर्जुआ, व्यवहारवादी, सुधारवादी और सामाजिक-जनवादी और विचारधारात्मक तौर पर अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और अतार्किक कहा जा सकता है। ऐसे विश्लेषण से निकाले गये उनके पहले सबक के बारे में भी यही कहा सकता है। रवि सिन्हा का कहना है कि फ़ासीवादी उभार का मुकाबला करने के लिए फिलहाल जनता के पास जाना, उन्हें संगठित करना उपयुक्त रणनीति नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर फ़ासीवादी भी जनता के बीच जायेंगे और उनकी पहुँच आपसे ज़्यादा होगी। लेखक वामपन्थ की पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस के हाथों हार का उदाहरण देते हुए पूछते हैं, "*अगर वामपन्थ, मिसाल के तौर पर, पश्चिम बंगाल की सड़कों और खेतों में तृणमूल के ख़िलाफ़ नहीं लड़ पाया तो यह पूरे देश के शहरों, बस्तियों, गाँवों और जंगलों में अन्धकार के नये राजकुमार से कैसे लड़ेगा, अगर सारे वामपन्थी साथ आ जायें तो भी, जिसकी कम ही उम्मीद है।*" रवि सिन्हा इस बात से पर्याप्त भयाक्रान्त नज़र आते हैं कि अन्धकार के नये राजकुमार को जनता से पर्यात सराहना, भय और प्रार्थनाएँ मिल रही हैं! हम देख सकते हैं कि समाज और जनता पर भरोसे के अभाव में वह काफ़ी डर गये हैं और इसीलिए उन्होंने विश्लेषण के लिए सही आरम्भ बिन्दु नहीं चुना, यानी कि **फ़ासीवाद का उभार हुआ क्यों है और क्या हमारे पहले से ही जनता के बीच न जाने का इसमें कोई योगदान है?** यही कारण है कि अन्त में वे बुर्जुआ जनवादी संवैधानिक संस्थाओं जैसे कि संसद और विधानसभाओं और साथ ही न्यायपालिका में फ़ासीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान करते हैं और उनके आदर्श हैं मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़।

पहली बात तो यह कि उनके नतीजे में इस बात का कोई विश्लेषण नहीं है कि फ़ासीवाद का उभार हुआ ही क्यों है, जिसे हमने पहले सही आरम्भ-बिन्दु का चुनाव न करना कहा है। निश्चित तौर पर, इसके वस्तुगत और मनोगत कारण दोनों ही हैं। पूँजीवाद का संकट वह वस्तुगत पृष्ठभूमि तैयार करता है, जिसमें फ़ासीवादी शक्तियाँ फलती-फूलती हैं। लेकिन यह वस्तुगत आधार अपने आप में फ़ासीवादी शक्तियों को सत्ता में नहीं पहुँचा देता है; वह फ़ासीवादी शक्तियों के उदय की एक पूर्वशर्त है। वस्तुतः, यही पूँजीवादी संकट क्रान्तिकारी परिस्थितियों को भी तैयार करता है और एक क्रान्तिकारी सम्भावना को भी जन्म देता है। लेकिन यह भी केवल एक पूर्वशर्त की पूर्ति ही होता है। इतिहास के ऐसे दौर में जिस प्रकार का अभिकर्ता (agent) राजनीतिक-विचारधारात्मक तौर पर अधिक तैयार, सांगठनिक तौर पर अधिक सुदृढ़ और अधिक व्यापक सामाजिक पहुँच रखता है, उसी प्रकार की सम्भावना के वास्तविकता में तब्दील होने की गुंजाइश ज़्यादा होती है। फ़ासीवाद का उदय इस रूप में वास्तव में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों की असफलता को दर्शाता है। जर्मनी, इटली, पुर्तगाल, स्पेन और हंगरी में भी नात्सीवादी और फ़ासीवादी उभार

समाजवादी आन्दोलन और मज़दूर आन्दोलन के खण्डहर पर हुआ था। फ़ासीवाद का उभार प्रतिरोध्य से अप्रतिरोध्य इसलिए नहीं बन जाता कि सम्बन्धित समाज में कुछ ऐसी अन्तर्निहित सर्वसत्तावादी रुझानें होती हैं जो कि समय-समय पर फ़ासीवाद को सत्ता में पहुँचा देती हैं, जैसा कि रवि सिन्हा हमें यक़ीन दिलाना चाहते हैं! कम-से-कम फ़ासीवाद का वैश्विक इतिहास तो ऐसा कुछ भी नहीं दिखलाता है; न ही फ़ासीवादी उभार का राजनीतिक आर्थिक विश्लेषण ऐसा कुछ सिद्ध करता है। **क्या जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उदय का इतिहास यह दिखलाता नहीं है कि सामाजिक-जनवाद की ग़द्दारी ने इसमें एक बहुत बड़ी भूमिका निभायी थी? क्या जर्मनी का इतिहास यह दिखलाता नहीं है कि वीमर गणराज्य के दौर में पूँजी और श्रम के बीच का असुविधाजनक विवाह अन्त में पूँजीवादी और टटपुँजिया प्रतिक्रिया के अंकुरण और प्रस्फुटन की ओर ले गया? क्या जर्मनी का 1920 के दशक का पूरा इतिहास इस बात का गवाह नहीं है कि पूँजीवादी संकट ने जो क्रान्तिकारी सम्भावना पैदा की थी, मज़दूर वर्ग की सच्ची हिरावल शक्तियाँ अपनी विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक कमज़ोरियों के कारण उन्हें हकीकत में तब्दील करने में नाकामयाब रहीं?** ऐसे प्रश्न इटली, हंगरी, पुर्तगाल और स्पेन के इतिहास के बारे में भी पूछे जा सकते हैं। क्या इसे रवि सिन्हा-मार्का "वाम" का सामूहिक राजनीतिक *एम्नीज़िया* नहीं कहेंगे कि वह भूल गया है कि अतीत में भी फ़ासीवाद का प्रतिरोध्य उभार अप्रतिरोध्य क्यों और कैसे बन गया? क्योंकि ऐसी विस्मृति के फलस्वरूप ही कोई फ़ासीवादी उभार से लड़ने का ऐसा बासी सामाजिक-जनवादी रास्ता सुझा सकता है, जो कि रवि सिन्हा सुझा रहे हैं और जो न सिर्फ़ इतिहास में बार-बार पिट चुका है बल्कि साथ ही फ़ासीवाद के उभार का कारण भी बना है। **यह एक मज़ाकिया डर है कि अगर हम जनता के बीच जाकर फ़ासीवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए उसे गोलबन्द और संगठित करेंगे तो सत्ताधारी फ़ासीवादी भी और ज़्यादा बड़े पैमाने पर जनता के बीच जायेगा और हमारे लिए अस्तित्व का संकट पैदा कर देगा!** वास्तव में फ़ासीवाद सत्ताधारी बना इसलिए क्योंकि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन हमारे देश में विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक तौर पर बिखरा हुआ और कमज़ोर है और जनता के व्यापक हिस्सों में पहुँच नहीं रखता है! बाईबिल की भाषा में बात करें तो यहाँ 'मूल पाप' सामाजिक-जनवादियों के कुकर्म हैं कि उन्होंने संघी फ़ासीवादियों को सड़क पर 'इंगेज' करने का साहस और मज़बूती ही नहीं दिखलायी। साथ ही हमारे देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का कठमुल्लावाद और संकीर्णतावाद भी इसके लिए उतने ही ज़िम्मेदार हैं कि उन्हें जहाँ होना था वे वहाँ नहीं हुए; कि उन्होंने भारत के विशाल सर्वहारा वर्ग को फ़ासीवादी कारपोरेटिज़्म और संशोधनवादियों के भरोसे छोड़ दिया। और अब उसी 'मूल पाप' के नये सिरे से और पहले से भी ज़्यादा भयंकर दुहराव का नुस्खा हमें रवि सिन्हा सुझा रहे हैं। फ़ासीवाद के उदय के पीछे वस्तुगत ज़मीन तैयार होने के अलावा (क्योंकि वे तो किसी भी सूरत में आवर्ती चक्रीय क्रम में बार-बार तैयार होंगी ही) मनोगत शक्तियों की जो तमाम कमज़ोरियाँ ज़िम्मेदार थीं, रवि सिन्हा उनमें से कम-से-कम कुछ को दुहराने की वकालत कर रहे हैं और उसके पक्ष में पाण्डित्यपूर्ण भाषा में तर्क भी पेश कर रहे हैं। उनका मूल तर्क यह है कि

फ़ासीवादी शक्तियों से सड़क पर, समाज में संघर्ष को फिलहाल अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दिया जाना चाहिए और फिलहाल अपने संघर्ष को अदालत और संसद-विधानसभा जैसी संवैधानिक संस्थाओं में सीमित कर दिया जाना चाहिए। इसी बाबत मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ की मिसाल दी गयी है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ का संघर्ष कई मायनों में साहसिक है और उन्होंने समझौताविहीन कानूनी संघर्ष चलाया है। **लेकिन उनके संघर्ष अपनी साहसिकता और सिद्धान्तनिष्ठ होने के बावजूद क्या ठीक इसी बात की ताईद नहीं करते हैं कि महज़ ऐसे संघर्षों से फ़ासीवाद का मुकाबला कर पाना, फ़ासीवादी उभार को रोक पाना सम्भव नहीं है?** क्या वे ठीक इसी बात को सिद्ध नहीं करते हैं कि ऐसे तमाम संघर्ष वास्तव में बर्बर फ़ासीवादियों को सभ्य बनने पर मजबूर करने में नाकाम रहे हैं? बाबरी मस्जिद के ध्वंस से लेकर गुजरात नरसंहार तक क्या इक्के-दुक्के निम्न स्तर के लम्पटों, गुण्डों या छुटभैया नेताओं को कुछ समय तक सलाखों के पीछे रखने के अलावा ऐसे कानूनी संघर्ष (जिनकी वांछनीयता पर कोई प्रश्न नहीं है) कुछ और कर पाये हैं? निश्चित तौर पर, फ़ासीवाद के विरुद्ध बुर्जुआ संवैधानिक और कानूनी संघर्षों की फ़ासीवाद-विरोधी जन गोलबन्दी और आन्दोलन के एक अंग के तौर पर ही कोई प्रासंगिकता है। लेकिन समूचे फ़ासीवाद-विरोधी संघर्ष को कुछ समय के लिए भी महज़ कानूनी-संवैधानिक संघर्ष तक सीमित कर देना बुर्जुआ संवैधानिक जनवाद के प्रति रवि सिन्हा के भयंकर विभ्रमों को ही दिखलाता है। फ़ासीवाद के इतिहास पर भी नज़र डालें तो ऐसे कानूनी संघर्ष वास्तव में फ़ासीवाद के लिए खुजली का कारण भी नहीं बने हैं, या फिर ज़्यादा से ज़्यादा खुजली का ही कारण बने हैं! **कोस्ता गावरास** जैसा एक रैडिकल फिल्मकार भी इस सच्चाई को ज़ेड नामक अपनी प्रसिद्ध फिल्म में खूबसूरती के साथ पेश करता है। **बेर्टोल्ट ब्रेष्ट** ने भी *दि रेज़िस्टिबल राइज़ ऑफ आर्तुरो उई* में इस सत्य को उघाड़कर सामने रखा है। और जहाँ तक अकादमिक और ग़ैर-अकादमिक मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण की बात है, तो बुर्जुआ संविधान और कानून के दायरे में फ़ासीवाद-विरोधी संघर्षों की उपयोगिता और साथ ही सीमाओं पर पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है, जिनमें से कुछ नामों का हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। लेकिन रवि सिन्हा की 'विवेकवान' व्यवहारवादी वाम अवस्थिति कोस्ता गावरास जैसे रैडिकल फिल्मकार की अवस्थिति से भी पीछे जा चुकी है। वास्तव में, यह अवस्थिति एक किस्म के पराजयवाद और हताशा से पैदा हुई अवस्थिति है और साथ ही फ़ासीवादी उभार के समक्ष क्रान्तिकारियों के अपरिहार्य कार्यभारों को अनिश्चितकाल तक स्थगित या रद्द करने देने का घोषणापत्र पेश करती है। और ग़ौरतलब बात यह है कि अकादमिक और आम बौद्धिक मानकों से भी देखा जाय तो यह अवस्थिति बेहद दरिद्र है। **स्पष्ट है कि कानूनी और संवैधानिक दायरे में फ़ासीवादी ताक़तों के विरुद्ध होने वाला संघर्ष आम तौर पर और ऐतिहासिक तौर पर केवल बुर्जुआ लीगैलिटी की सीमाओं को ही दिखलाने के तौर पर उपयोगी सिद्ध हुआ है। लेकिन अगर कोई इससे ज़्यादा उम्मीद लगाकर बैठा है तो उसे भारी सदमे के लिए तैयार रहना चाहिए।**

दूसरा सबकः बुर्जुआ जनवादी संवैधानिक उदार कल्याणकारी राज्य की जय हो!

पीचमः "कान केवल एक चीज़ के लिए बना था, उन लोगों के शोषण के लिए जो इसे नहीं समझते, या जो नग्न दरिद्रता के कारण इसका पालन नहीं कर पाते। जो भी इस शोषण के कुछ टुकड़े चाहता है उसे स्वयं कानून का सख़्ती से पालन करना चाहिए।"

ब्राउनः "अच्छा, तो आप मानते हैं कि हमारे न्यायाधीश भ्रष्ट बनाये जा सकते हैं।"

पीचमः "*कतई नहीं, महाशय, कतई नहीं। हमारे न्यायाधीश तो बिल्कुल भ्रष्टाचार से परे हैं: लेकिन सिर्फ पैसा उन्हें एक न्यायपूर्ण फैसला सुनाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता है*।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, 'थ्री पेनी ऑपेरा')

रवि सिन्हा का दूसरा सबक इस बाबत है कि जनवाद की प्रक्रियाएँ और रूप कैसे होने चाहिए? यानी कि जनवाद का पूरा ढाँचा कैसा हो। इस बारे में उनका मानना है कि जनवाद का केवल मज़बूत होना, तृणमूल धरातल पर होना और भागीदारी से भरा हुआ होना पर्याप्त नहीं है। वह तमाम नव दार्शनिकों, एनजीओ सिद्धान्तकारों, सामाजिक आन्दोलनों और मैगसेसे पुरस्कार विजेताओं की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने केवल भागीदारी जनवाद, तृणमूल जनवाद आदि जैसी अवधारणाओं पर बल दिया है। लेखक उन तमाम भागीदारी जनवाद समर्थकों की इस बात के लिए आलोचना करता है कि उन्होंने 'आम आदमी पार्टी' के रूप में भारतीय राजनीतिक दृश्यपटल पर उपस्थित हुए नये योद्धाओं की सराहना की जिन्होंने 'नीचे से जनवाद', 'भागीदारी जनवाद', 'मुहल्ला जनवाद' आदि जैसी अवधारणाओं को लागू करने का प्रयास किया, हालाँकि इन बौद्धिकों में कुछ ऐसे भी थे जो इनके रखवाले वाले रुख़ (vigilantism) को लेकर सशंकित थे। लेकिन इसके बावजूद ऐसे बौद्धिकों ने 'व्यवस्था को अन्दर तक हिला डालने' के लिए 'आप' की प्रशंसा की। रवि सिन्हा तृणमूल जनवाद या भागीदारी जनवाद की अपने कारणों और अपने तरीके से हिमायत करने वाले वामपंथियों की भी इस बात की आलोचना करते है कि उन्होंने भी भागीदारी जनवाद के समर्थन के चक्कर में एक अहम नुक्ता नज़रन्दाज़ कर दिया है। रवि सिन्हा के अनुसार भागीदारी जनवाद राजनीतिक प्रक्रिया को गाढ़ा या सघन बनाता है और साथ ही निर्णय लेने की प्रक्रिया को धुंधला और अपारदर्शी बनाता है। लेकिन रवि सिन्हा के अनुसार केवल तृणमूल या भागीदारी जनवाद की अवधारणा जनवाद पर कहर भी बरपा कर सकती है, जैसा कि खाप पंचायतों और 'आप' के शासन के दौरान खिड़की एक्सटेंशन की घटना ने दिखलाया; लेकिन अपने उदाहरणों में चलते-चलते रवि सिन्हा 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' को भी जोड़ देते हैं, जिसके दौरान भीड़ के जनवाद ने अपने जौहर दिखाये थे! इस पर हम थोड़ा आगे आयेंगे। रवि सिन्हा दावा करते हैं कि वामपन्थी लोग भागीदारी जनवाद का समर्थन इस ज़मीन से करते हैं कि उनके लिए

बुर्जुआ जनवाद की किसी संस्था या प्रथा का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि वे सभी तो पूँजी के हितों की सेवा के लिए बनायी गयी थीं। और इसीलिए वामपन्थी लोग पूँजीवाद के तहत भी बस जनवाद को अधिक से अधिक भागीदारीपूर्ण और प्रत्यक्ष बनाने के लिए संघर्ष करते हैं! रवि सिन्हा के मुताबिक ये सारे लोग भागीदारी जनवाद की हिमायत करते हुए यह बात भूल जाते हैं कि एक मज़बूत जनवादी परम्परा और संवैधानिक-प्रातिनिधिक-उदार जनवादी व्यवस्था और संरचना के बिना तृणमूल या भागीदारी जनवाद एक ऐसी दीवार होती है जो दोनों तरफ़ गिर सकती है, एक दुधारी तलवार होती है। **इसलिए एक कानून और नियम से बँधा जनवादी संवैधानिक राज्य होना बहुत आवश्यक है क्योंकि प्राक्-आधुनिक जनता पर भरोसा नहीं किया जा सकता है।**

चलते-चलते वामपंथियों पर यह दृष्टिकोण भी थोप दिया जाता है कि उनका यह मानना है कि बुर्जुआ जनवाद को लाने के लिए जनता ने कुछ भी नहीं किया, यह तो पूँजी के हितों में पूँजीपतियों द्वारा बनाया गया एक उपकरण मात्र है। फिर लेखक सीख देता है कि समाजवाद आने पर बुर्जुआ जनवाद की कई संस्थाओं को हमें लेना होगा और उनमें समाजवाद के केन्द्रीय सिद्धान्तों के मुताबिक बदलाव करना होगा। क्योंकि बुर्जुआ जनवाद केवल राज्य और सत्ता की संरचनाओं का मसला नहीं है बल्कि इसका रिश्ता नागरिकों के अधिकारों, पसन्द और आज़ादियों से भी जुड़ा हुआ है! इसके बाद रवि सिन्हा कहते हैं कि जनवाद राज्यसत्ता की सरंचना को संघटित करने का रूप भी होता है और सत्ता की सभी संरचनाएँ अन्तिम विश्लेषण में स्वतन्त्रता का निषेध करती हैं। इसलिए इंसानियत को अगर तरक्की करनी है तो उन्हें सत्ता की संरचनाओं को अधिक से अधिक कमज़ोर और पारदर्शी बनाते जाना होगा और इसी प्रक्रिया में अन्त में वे विलोपित हो जायेंगी। ऐसा सच में होगा इसको लेकर लेखक थोड़ा सशंकित है लेकिन वह मानता है कि इससे कम-से-कम यह तो साबित होता ही है कि हमें जनवाद और राज्य की संरचनाओं को अधिक से अधिक पारदर्शी बनाना होगा। राज्य ऐसे में सिकुड़ेगा और जीवन के तमाम क्षेत्र उसकी पकड़ से बाहर होंगे। लेकिन रवि सिन्हा के मुताबिक पूँजीवाद के मातहत यह आज़ादी को बढ़ायेगा नहीं बल्कि राज्य की पकड़ से जो कुछ छूटेगा वह बाज़ार की पकड़ में जायेगा। इसलिए पूँजीवाद के तहत राज्य का पारदर्शी होना बहुत ज़रूरी है और ऐसा केवल भागीदारी जनवाद से नहीं बल्कि एक जनवादी संवैधानिक राज्य व्यवस्था के ज़रिये ही हो सकता है क्योंकि भागीदारी जनवाद किसी युग की जनवादी भावना और संस्कृति को एकसमान रूप में आत्मसात नहीं करता है। यह काम रवि सिन्हा के मुताबिक एक संवैधानिक जनवादी राज्य करता है! उनके अनुसार ऐसे राज्य को लोग भी बना सकते हैं और यह भागीदारी जनवाद के उसूलों का खण्डन भी नहीं होगा। अब दूसरे सबक में अन्तर्निहित इस पूरी तर्क प्रणाली का थोड़ा अध्ययन कर लिया जाये।

इस दूसरे सबक का मर्म यह है कि भागीदारी जनवाद या तृणमूल जनवाद अपने आप में पर्याप्त नहीं है, विशेष तौर पर हमारे यहाँ और अन्य प्राक्-आधुनिक समाजों में क्योंकि वहाँ समाज या जनसमुदाय "उस युग की आधुनिक भावना" को एकसमान रूप में आत्मसात

नहीं करते हैं; ऐसे में, यदि कोई नियम व कानून से बँधा हुआ जनवादी राज्य नहीं होगा, तो जनता का भागीदारी जनवाद वास्तव में जनवाद को नष्ट भी कर सकता है! लेकिन राज्य यहाँ "युग की आधुनिक भावना" का नैसर्गिक वाहक माना गया है। यहाँ रवि सिन्हा का **डचूईवादी व्यवहारवाद** पूरी तरह खुलकर सामने आया है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, डचूई का यही सिद्धान्त था कि राज्य सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता (most rational actor/agent) होता है और समाज में मौजूद असंगतियों और अन्तरविरोधों को अपने सकारात्मक तार्किक हस्तक्षेप से प्रति-सन्तुलित करता है। डचूई का दूसरा उपकरण समाज में एक नैतिक संहिता की मौजूदगी था जिसकी आपूर्ति एक समानतामूलक धर्म द्वारा भी की जा सकती थी; अम्बेडकर ने इन्हीं दोनों डचूईवादी दलीलों को हूबहू अपनाया था; लेकिन रवि सिन्हा इन दोनों बातों को हूबहू नहीं अपनाते हैं; उनके सैद्धान्तिकीकरण में नैतिक संहिता की जगह जॉन रॉल्स की **सार्वजनिक तर्कणा (public reason)** जैसी कोई चीज़ ले लेती है। यहाँ जॉन रॉल्स के विचारों का रवि सिन्हा पर असर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। **चूँकि भारतीय व अन्य प्राक्-आधुनिक समाजों में ऐसी सार्वजनिक तर्कणा मौजूद नहीं है; चूँकि समाज ने "युग की आधुनिक भावना" को आत्मसात नहीं किया है, इसलिए उनके सैद्धान्तिकीकरण में एक बुर्जुआ जनवादी उदार संवैधानिक राज्य की भूमिका और भी ज़्यादा बढ़ जाती है।** अगर डचूई और रॉल्स में राज्यसत्ता की भूमिका एक **सुगठित समाज (well-ordered society)**, यानी कि एक सार्वजनिक तर्कणा और राजनीतिक बहुलता को अपनाने वाले समाज में पैदा होने वाले विरोध में पंच या मध्यस्थ की होती है, तो रवि सिन्हा के सैद्धान्तिकीकरण में एक जनवादी संवैधानिक राज्य की मौजूदगी प्राक्-आधुनिक, सर्वसत्तावादी समाज की बर्बरता को रोकने की गारण्टी है। लेकिन डचूई और रॉल्स जैसे व्यवहारवादी, उदार बुर्जुआ चिन्तकों से पद्धति की समानता को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। राज्य दोनों ही सूरत में आधुनिक तर्कणा का मूर्त रूप (embodiment of modern reason) है। उसकी अवस्थिति रवि सिन्हा के सिद्धान्तों में वही है जो कि हेगेल की विचार-पद्धति में *देमी उर्गोस* (परम विचार) की है। रॉल्स पर काण्ट के विचारों के असर से लोग वाक़िफ़ हैं।

काण्ट के राज्य के सिद्धान्त के दो बुनियादी आधार हैं। पहला यह कि साथ रहने वाले मनुष्य स्वतन्त्र तभी हो सकते हैं जब उनके पास एक दूसरे के बरक्स कुछ अधिकार हों (जिसे काण्ट बाह्य स्वतन्त्रता कहते हैं); आन्तरिक स्वतन्त्रता का रिश्ता मनुष्य के नैतिक व तार्किक निर्णय-निर्माण प्रक्रिया से है; दूसरा यह कि ऐसा तभी सम्भव है जब सभ्यता/नागरिकता (civility) की स्थिति को सुनिश्चित किया जाये और इसे सुनिश्चित करने का कार्यभार तर्कणा के मूर्त रूप के तौर पर राज्य करता है। अगर इन विचारों की रोशनी में हम रवि सिन्हा के राज्य और समाज के सम्बन्धों के सिद्धान्त को देखें तो हम पाते हैं कि उनका चिन्तन उदार बुर्जुआ विचारधारा की परम्परा में मज़बूती से जड़ित (embedded) है।

उनके दूसरे सबक में, यानी कि भागीदारी जनवाद के अपने आप में अपर्याप्त होने और एक नियमबद्ध संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य की वांछनीयता में, हम स्पष्ट तौर पर इस चीज़ को देख सकते हैं। निश्चित तौर पर, जैसा कि वह खुद भी मानते हैं, यह दूसरा सबक उनके पहले सबक की ही निरन्तरता में है और उससे जुड़ा हुआ है। और यह निरन्तरता क्या है? आधुनिक राज्य और प्राक्-आधुनिक समाज का वही अनैतिहासिक और ग़ैर-द्वन्द्वात्मक द्विभाजन जिस पर रवि सिन्हा का पूरा सिद्धान्त खड़ा है। यहाँ एक प्रासंगिक प्रसंगान्तर कर हम आगे बढ़ सकते हैं। ग्राम्शी का भी यह मानना था कि इतालवी समाज में पिछड़ेपन और परम्परागत विचारों के प्रभाव में टटपुँजिया आबादी और यहाँ तक कि मज़दूर आबादी के एक हिस्से ने फ़ासीवाद का समर्थन किया था और समाज के कुछ हिस्सों में सांस्कृतिक-ऐतिहासिक तौर पर ऐसी सम्भावना-सम्पन्नता थी कि वह बर्बरता की ताक़तों का समर्थन करे। लेकिन ग्राम्शी का स्पष्ट तौर पर यह मानना था कि यह बर्बरता पूँजीवाद और पूँजीवादी आधुनिकता द्वारा समायोजित है और साथ ही किसी भी किस्म का बुर्जुआ राज्य आज उसे सीमित, अनुशासित या नष्ट नहीं कर सकता है; केवल एक सर्वहारा वर्ग का राज्य ही ऐसा काम कर सकता है। ग्राम्शी की पूरी अवस्थिति पर हम यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन दिलचस्पी रखने वाले पाठक उनके लेख '**ऑन फाशिज़्म**' (1921) में देख सकते हैं। अब रवि सिन्हा के तृणमूल भागीदारी जनवाद और संवैधानिक बुर्जुआ उदार जनवादी राज्य के तुलनात्मक अध्ययन की चर्चा पर लौटते हैं।

रवि सिन्हा का कहना है कि सभी विचारधाराओं के लोगों में इस बात को लेकर सहमति है कि एक मज़बूत, तृणमूल, भागीदारी जनवाद वांछनीय है। इसमें वे नवदार्शनिकों, सामाजिक आन्दोलन वालों, एनजीओ-पंथियों, वामपंथियों और मैगसेसे पुरस्कार विजेताओं जैसे सभी लोगों को जोड़ देते हैं। नवदार्शनिकों, सामाजिक आन्दोलन वालों और एनजीओ-पन्थियों की आलोचना रवि सिन्हा यहाँ यह नहीं समझने के लिए करते हैं कि भागीदारी जनवाद के साथ एक जनवादी संवैधानिक राज्य की अनिवार्यता है! **यह वैसा ही है कि कोई ख़राब वायलिन बजाने के लिए हिटलर की आलोचना करे!** साम्राज्यवादी फण्डिंग एजेंसियों, बुर्जुआ सरकारों और पूँजीपतियों के वित्त-पोषण से चलने वाले 'सामाजिक आन्दोलनों' और एनजीओ वालों की विचारधारा क्या है और वह वस्तुगत तौर पर क्या भूमिका अदा कर रहे हैं, रवि सिन्हा की आलोचना का निशाना यह नहीं है। वैसे भी 'सामाजिक आन्दोलन' किस बला का नाम है यह हम आज तक नहीं समझ पाये! यह शब्द मेरे विचार में जयप्रकाश नारायण के 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के जैसा शब्द है, इन अर्थों में कि ये दोनों ही शब्द पुनरुक्तिपूर्ण (tautological) हैं। मतलब, कौन-सा आन्दोलन सामाजिक नहीं होता है? और कौन-सी क्रान्ति सम्पूर्ण नहीं होती है? जब इस प्रकार की पुनरुक्ति मौजूद हो तो वास्तव में उसके पीछे दूसरे अर्थ छिपे होते हैं। मिसाल के तौर पर, 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का नारा दिया ही वास्तविक क्रान्तिकारी आन्दोलन और लहर को व्यवस्था द्वारा सहयोजित कर लेने के लिए गया था। उसी प्रकार, सामाजिक आन्दोलन एक दूसरे प्रकार के आन्दोलन, यानी कि राजनीतिक आन्दोलन के विकल्प के तौर पर पेश किया गया है। '**सामाजिक आन्दोलन',**

मतलब कि जो राजनीतिक न हो; जो राज्यसत्ता के प्रश्न को न उठाये! आज के सारे तथाकथित सामाजिक आन्दोलनों की यही तो ख़ासियत है-वे जनता की तमाम समस्याओं को उठाने की बात करते हुए कभी यह नहीं बताते कि शत्रु कौन है? लड़ना किसके ख़िलाफ़ है? लेकिन रवि सिन्हा एनजीओपंथियों और सामाजिक आन्दोलन वालों की यह आलोचना पेश नहीं करते हैं! वह तर्जनी उठाकर उन्हें सीख देते हैं, 'दोस्तो! सिर्फ भागीदारी जनवाद से काम नहीं चलेगा, बल्कि एक संवैधानिक जनवादी राज्य भी ज़रूरी है!' या यूँ कहें कि इन बेचारों ने "युग की आधुनिक भावना" को पर्याप्त रूप से आत्मसात नहीं किया है, इसलिए रवि सिन्हा ने इनकी आलोचना पेश की है! इसीलिए हमने कहा कि यह ख़राब वायलिन बजाने के लिए हिटलर की आलोचना करने के समान है।

संवैधानिक जनवादी राज्य की वांछनीयता को न समझने और दूसरे कारणों से भागीदारी जनवाद का समर्थन करने के लिए रवि सिन्हा वामपंथियों को भी लताड़ते हैं! वास्तव में, एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट राजनीतिक रूप से अयोग्य और नपुंसक शब्दावली में जनवाद के प्रकार या उनकी वांछनीयता के बारे में चर्चा करता ही नहीं है। यहाँ पर भी रवि सिन्हा ने एक 'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस' पेश की है – **भागीदारी जनवाद बनाम संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवाद! यह शब्दावली अंशतः आई.एम.एफ.-वर्ल्ड बैंक विमर्श, अंशतः वर्ल्ड सोशल फोरम विमर्श और अंशतः रूसो, लॉक, डचूई, रॉल्स की उदार बुर्जुआ चिन्तन परम्परा से उधार ली हुई है।** मार्क्सवाद जनवाद के प्रश्न को इस तरह से देखता ही नहीं है। **पहली बात तो यह है कि संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवाद और जिसे रवि सिन्हा भीड़ जनवाद कहते हैं, भारत में उनके बीच कोई विशेष और वास्तविक अन्तरविरोध अभी तक उपस्थित ही नहीं हुआ है और इसकी उम्मीद भी कम है कि भविष्य में ऐसा होगा।** निश्चित तौर पर, कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति खाप पंचायतों के "भागीदारी जनवाद" का विरोध करेगा; लेकिन आकाशकुसुम की अभिलाषा करने वाला कोई भोला-भाला और उदार बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों का शिकार कोई प्रगतिशील व्यक्ति ही इस भयंकरता का मुकाबला करने के लिए इस देश की अदालतों और नियमबद्ध कानून व्यवस्था पर भरोसा कर सकता है। हमारे देश के स्वातन्त्रयोत्तर इतिहास पर निगाह डालें तो कुछ अपवादों को छोड़कर आप एक भी उदाहरण दे सकते हैं जिसमें हमारे लेखक की प्राच्य प्राक्-आधुनिक बर्बरता का मुकाबला हमारे देश की आधुनिक सभ्य/नागरिक कानूनबद्ध राज्य व्यवस्था द्वारा किया गया हो? या फिर कभी उदार बुर्जुआ संवैधानिक राज्य ने फ़ासीवादी बर्बरों को सभ्य बनाया हो, इसका कोई उदाहरण आप दे सकते हैं? अगर ऐसा होता तो 2002 गुजरात नरसंहार का घटित होना भी सम्भव था? क्या गुजरात नरसंहार को अंजाम देने वाली ताक़तों का अदालती या कानूनी संघर्ष वास्तव में कुछ ख़ास बिगाड़ पाया? अगर कोई झूठी उम्मीद इतने वर्षों के अनुभवों के बावजूद बनी हुई है तो इसे असुधारणीय बुर्जुआ विभ्रम न कहा जाये तो क्या कहा जाये?

सच तो यह है कि भागीदारी जनवाद या संवैधानिक जनवादी राज्य व्यवस्था दोनों ही अपने आप में दमनकारी या बर्बर भी हो सकते हैं और वे वास्तव में प्रगतिशील और जनता की

पहलकदमी को खोलने वाले भी हो सकते हैं। इन रूपों (forms) के बीच कोई द्विभाजन खड़ा करके और इस प्रकार का रूपवादी (formalist) विश्लेषण पेश करके इनके बारे में सिर्फ़ विभ्रम ही फैलाये जा सकते हैं। असल प्रश्न यहाँ इन अलग-अलग किस्म की संस्थाओं के वर्ग चरित्र और उसके नेतृत्व का है। अगर जनता के सत्ता के अपने तृणमूल निकायों में जनता की राजनीतिक चेतना और सक्रियता नहीं होगी और अगर वहाँ एक सर्वहारा हिरावल का नेतृत्व मौजूद नहीं होगा, तो निश्चित तौर पर ऐसी संस्थाएँ अज्ञात चर राशि (unknown variable) बन सकती हैं। क्योंकि क्रान्तिकारी जन-चेतना कोई सहज उपलब्ध और आदर्श रूप में मौजूद वस्तु नहीं होती है, बल्कि सतत् राजनीतिक व विचारधारात्मक वर्ग संघर्ष के ज़रिये और द्वन्द्वात्मक रूप में निःसृत होती रहती है। असल प्रश्न यहाँ जनवाद की संस्था की किस्म का या फिर उस समाज (मानो कि वह कोई एकाश्मीय निकाय हो!) के सारतः आधुनिक या प्राक्-आधुनिक होने का नहीं बल्कि उनकी राजनीतिक-विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु का है, जिसका निश्चित तौर पर एक वर्ग चरित्र होता है। लेकिन रवि सिन्हा का पूरा विश्लेषण जनवाद के रूप पर ही सीमित है। उसकी वर्ग अन्तर्वस्तु के बारे में उनका विश्लेषण शान्त है। अगर हम यह भी मान लें कि लेख की विषय-वस्तु केवल पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर फ़ासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति तक सीमित है, तब भी वह बुर्जुआ जनवाद के दो रूपों के तुलनात्मक अध्ययन से आगे नहीं जाते और उनमें फर्क करने की उनकी कसौटी आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता है। यही कारण है कि रवि सिन्हा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान जागृत जन पहलकदमी और खाप पंचायत और "खिड़की एक्सटेंशन गणराज्य" में कोई फर्क नहीं कर पाते हैं। उनकी वर्ग पक्षधरता ग़ायब है। उनके लिए आधुनिक बनाम प्राक्-आधुनिक के सिवा और कोई पैमाना नहीं है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान समाजवादी राज्य और व्यवस्था में मौजूद बुर्जुआ विरूपताओं और नौकरशाहाना विरूपताओं के ख़िलाफ़ जनता का जो आक्रोश फूटा था, वह प्यारे, नर्म-नर्म, शराफत भरे विमर्शवादी अन्दाज़ में नहीं अभिव्यक्त हो सकता था। वह एक राजनीतिक संघर्ष था जो चीन में समाजवादी सर्वहारा सत्ता के अस्तित्व का प्रश्न उठा रहा था। नतीजतन, उस संघर्ष में सर्वहारा जनसमुदायों के राजनीतिक व्यवहार में निश्चित तौर पर ग़ैर-जनवादी तत्व थे; उतने ही ग़ैर-जनवादी तत्व जितना कि एक युद्ध में की जाने वाली हिंसा में मौजूद होते हैं। क्या युद्ध में की जाने वाली ठोस हिंसा में जनवाद होता है? हमें नहीं लगता। यूँ तो किसी भी आमूलगामी परिवर्तन या क्रान्ति की ठोस तात्कालिक प्रक्रिया औपचारिक तौर पर जनवादी नहीं होती है! सामन्ती वर्ग के बुद्धिजीवियों ने बास्तीय के कारागार पर धावे को भी भीड़ की हरक़त ही क़रार दिया था! लगभग उसी ज़मीन से उदार बुर्जुआ जनवादी बुद्धिजीवी न सिर्फ़ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को भीड़ जनवाद आदि जैसी संज्ञा देते हैं, बल्कि मज़दूर वर्ग की तमाम अन्य कार्रवाइयों को भी भीड़ की कार्रवाई क़रार देते हैं। फैसला सुनाने का यह पूरा स्वर स्पष्ट तौर पर बुर्जुआ कुलीनता के रंग में रंगा हुआ है। वर्ग संघर्ष या कहें कि वर्ग युद्ध की ठोस अभिव्यक्तियों में यदि कोई उदार बुर्जुआ जनवादी बुद्धिजीवी शराफ़त और विमर्श के तत्व ढूँढेगा तो उसे निश्चित तौर पर धक्का लगेगा; इस धक्के की *पैथोलॉजिकल*

प्रतिक्रिया उसकी राजनीतिक दृष्टि को धूमिल कर देगी। **धूमिल दृष्टि के साथ हर वर्ग संघर्ष में भीड़ ही नज़र आती है! और यही रवि सिन्हा के साथ हुआ है।** और यही कारण है कि वे खाप पंचायत, खिड़की एक्सटेंशन की घटना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में कोई फर्क नहीं कर पाते हैं। बहरहाल, मूल चर्चा पर वापस लौटते हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था को अधिक प्रातिनिधिक, भागीदारीपूर्ण और संविधानबद्ध (अगर संविधान और कानून व्यवस्था बुर्जुआ मापदण्डों और मानकों के अनुसार भी प्रगतिशील हों) बनाने के लिए संघर्ष करता है, वहीं वह अपनी राजनीतिक प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्थाएँ भी खड़ी करता है। लेकिन रवि सिन्हा की रणनीति में इसका कोई स्थान नहीं है क्योंकि उनके लिए यह तथ्य आकाशवाणी समान (axiomatic) है कि भारत एक प्राक्-आधुनिक समाज है और उसमें जनता अगर ऐसी संस्थाएँ खड़ी भी करेगी तो वह भीड़ जनवाद का शिकार हो जायेगी या कम-से-कम हो सकती है और उसे भी संवैधानिक बुर्जुआ उदार राज्य से विनियमन की आवश्यकता होगी! **ऐसे में मज़दूर अगर भारत में कल सोवियतों जैसी किसी संस्था का निर्माण करते हैं, तो रवि सिन्हा उसके प्रति सशंकित रहेंगे और बुर्जुआ राज्य द्वारा उसके विनियमन की वकालत करेंगे!** कम-से-कम उनकी तर्क पद्धति तो इसी नतीजे पर पहुँचती है।

आगे रवि सिन्हा दावा करते हैं कि वामपन्थी 'कॉमन सेंस' यह है कि बुर्जुआ जनवाद की किसी भी संस्था या संघटक अंग को समाजवाद के दौरान नहीं अपनाया जायेगा; अधिकतम सम्भव बुर्जुआ जनवाद के लिए संघर्ष करना मज़दूर वर्ग का काम नहीं है और जितना बुर्जुआ जनवाद हासिल है उसे प्राप्त करने में जनता ने कुछ नहीं किया है। **यह रवि सिन्हा का मार्क्सवाद के बारे में उदार बुर्जुआ 'कॉमन सेंस' हो सकता है, कम-से-कम सही मार्क्सवाद का ऐसा दृष्टिकोण नहीं है।** यह दृष्टिकोण मार्क्सवाद पर थोप दिया गया है। सर्वहारा वर्ग भी प्रतिनिधित्वपूर्ण जनवाद में भरोसा करता है और निश्चित तौर पर सर्वहारा जनवाद बहुसंख्यक मेहनतकश जनता के सामने इस प्रतिनिधित्व का अवसर उपस्थित करेगा। लेकिन निश्चित तौर पर समाजवादी जनवाद का अस्तित्व-रूप (modus vivendi) बहुपार्टी उदार संसदीय पूँजीवादी लोकतन्त्र नहीं हो सकता है (इस नुक्ते पर आलोचनात्मक चर्चा के लिए देखें-इसी अंक में पृष्ठ 118-119)। समाजवादी राज्य एक संविधानबद्ध शासन भी देगा। लेकिन इस संविधान की वर्ग अन्तर्वस्तु अलग होगी। इस रूप में जहाँ तक संस्थागत पहलू का प्रश्न है सर्वहारा जनवाद अपनी नयी संस्थाओं का निर्माण करेगा। वह दिखलायेगा कि बुर्जुआ जनवाद का सिद्धान्त बुर्जुआ दार्शनिकों का एक आदर्शीकृत स्वप्न था और पूँजीवादी व्यवस्था के रहते हुए इसका अर्थ बेचने-ख़रीदने की स्वतन्त्रता, कानून के समक्ष औपचारिक समानता के अलावा ज़्यादा कुछ नहीं हो सकता था और अन्ततः उसे किसी न किसी किस्म के प्रतिक्रिया में ही परिणत होना होता है। लेकिन रवि सिन्हा के लिए जनवाद की कोई वर्ग अन्तर्वस्तु नहीं है। उनके इस कथन पर ग़ौर करें, "*आधुनिक जनवाद का इतिहास पूँजीवाद के इतिहास को अतिच्छादित करता है*

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है यह उसका समानार्थी है।" यह दृष्टिकोण जनवाद और पूँजीवाद के प्रश्न को द्विभाजित तौर पर देखता है। जनवाद के विकास को भी एक **योगात्मक प्रक्रिया (aggregative process)** के तौर पर देखता है। इसके अनुसार, पूँजीवाद के दौर में आधुनिक जनवाद विकसित हुआ और फिर समाजवाद में यह और विकसित हो जायेगा! इस पूरी प्रक्रिया में कहीं कोई विच्छेद (rupture) का तत्व नहीं है। इस प्रकार का क्रमवाद (gradualism) और विकासवाद (evolutionism) वास्तव में उसी समाजशास्त्रीयतावाद की निशानी है, जिसका कि रवि सिन्हा का विश्लेषण बुरी तरह से शिकार है। **पूँजीवाद के उद्भव और उसके विकास और फिर उसके पतन का इतिहास पूँजीवाद जनवाद के उद्भव, विकास और पतन का भी इतिहास होता है।** वास्तव में, आर्थिक संकट के साथ आर्थिक कट्टरवाद के पैदा होने और राजनीतिक संकट के साथ राजनीतिक कट्टरवाद के पैदा होने के साथ ही समूची पूँजीवादी व्यवस्था अपनी असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचती है। पूँजीवाद के आदि से अन्त तक जनवाद का विकास एकरेखीय नहीं होता बल्कि जन्म, शीर्ष पर पहुँचने और फिर पतन की कहानी कहता है। बुर्जुआ जनवाद प्रगतिशील सम्भावना के जन्म, उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचने और फिर हर प्रकार की प्रगतिशील सम्भावनाओं से रिक्त होने के साथ उसके पतन की मंज़िलों से होकर गुज़रता है। रवि सिन्हा की बुर्जुआ जनवाद के पूरे ऐतिहासिक आख्यान की समझदारी इस रूप में भयंकर भोण्डे क्रमवाद और विकासवाद की शिकार है।

समाजवाद बुर्जुआ जनवाद के आदर्शों से सीखता है, लेकिन साथ ही इसका यथार्थवादी रूपान्तरण भी करता है और स्पष्ट तौर पर दिखलाता है कि सच्चा जनवाद मज़दूर वर्ग का शासन ही दे सकता है, जो सही मायने में बहुसंख्यक मेहनतकश जनता का जनवाद हो; साथ ही, वह यह भी दिखलाता है कि जनवाद कोई वर्गेतर अवधारणा नहीं होती। **यदि जनवाद सभी के लिए हो, तो फिर समानता और जनवाद में कोई वास्तविक व प्रभावी अन्तर नहीं रह जायेगा। यही कारण है कि समानतामूलक समाज बनाने की कम्युनिस्ट परियोजना को पहले सामाजिक जनवाद का नाम दिया गया, यानी वह आन्दोलन जो कि जनवाद का समाजीकरण करे। बाद में बेशक़ इसे अपर्याप्त होने और नये ऐतिहासिक अर्थ ग्रहण करने के कारण क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन ने त्याग दिया। बहरहाल, जनवाद का कोई अर्थ ही तभी निकल सकता है, जब उसके वर्ग चरित्र को स्पष्ट किया जाये।**

रवि सिन्हा दलील देते हैं कि बुर्जुआ जनवाद केवल बुर्जुआ राज्य और सत्ता की अन्य संरचनाओं को संघटित करने का रूप ही नहीं होता, बल्कि वह व्यक्तिगत नागरिकों के लिए अधिकारों, चुनाव के विकल्पों (choices) और आज़ादियों के एक क्षेत्र को भी निर्मित करता है! यह विचार वास्तव में बुर्जुआ राज्य की उसी उदारवादी बुर्जुआ अवधारणा को प्रदर्शित कर रहा है, जो राज्यसत्ता को **अधिकार-विमर्श (rights-discourse)** के दायरे में परिभाषित करती है। निश्चित तौर पर, बुर्जुआ राज्यसत्ता से जनता ने लड़कर तमाम जनवादी अधिकार हासिल किये हैं। साथ ही, बुर्जुआ राज्यसत्ता स्वयं भी कई जनवादी और नागरिक अधिकार देती है। **लेकिन बुर्जुआ राज्यसत्ता का मूल और मुख्य सरोकार**

नागरिकों को अधिकार देने का नहीं होता, बल्कि जनता को विनियमित (regulate) करने का होता है। इस विनियमन के बग़ैर बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व का एक बुनियादी संघटक तत्व अनुपस्थित होगा। और यह बात केवल आम नागरिक कानूनों के बारे में ही नहीं बल्कि सभी कानूनों, मसलन श्रम कानूनों और अपराध दण्ड कानूनों पर भी लागू होती है। मार्क्सवाद बुर्जुआ उदार राज्य और संविधान द्वारा दिये जाने वाले अधिकारों को **विनियमन-विमर्श (regulation discourse)** के ज़रिये समझता है। यहाँ भी यह दिख जाता है कि आधुनिक बुर्जुआ उदार कल्याणकारी राज्य के "वैभव" से लेखक किस कदर चमत्कृत है।

जनवाद और सत्ता के सन्दर्भ में वर्ग चरित्र के प्रश्न को न उठाने के ही कारण रवि सिन्हा लिखते हैं, "**सभी सत्ता की संरचनाएँ आखिरी विश्लेषण में स्वतन्त्रता के प्रतिकूल होती हैं**।" किसकी स्वतन्त्रता? कैसी सत्ता संरचनाएँ? यहाँ भी वर्ग विश्लेषण अनुपस्थित है। इस कथन पर **मिशेल फूको** के विचारों का असर स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। निश्चित तौर पर, राज्य का क्षेत्र दमन का क्षेत्र होता है, जैसा कि एंगेल्स ने कहा था। और इस रूप में सर्वहारा राज्य भी दमन का उपकरण होगा। लेकिन अगर इस सवाल को गोल कर दिया जाये कि किसका दमन और किसके द्वारा दमन तो यह एक निष्क्रियतावादी आमूलगामी जनोत्तेजन (passive radical demagoguery) से ज़्यादा और कुछ नहीं होगा। लेखक का मानना है कि मानव विकास का मकसद राज्य की संस्थाओं को विरल और पारदर्शी बनाते हुए समाप्ति की ओर ले जाना होता है, हालाँकि वह इस बारे में संशकित हैं कि राज्य का वाकई कभी विलोपन होगा या नहीं! यह शंका राज्यसत्ता के उद्भव, विकास और अन्ततः विलोपन के विषय में लेखक के अनैतिहासिक दृष्टिकोण को अनावृत्त करती है। लेकिन यहाँ भी वह इस विलोपन की प्रक्रिया का एक क्रमवादी और विकासवादी नज़रिया पेश करते हैं। उनके अनुसार, पूँजीवादी व्यवस्था के दौर में प्रगतिशील ताक़तें राज्य की संस्थाओं को विरल बनाने और पारदर्शी बनाने का कार्य शुरू कर देंगी और यह काम पूरा होगा समाजवाद के दौरान। वास्तव में, पूँजीवाद के दौरान जनवादी स्पेस और अधिकारों के लिए संघर्ष पूँजीवादी राजकीय संस्थाओं को अधिक पारदर्शी और विरल नहीं बनाता है और न ही कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पूँजीवादी राजकीय संस्थाओं को अधिक पारदर्शी और विरल बनाने के लिए यह संघर्ष करते ही हैं। **कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी बुर्जुआ उदार राज्य और संविधान के वायदों और प्रतिबद्धताओं के साथ इसलिए *ओवर-आइडेण्टिफाई* (over-identify) करते हैं और उनके लिए इसलिए संघर्ष करते हैं क्योंकि यह संघर्ष पूँजीवादी व्यवस्था और उदार बुर्जुआ जनवाद को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु (point of impossibility) तक पहुँचाता है।** इस प्रक्रिया के उपोत्पाद के तौर पर यदि बुर्जुआ राज्य अधिक पारदर्शी या विरल बनता है तो यह अलग बात है। यही कारण है कि लेनिन ने कहा था कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ जनवाद के तहत जनवादी अधिकारों के लिए जुझारू संघर्ष करता है क्योंकि एक ओर यह सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण और वर्ग संघर्ष के लिए सबसे मुफीद ज़मीन मुहैया कराता है, वहीं पूँजीवादी

व्यवस्था को बेनक़ाब भी करता है। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था के तहत बुर्जुआ जनवादी स्पेस और अधिकारों को अधिकतम बनाने का संघर्ष पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष का एक हिस्सा है।

रवि सिन्हा मानते हैं कि राज्य को क्रमिक प्रक्रिया में जीवन के अधिकांश क्षेत्रों को अपने नियन्त्रण से मुक्त करना होता है और इसी प्रक्रिया में वह सिकुड़ता जाता है और उसका विलोपन होता है। लेकिन उनके अनुसार पूँजीवाद के तहत ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि राज्य के नियन्त्रण क्षेत्र से पूँजीवाद के तहत जो भी बाहर जायेगा वह बाज़ार के मातहत आयेगा! यह भी ग़जब की समझदारी है। इसके अनुसार, आज बुर्जुआ राज्य के मातहत जो क्षेत्र हैं, वह मुनाफ़े और बाज़ार के मातहत नहीं हैं! **यहाँ भी हम एक ग़ैर-द्वन्द्वात्मक द्विभाजन देख सकते हैं और इसके पीछे एक कल्याणकारी राज्य का सामाजिक-जनवादी यूटोपिया और साथ ही उदार बुर्जुआ राज्य की एक आदर्शवादी समझदारी है। यह द्विभाजन है राजकीय विनियमन बनाम बाज़ार विनियमन। दूसरे शब्दों में नियोजन बनाम बाज़ार का द्विभाजन।** अर्थशास्त्रीय तौर पर इसे ज़्यादा से ज़्यादा एक नवकीन्सीय समझदारी कहा जा सकता है, जिसके शिकार पॉल स्वीज़ी भी थे। उन्होंने समाजवादी संक्रमण पर चली बहस में नियोजन को समाजवाद और बाज़ार को पूँजीवाद का पैमाना माना था, जिसकी बेतेलहाइम ने कमोबेश सन्तुलित आलोचना पेश की थी। यह द्विभाजन ही ग़लत है, जब तक कि राज्य और बाज़ार दोनों के ही राजनीतिक चरित्र के सवाल को नहीं समझा जाता है। **आज के दौर में भी जो राज्य के मातहत है वह वास्तव में बाज़ार के मातहत ही है। बल्कि कहना चाहिए कि आज जिसे यह नहीं दिख रहा है उसे राजनीतिक अन्धता का शिकार न कहा जाये तो क्या कहा जाये?** राजकीय क्षेत्र में बाज़ार की शक्तियों के काम करने की पद्धति शुद्ध बाज़ार के क्षेत्र में बाज़ार की शक्तियों के काम करने के तरीके से कुछ भिन्न होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि राजकीय विनियमन के तहत आने वाले क्षेत्रों में बाज़ार का नहीं बल्कि किसी कल्पित उदार कल्याणकारिता का साम्राज्य होता है! **यह भी बुर्जुआ उदार राज्य के प्रति रवि सिन्हा के अनालोचनात्मक *फेटिश* को ही प्रदर्शित कर रहा है।** उनके तर्क का मर्म यह है कि पूँजीवाद के रहते तो हमें उदार बुर्जुआ संवैधानिक जनवादी राज्य की और भी ज़रूरत महसूस करनी चाहिए क्योंकि एक ओर यह प्राक्-आधुनिक बर्बरता को सन्तुलित करेगा वहीं यह बाज़ार की शक्तियों को विनियमित करेगा। एक ऐसे समय में ऐसा तर्क देना जब राज्य सबसे ज़्यादा नंगे तौर पर बाज़ार की शक्तियों की लूट के लिए मैदान खाली कराने का काम कर रहा है, हास्यास्पद है। अकादमिक और राजनीतिक हलकों में हालिया दौर में यह बहस चलती रही है कि राज्य नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के दौर में ज़्यादा हस्तक्षेपकारी (interventionist) हुआ है या फिर वह अधिक से अधिक अदृश्य और अनुपस्थित होता जा रहा है। हमारा मानना है कि राज्य कभी भी कम हस्तक्षेपकारी या अनुपस्थित नहीं हुआ है बस इसके हस्तक्षेप और उपस्थिति के रूप बदलते रहे हैं। तथाकथित "मुक्त-व्यापार" पूँजीवाद के दौर में भी राज्य एक अलग तरीके से विनियमनकारी और हस्तक्षेपकारी भूमिका निभाता था।

कल्याणकारी राज्य के दौर के बारे में तो कोई बहस ही नहीं है, जब राज्य ने पूँजी के दूरगामी हितों के मद्देनज़र कई बार वैयक्तिक पूँजी की इच्छाओं के विपरीत आचरण किया और जनता के लिए कुछ कल्याणकारी नीतियाँ लागू कीं। लेकिन आज के दौर के बारे में कई लोगों का कहना है कि राज्य की भूमिका कम होती जा रही है, उसका हस्तक्षेप घटता जा रहा है। यह एक दृष्टिभ्रम से ज़्यादा और कुछ नहीं है। वास्तव में, आज राज्य पहले से ज़्यादा हस्तक्षेपकारी हो गया है। लेकिन कल्याणकारी दौर के विपरीत अब यह नंगे और बेशर्म तरीके से पूँजी के हितों के लिए हस्तक्षेप करता है। चाहे वह देश की प्राकृतिक सम्पदा या फिर सस्ते श्रम की लूट को सुगम बनाने में राज्य की भूमिका हो या फिर श्रम कानूनों के विनियमन के ज़रिये हासिल होने वाली सुरक्षा को समाप्त करने में राज्य की भूमिका हो, राज्य के हस्तक्षेप को कहीं भी पहले के दौर से कम नहीं माना जा सकता; बल्कि ज़्यादा ही मानना पड़ेगा। ऐसे में यह तर्क देना कि पूँजीवाद के मातहत राज्य के नियन्त्रण से जीवन के जो क्षेत्र बाहर जायेंगे वे बाज़ार की पाशविक शक्तियों के मातहत चले जायेंगे, उदारवादी भोलापन है और केवल यह दिखलाता है कि बुर्जुआ समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र की पुस्तकों में पेश पूँजीवाद की तस्वीर को रवि सिन्हा ने कुछ ज़्यादा ही गम्भीरता से ले लिया है। पूँजीवाद के मातहत राज्य और बाज़ार के बीच इस प्रकार का कोई द्विभाजन या विरोधाभास नहीं होता है क्योंकि वे दोनों ही पूँजीवादी राज्य और पूँजीवादी बाज़ार होते हैं। उनके बीच के अन्तरविरोधों को समझने की यह पद्धति पूँजीवाद के तहत राज्य और बाज़ार के सम्बन्धों की कभी सही व्याख्या नहीं कर सकती है।

बुर्जुआ संवैधानिक उदार जनवादी राज्य के प्रति रवि सिन्हा का दृष्टिकोण यह है कि ऐसा राज्य पारदर्शी होता है! यह भी एक भयंकर विभ्रम है। उनके अनुसार ऐसा पारदर्शी संवैधानिक और नियमबद्ध जनवादी राज्य तृणमूल भागीदारी जनवाद के अतिरेकों को सन्तुलित कर सकता है क्योंकि यह जहाँ एक ओर पारदर्शी होता है वहीं यह आधुनिक तर्कणा का मूर्त रूप होता है। ऐसे राज्य को वह जनता के तृणमूल जनवाद का शत्रु नहीं बल्कि पूरक मानते हैं और मानते हैं कि ऐसे राज्य को जनता भी गठित कर सकती है! लेकिन अगर हम भारत ही नहीं बल्कि दुनिया के उदारतम बुर्जुआ कल्याणकारी जनवादी राज्यों पर निगाह डालें तो क्या हम ऐसा कोई पारदर्शी बुर्जुआ राज्य देख पाते हैं, जिसकी कल्पना रवि सिन्हा कर रहे हैं? दुनिया भर में पूँजीवादी आधुनिक राज्य कॉरपोरेट घरानों के साथ गोपनीय जनविरोधी समझौतों में लिप्त है; हर जगह पूँजीवादी राज्य राष्ट्रवाद और आन्तरिक सुरक्षा के नाम पर तमाम अहम सूचनाओं को सार्वजनिक संज्ञान से बाहर रखते हैं; अमेरिका समेत दुनिया के तमाम पूँजीवादी राज्यों ने ऐसे दमनकारी और विशिष्ट कानून बनाये हैं जो कि जनता के जनवादी और संविधान-प्रदत्त अधिकारों को छीनते हैं; कहने की ज़रूरत नहीं है कि उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्य में यह अपारदर्शिता और भी ज़्यादा होगी। लेकिन किसी भी नस्ल के उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य से पूर्ण पारदर्शिता की उम्मीद करना अहमकाना होगा।

रवि सिन्हा जनवाद की राजनीतिक अन्तर्वस्तु को नहीं देखते बल्कि उसका एक **संस्थावादी (institutionalist)** विश्लेषण करते हैं। यानी कि कुछ जनवादी संस्थाएँ (संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य) सही मायने में आधुनिक और जनवादी होंगी, जबकि अन्य (मुहल्ला पंचायतें, कमेटियाँ या अन्य भागीदारी जनवाद की संस्थाएँ) कम जनवादी होंगी और उनमें जनवाद को नष्ट कर देने की प्रवृत्तियाँ भी मौजूद होंगी। और यह संस्थावादी विश्लेषण अन्त में फिर से आधुनिक और प्राक्-आधुनिक के द्विभाजन पर आकर ख़त्म होता है, जिसके सतहीपन का विश्लेषण हम ऊपर कर चुके हैं। फ़ासीवाद के हालिया उभार और सत्तारूढ़ होने के बरक्स उसके प्रतिरोध के बारे में रवि सिन्हा के पहले और दूसरे सबक का सारतत्व यही हैः **पहला**, फ़ासीवाद का मुकाबला करने के लिए फ़ासीवाद के विरुद्ध जनता की गोलबन्दी और सड़क की लड़ाई के प्रयास आत्मघाती सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि (1) भारत की जनता स्वयं वह प्राक्-आधुनिक सर्वसत्तावादी समुदाय है जिसके 'अपने विवेक' से दिये गये समर्थन के बूते फ़ासीवाद सत्ता में पहुँचा है और (2) अगर प्रगतिशील ताक़तें जनता के पास जायेंगी तो फ़ासीवादी और ज़्यादा बड़े पैमाने पर जनता के बीच जायेगा और चूँकि समाज प्राक्-आधुनिक है और फ़ासीवादियों के बर्बर आवाहनों को इस समाज में प्रगतिशील आवाहनों से ज़्यादा अनुगूँज मिलेगी, इसलिए जनता के बीच या सड़क की लड़ाई में विजय की उम्मीद करना व्यर्थ है; इसलिए रवि सिन्हा के मुताबिक फ़ासीवाद के विरुद्ध लड़ाई को आधुनिक संवैधानिक उदार राज्य के दायरे में सीमित कर देना चाहिए क्योंकि यही राज्य प्राक्-आधुनिक बर्बर फ़ासीवादियों पर भी सभ्य बनने का दबाव डालता है। दूसरा, जनवाद के लिए संघर्ष में राज्य के निकायों को अधिक से अधिक पारदर्शी और राजनीतिक प्रक्रिया को अधिक से अधिक विरल बनाने पर ज़ोर दिया जाना चाहिए न कि तृणमूल भागीदारी जनवाद के मॉडल खड़े करने पर क्योंकि तृणमूल भागीदारी जनवाद के भीड़ जनवाद में तब्दील हो जाने के ख़तरे मौजूद रहेंगे; कारण एक बार फिर यह है कि समाज प्राक्-आधुनिक और सर्वसत्तावादी रुझानों से भरा हुआ है। इन दोनों सबकों के आधार पर हम कुछ और प्रेक्षण और रखेंगे और फिर लेखक के तीसरे सबक की ओर बढ़ेंगे।

पहली बात तो यह है कि भारतीय उत्तर-औपनिवेशिक समाज में प्राक्-आधुनिक, सर्वसत्तावादी और बर्बर रुझान हैं, इसमें कोई दो राय नहीं है। लेकिन इन रुझानों की एक **ऐतिहासिकता (historicity)** है, जिसे रवि सिन्हा पकड़ नहीं पाते हैं और इसीलिए उनका **सारभूतीकरण (essentialization)** करते हैं। इसका कारण यह है कि एक उत्तर-औपनिवेशिक राज्य और समाज में आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के द्वन्द्व और *आर्टिकुलेशन* को समझने में वह नाकाम रहते हैं। इस द्वन्द्व में अगर प्रधान पहलू की बात करें तो वह निश्चित तौर पर आधुनिकता है, जिसने प्राक्-आधुनिक बर्बर और सर्वसत्तावादी रुझानों को अपने अनुसार सहयोजित किया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह पूँजीवादी आधुनिकता है और पूँजीपति वर्ग इसकी चालक शक्ति है। ऐसे में, एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीपति वर्ग जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था के आर्थिक *आर्किटेक्टॉनिक (architectonic)* के

सुगम परिचालन के लिए आधुनिकता को अपनाता है तो वहीं अपने राजनीतिक वर्चस्व को **बहुसंस्तरीय (multi-layered)** और व्यापक बनाने के लिए एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज में मौजूद प्राक्-आधुनिक तत्वों को भी अपनाता है। इसलिए भारतीय समाज और राज्य भी, कई बार अगर प्राक्-आधुनिक तत्वों का प्रदर्शन करते हैं, तो इससे पूँजीवादी आधुनिकता के प्रति *फेटिश* रखने वाले लोगों को इनके प्राक्-आधुनिक होने का दृष्टिभ्रम (optical illusion) पैदा हो सकता है। रवि सिन्हा काफ़ी हद तक इसी के शिकार हैं।

दूसरी बात यह है आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के इस द्वन्द्व को अलग-थलग तौर पर देखना रवि सिन्हा को उदार बुर्जुआ चिन्तन की परम्परा में सुदृढ़ तौर पर अन्तःस्थापित कर देता है। वास्तव में इस द्वन्द्व के पीछे वर्ग शक्तियों की अन्योन्यक्रिया (interplay) जारी रहती है। इसलिए रूप के धरातल पर मौजूद आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के सामाजिक वर्ग संघर्ष के साथ नाभिनालबद्ध सम्बन्ध को समझे बग़ैर किसी भी विश्लेषण के समक्ष एक संस्थावादी विश्लेषण के गड्ढे में गिरने का ख़तरा मौजूद रहता है। अगर भारतीय समाज में प्राक्-आधुनिकता के तत्व मौजूद हैं तो उसकी प्रतिशक्ति के तौर पर आधुनिकता की शक्तियाँ भी मौजूद हैं, और निश्चित तौर पर उसमें केवल मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ नहीं शामिल हैं। बल्कि कहा जा सकता है कि भारतीय समाज के प्राक्-आधुनिक तत्वों को प्रति-सन्तुलित करने में पूँजीवादी आधुनिकता की ताक़तें अब तक अपर्याप्त ही साबित हुई हैं। **आज के दौर में क्रान्तिकारी सर्वहारा प्रबोधन की शक्तियों के ज़रिये, और अगर हमें इस शब्द का प्रयोग करने की आज्ञा दी जाये, तो सर्वहारा आधुनिकता के ज़रिये ही भारतीय समाज में मौजूद प्राक्-आधुनिक, प्रतिक्रियावादी ताक़तों का मुकाबला किया जा सकता है, जो कि विशेष तौर पर एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज में उस तर्कणा और आधुनिकता के उसूलों की सही वारिस है, जिसे बुर्जुआ वर्ग के क्रान्तिकारी दार्शनिकों ने प्रतिपादित किया था और जो बुर्जुआ वर्ग के शासन के वास्तविक रूप ग्रहण करने के साथ धूल में फेंक दिये गये।**

यहीं से हम अपने **तीसरे नुक्ते** पर आ सकते हैं। **वर्तमान की चुनौतियों का मुकाबला अतीत की ज़मीन पर खड़े होकर नहीं किया जा सकता है।** यह बात इतिहास के हर दौर के लिए सही सिद्ध होती है। आज भारतीय पूँजीवादी उत्तर-औपनिवेशिक समाज में जो प्राक्-आधुनिक तत्व मौजूद हैं, वह बस सीधे तौर पर किसी बीते सामन्ती या प्राक्-पूँजीवादी युग के अवशेष या उनकी निरन्तरता नहीं हैं। यह बीते युग की बर्बरताओं के आधुनिक युग की बर्बरताओं के साथ होने वाले *आर्टिकुलेशन* से पैदा हुई विशिष्ट रूप की बर्बरता है, जिसे सही मायनों में सामन्ती, प्राक्-पूँजीवादी या प्राक्-आधुनिक कहा भी नहीं जा सकता है। यहाँ तक कि खाप पंचायतों के इतिहास के अध्ययन भी दिखलाते हैं कि ये महज़ कोई प्राक्-पूँजीवादी प्राक्-आधुनिक निरन्तरता नहीं है, बल्कि आज के दौर की विशिष्ट परिघटना है और पूँजीवादी आधुनिकता के हाथों सुविधाजनक और सुगम रूप से सहयोजित है। इस विशिष्ट किस्म की उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिक बर्बरता का मुकाबला

आप 16वीं और 17वीं सदी में खड़े होकर नहीं कर सकते हैं; पुनर्जागरण, धार्मिक सुधार आन्दोलन और प्रबोधन और उसके बाद वैज्ञानिक क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति की प्रक्रिया से गुज़रकर पैदा हुई पूँजीवादी आधुनिकता की ज़मीन पर खड़े होकर आज की इस चुनौती का मुकाबला नहीं किया जा सकता है। प्रबोधनकालीन बुर्जुआ दार्शनिकों ने पूँजीवादी व्यवस्था और शासन के जिस आदर्शीकृत रूप की कल्पना की थी उसकी ज़मीन पर खड़े होकर और इस किस्म के किसी *एनाक्रॉनिस्टिक नॉस्टैल्जिया (anachronistic nostalgia)* के बूते आप आज भारतीय समाज में मौजूद बर्बरता के तत्वों का सामना नहीं कर सकते हैं। **आज इसका मुकाबला करने के लिए एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन की ज़रूरत है। आज सर्वहारा वर्ग ही यह काम कर सकता है, चाहे उसके भीतर प्राक्-आधुनिक विचारों का जो भी प्रभाव हो।** निश्चित तौर पर, मज़दूर वर्ग ऐसा स्वतःस्फूर्त तौर पर नहीं कर सकता है और उसके लिए एक सर्वहारा हिरावल की ज़रूरत होगी जो कठमुल्लावाद और जड़सूत्रवाद को छोड़ भारतीय पूँजीवादी राज्य और समाज की विशिष्टता को समझते हुए अपने विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यभार निकाले। मज़दूर वर्ग के पास स्वतः और सहज उपलब्ध चेतना, या यूँ कहें कि स्वतःस्फूर्त मज़दूर चेतना ही सर्वहारा चेतना नहीं होती है। इस सर्वहारा चेतना के लिए सतत् विचारधारात्मक-राजनीतिक वर्ग संघर्ष और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान से लैस हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व की दरकार होती है। लेकिन इतना तय है कि आज कोई प्रबुद्ध मध्यवर्गीय टटपुँजिया बुद्धिजीवी वर्ग इस कार्यभार को पूरा करने में अगुवाई नहीं कर सकता है और न ही इसका मुकाबला केवल अदालतों और कानूनी फ्रेमवर्क में चलने वाले संघर्षों से ही किया जा सकता है। इतिहास के जो कार्यभार भारत में औपनिवेशिकीकरण के कारण छूट गये उन्हें इतिहास में वापस जाकर पूरा करना सम्भव नहीं है। **इतिहास की गति इसी प्रकार होती है; मानव प्रगति की रीडेम्प्टिव गतिविधि (redemptive activity) इसी प्रकार की होती है।**

तीसरा सबकः 'रोम में रहो तो वह करो जो रोमवासी करते हैं'

"*आप किस चीज़ पर काम कर रहे हैं?" श्रीमान क. से पूछा गया। श्रीमान क. ने जवाब दियाः "मैं काफ़ी दिक्कत से गुज़र रहा हूँ; मैं अपनी अगली ग़लती की तैयारी कर रहा हूँ।*"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, 'महाशय कॉयनर की कहानियाँ')

"*छोटे बदलाव, बड़े बदलावों के दुश्मन होते हैं*।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट)

रवि सिन्हा का तीसरा सबक बुर्जुआ राज्य की नीतियों और कार्यक्रम के सम्बन्ध में है जिसमें वे उन बुनियादी माँगों की बात करते हैं जिसके लिए आज वामपंथियों को लड़ना चाहिए। यहाँ वह कोई नया सबक नहीं दे रहे हैं। वास्तव में, वह जो बात कह रहे हैं वह सी.पी. चन्द्रशेखर, जयति घोष, प्रभात पटनायक आदि जैसे सामाजिक-जनवादी

राजनीतिक अर्थशास्त्री हर हफ्ते *दि हिन्दू, फ्रण्टलाइन, मैक्रोस्कैन, नेटवर्क आइडियाज़*, आदि जैसी पत्र-पत्रिकाओं और वेबसाइटों पर देते रहते हैं। यह और कुछ नहीं है बल्कि पुराना कीन्सीय नुस्खा है, जिसके अनुसार वामपंथियों को कल्याणकारी राज्य और पूँजी की निर्बाध गति के विनियमन के लिए लड़ना चाहिए। इसके पीछे के लेखक के कारण बिल्कुल वैसे नहीं हैं, जैसे कि उपरोक्त सी.पी.एम.-ब्राण्ड अर्थशास्त्रियों के हैं। क्योंकि उनके कारणों के नीचे एक मज़बूत कीन्सीय, हॉब्सनियन अल्पउपभोगवादी (under-consumptionist), काऊत्स्कीपन्थी, सामाजिक जनवादी और संशोधनवादी विचारधारात्मक-राजनीतिक ज़मीन है। रवि सिन्हा सीधे वे कारण बता नहीं सकते वरना पहचान का संकट पैदा हो जायेगा; लेकिन उन कारणों के स्थानापन्न के तौर पर वह या तो कोई कारण बता ही नहीं पाते हैं, या फिर उनके बताये हुए कारण हास्यास्पद हैं।

लेखक दलील देता है कि भारतीय पूँजीवाद आज विशेष तौर पर हिंस्र और खूँखार मंज़िल में है और इसके दो प्रमुख कारक हैं। पहला यह है कि भारत में प्रचुर मात्रा में मौजूद सस्ता श्रम और दूसरा यह है कि भारत में जंगलों, खानों-खदानों के रूप में अधिकांश प्राकृतिक सम्पदा और साथ ही अधिकांश छोटी सम्पत्तियाँ अभी पूँजी में तब्दील नहीं हुई हैं। यह पूरा प्रेक्षण एक बार फिर दिखलाता है कि लेखक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी विकास के सामान्य प्रक्षेप-पथ (trajectory) को समझ नहीं पाया है। पहली बात तो यह है कि लेखक द्वारा बताया गया दूसरा कारक तथ्यतः सटीक नहीं हैं। भारत में मौजूद प्राकृतिक संसाधन और अधिकांश छोटी सम्पत्तियाँ मुख्य तौर पर पूँजी में तब्दील हो चुकी हैं। पूँजी में तब्दील होने का अर्थ है कि उत्पादन उपभोग हेतु नहीं बल्कि विपणन हेतु हो रहा है, यानी कि विनिमय के लिए। यानी कि माल-मुद्रा-माल का चक्र अब मुद्रा-माल-मुद्रा में तब्दील हो चुका है। भारत में छोटी सम्पत्तियों का बाहुल्य कृषि क्षेत्र में देखा जा सकता है। आज से करीब एक दशक पहले ही देश के 60 प्रतिशत ग्रामीण घरों के आय का मुख्य स्रोत उजरती श्रम था; दूसरे स्थान पर छोटे माल उत्पादन के विपणन से होने वाली आय थी; 20 प्रतिशत घरों में बेशी उत्पादन के विपणन से होने वाली आय और मज़दूरी से होने वाली आय बराबर थी। देश के परिधिगत किसानों, यानी कि सबसे छोटी जोत वाले किसानों के उत्पादन का भी 40 प्रतिशत हिस्सा बेचने के लिए था। निश्चित तौर पर, पिछले दस वर्षों में स्थितियाँ और बदली होंगी। दूसरी बात जिसे समझना ज़रूरी है वह यह है कि पूँजी द्वारा श्रम प्रक्रिया को औपचारिक तौर पर अपने मातहत लाना (formal subsumption) और वास्तविक तौर पर अपने मातहत लाना (real subsumption)। मार्क्स ने इन दोनों चरणों में स्पष्ट फर्क किया था और बताया था कि पूर्ण रूप से पूँजीवादी संचय दूसरे चरण के साथ ही शुरू होता है। पहले पूँजी पहले से मौजूद श्रम प्रक्रिया को अपने मातहत लाती है। इस चरण में पूँजी उत्पादन के साधनों को अपने मातहत लाती है और उत्पादकों को उजरती मज़दूरों में तब्दील कर देती है और पूँजी संचय को सम्भव बनाती है। लेकिन श्रम प्रक्रिया मोटा-मोटी पहले के समान ही जारी रहती है। दूसरे चरण में पूँजी अपने हितों के अनुरूप पूरी की पूरी श्रम प्रक्रिया और तकनीक को अपने मातहत लाती है और उसका रूपान्तरण कर देती है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था इस दूसरे चरण के साथ ही परिपक्व रूप ग्रहण करती है। इसे हम मैन्युफैक्चर से मशीनोफैक्चर तक की यात्रा से भी समझ सकते हैं। क्लासिकीय तौर पर पूँजीवाद के विकास में इन दो चरणों के बीच सैद्धान्तिक तौर पर और साथ ही एक हद तक ऐतिहासिक तौर पर एक रेखा खींची जा सकती है। **लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी देशों में पूँजीवादी विकास की यह एक विशिष्टता है कि उसके ऐतिहासिक विकास के कई क्षण (moments) सहअस्तित्वमान होते हैं।** इसलिए हमें भारत में बेहद उन्नत पूँजी संचय की मिसालें बड़ी संख्या में मिल सकती हैं तो साथ ही हमें ऐसे इलाके भी मिल सकते हैं जहाँ कालानुक्रम-दोष के साथ "आदिम" पूँजी संचय के क्षण भी दिख सकते हैं जिसमें कि छोटे उत्पादकों, आदिवासियों आदि को उनके जल, जंगल और ज़मीन से उजाड़ा जा रहा है और उनके प्राकृतिक संसाधनों की कारपोरेट लूट का रास्ता साफ़ किया जा रहा है। वैसे भी मार्क्स के लिए "आदिम" पूँजी संचय कोई शुद्धतः कालिक (temporal) अवधारणा नहीं थी। यूँ तो चाहे कोई भी देश हो पूँजीवादी विकास अपनी प्रकृति से ही काल और दिक् दोनों के ही आयामों पर असमान होता है, लेकिन एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवाद में यह असमानता विशिष्ट और चमत्कृत कर देने वाले रूपों दिखलायी पड़ती है। लेकिन इन सबके बावजूद यह कहना कि समूची अर्थव्यवस्था में छोटे मालिकाने की सम्पत्तियाँ अभी पूँजी में तब्दील नहीं हुई हैं, सच्चाई से बहुत दूर है। यह ज़रूर है कि देश में छोटी सम्पत्तियाँ चाहें वे कृषि के क्षेत्र में हों या उद्योग के क्षेत्र में, अभी कॉरपोरेट इज़ारेदार पूँजी के वर्चस्व के तहत पूरी तरह से नहीं आयी हैं। इसलिए कॉरपोरेट पूँजीवाद के साथ-साथ हमारे देश में टटपुँजिया पूँजीवाद भी मौजूद है, हालाँकि स्पष्ट तौर पर पहले की हिस्सेदारी अर्थव्यवस्था के आकार में काफ़ी ज़्यादा है।

लेकिन अगर रवि सिन्हा इन दो कारकों को आज पूँजीवादी पशु के ज़्यादा भूखे होने के लिए ज़िम्मेदार बता रहे हैं, तो बात समझ में नहीं आती है। **क्योंकि सस्ते श्रम की मौजूदगी और प्राकृतिक सम्पदा और छोटी सम्पत्तियों की भारी मौजूदगी भारत में आज से नहीं बल्कि पिछले कई दशकों से है, तो फिर भारतीय पूँजीवाद में यह विशिष्ट चरण आज ही क्यों आया है!** उनके अनुसार यह आज भारतीय पूँजीवाद के विशेष तौर पर लुटेरे चरित्र को दिखलाता है! अगर ऐसा है तो यह विशिष्टता पहले ही पैदा हो जानी चाहिए थी क्योंकि उनके दोनों कारण आज से नहीं बहुत पहले से मौजूद हैं। यह सही है कि आज भारतीय पूँजीवाद विशेष तौर पर लुटेरे दौर में है। लेकिन इसकी व्याख्या भारतीय पूँजीवाद के इतिहास के एक नये चरण से की जानी चाहिए। यहाँ दो कारक हमारे विचार में विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य हैं: **पहला**, भारतीय पूँजीवाद का 1990 में सार्वजनिक क्षेत्र पूँजीवाद से खुले नवउदारवादी पूँजीवाद के दौर में प्रवेश जिसके साथ देश भर की वह श्रम सम्पदा और प्राकृतिक सम्पदा जो अभी तक निजी पूँजी की निर्बाध लूट के दायरे से बाहर थी, वह अधिक से अधिक उसकी लूट के दायरे में आती गयी; और **दूसरा**, भारतीय व्यवस्था का वैश्विक वित्तीय पूँजीवादी तन्त्र में पहले से अधिक और जैविक समेकन, जिसके कारण वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में मन्दी और संकट के हिचकोले भारतीय अर्थव्यवस्था में भी सीधे तौर पर और

पहले से ज़्यादा महसूस किये जाने लगे। ये दो ऐसे कारक हैं जो पहले मौजूद नहीं थे और आज भारतीय पूँजीवाद की विशिष्टता को सन्तोषजनक रूप से व्याख्यायित कर सकते हैं। लेकिन इन दोनों ही कारकों को समझने में लेखक नाकाम रहता है और उन नियतांकों को गिनाता है जो कि पहले से मौजूद हैं और अपने आप में मौजूदा परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकते हैं।

बहरहाल, रवि सिन्हा भारतीय पूँजीवाद के इस विशिष्ट तौर पर लुटेरे चरण में वामपंथियों को दो माँगों पर लड़ने की सलाह देते हैं: पहला, कल्याणकारी राज्य के लिए और दूसरा पूँजी की निर्बाध लूट को विनियमित करने के लिए। वह कहते हैं कि एक कल्याणकारी राज्य प्रगतिशील कराधान प्रणाली के ज़रिये जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी लेगा। इसके अलावा, प्राकृतिक संसाधनों (बशर्ते कि उनका राष्ट्रीकरण न हो जाये) और छोटी सम्पत्तियों (बशर्ते कि उन्हें नये उद्यमों में स्थायी शेयरहोल्डर न बना दिया जाय) को पूँजी में तब्दील करने से रोकने के लिए एक कानूनी ढाँचे के लिए लड़ना होगा। इन दोनों माँगों के 'इण्डिया अगेंस्ट करप्शन' और बाद में 'आप' द्वारा ले उड़ने पर रवि सिन्हा दुखी हैं और इसे फ़ासीवादी उभार में अन्ततः मददगार भी मानते हैं और साथ ही मानते हैं कि ये माँगें कम्युनिस्टों को उठानी चाहिए। लेकिन ये दोनों ही माँगें न सिर्फ़ आर्थिक तौर पर अव्यावहारिक हैं बल्कि लेखक की निम्न पूँजीवादी और अनैतिहासिक राजनीतिक सोच को दिखलाती हैं। इनमें से दूसरी माँग तो आज सबसे निकृष्ट किस्म के सामाजिक-जनवादी भी बिरले ही करते हैं। ख़ैर, यहाँ जिन दो माँगों के लिए लड़ने का सुझाव दिया गया है वह तमाम संशोधनवादी राजनीतिक पार्टियों और बुद्धिजीवियों और दूसरी ओर रवि सिन्हा के बीच के सारे अन्तर समाप्त कर देता है। वैसे रवि सिन्हा ने पहले ही लेख में स्पष्ट कर दिया है कि जो "परिधि पर खड़े पागल" संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद में फर्क करते हैं, उनसे उन्हें कोई उम्मीद नहीं है और वे उनके सबकों पर संकीर्णतापूर्ण सवाल उठायेंगे! चूँकि हमें पूर्वानुमानपूर्ण फैसले में पागल घोषित कर ही दिया गया है, इसलिए हम इस नुक्ते पर अपनी पूरी बात कह ही देते हैं!

क्या क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कल्याणकारी राज्य के लिए लड़ते हैं? हमारा मानना है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर जनता की उन सभी माँगों के लिए लड़ते हैं जो कि संवैधानिकता के दायरे में आती हैं और कानूनसम्मत होती हैं और उनके बाहर भी होती हैं। वास्तव में, नागरिक अधिकार और जनवादी अधिकार के बीच यही फर्क होता है। हमारी लड़ाई जनता के रोज़गार, रिहायश और शिक्षा के बुनियादी हक़ के लिए होती है। लेकिन कल्याणकारी राज्य की माँग करना एक अलग राजनीतिक माँग बनती है और लघुकालिक तौर पर भी वे कल्याणकारी राज्य की माँग नहीं करते हैं क्योंकि इसके साथ एक राजनीतिक अर्थशास्त्र और राजनीति जुड़ी हुई है। यह कीन्सीय और हॉब्सनियन अल्पउपभोगवादी समझदारी है जिसकी माला आज प्रभात पटनायक, जयति घोष से लेकर सी-पी-चन्द्रशेखर तक जप रहे हैं। यानी कि कल्याणकारी और अल्पउपभोगवादी नीतियों द्वारा घरेलू माँग को बढ़ाकर संकट को दूर करने और जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा

करने का नुस्खा। **क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट जनता के हरेक कानूनी और साथ ही साथ जायज़ हक़ के लिए लड़ते हैं और फिर भी उस लड़ाई को कल्याणकारी राज्य के लिए संघर्ष में तब्दील नहीं करते हैं।** वे उन सभी माँगों के लिए लड़ते हुए जो कुछ पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में हासिल किया जा सकता है, हासिल करते हैं और जो नहीं हासिल किया जा सकता है, उससे व्यवस्था को बेनक़ाब करते हैं और उसे उसकी असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचाते हैं। हमारा संघर्ष समाजवादी व्यवस्था के लिए होता है। मुद्दे तो वही होते हैं लेकिन लड़ने की पहुँच और पद्धति भिन्न होती है। आज भारतीय समाज में हमेशा से ज़्यादा इस बात की ज़मीन तैयार है कि हम जनता को सिर्फ़ केक के लिए नहीं बल्कि पूरी बेकरी हथियाने के लिए लड़ना सिखाएँ! ऐसे में, कल्याणकारी राज्य की माँग को उठाना प्रतिगामी है।

जर्मनी में फ़ासीवादी ताक़तों के उदय का एक कारण यह था कि सामाजिक जनवादियों ने कल्याणकारी राज्य को बचाये रखने की लड़ाई लड़ी न कि समाजवाद की लड़ाई जो कि पूँजीवादी दायरे का अतिक्रमण करती हो। एक मज़बूत मज़दूर आन्दोलन के बूते पर वे पूँजी की शक्तियों को कुछ समय के लिए श्रम की शक्तियों के साथ समझौता करने और कल्याणकारी राज्य को बनाये रखने के लिए मजबूर करने में सफल भी हुए। लेकिन इस बीच वे जनता के बीच इसके विभ्रमों को तोड़ने के राजनीतिक कार्य की बजाय उन्हें मज़बूत बनाते रहे क्योंकि उनका राजनीतिक जुमला (rhetoric) ही कभी कल्याणकारी राज्य के आगे नहीं गया। नतीजतन, जैसे ही संकट के दौर में श्रम और पूँजी के बीच का यह समझौता दबाव के मातहत आने लगा और जर्मन पूँजीपति वर्ग मुनाफे के सिंकुड़ने (profit squeeze) का शिकार हुआ, वैसे ही उसने हिटलर और नात्सी पार्टी को टटपुँजिया वर्गों की गोलबन्दी के ज़रिये मज़दूर आन्दोलन को ध्वस्त करने के लिए राजनीतिक मंच सौंप दिया और इसी के साथ वीमर गणराज्य का पतन हुआ। अगर आज के दौर में भी हमारा राजनीतिक माँगपत्रक कल्याणकारी राज्य की माँग करेगा तो हम इतिहास में वही ग़लती दुहरायेंगे। **हमारी माँग शिक्षा, रोज़गार और रिहायश को जन्मसिद्ध अधिकार बनाने की माँग होते हुए भी कल्याणकारी राज्य की माँग नहीं होती है।** दूसरी बात यह है कि आज कल्याणकारी राज्य की माँग एक अनैतिहासिक माँग है। कल्याणकारी राज्य के इतिहास के रंगमंच से अनुपस्थित होने का रिश्ता उस क्षण से है जिसमें आज विश्व पूँजीवाद है; न तो आज पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों के लिए कल्याणकारी राज्य का ख़र्च उठा पाना सम्भव है और न ही उत्तर-औपनिवेशिक पिछड़े पूँजीवादी देशों के लिए। रवि सिन्हा का मानना है कि हमें ठोस तथ्यों के आधार पर लड़ाई का एजेण्डा तय करना चाहिए और ठोस तथ्य यह है कि कल्याणकारी राज्य की माँग ही आज की यथार्थवादी माँग है, हालाँकि वामपन्थी इसे बीते ज़माने की बात मानते हैं। इसके प्रासंगिक होने के प्रमाण के तौर पर वह इस तथ्य का बयान करते हैं कि संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन ने भी धुर दक्षिणपन्थी नवउदारवादी भाजपा के समक्ष कल्याणकारी राज्य का ही एजेण्डा रखा था, हालाँकि वह इसे लागू करने में असफल रही थी। वामपन्थी (सीपीआई, सीपीएम, आदि) इसे लागू करने या करवाने के

लिए सबसे अच्छी स्थिति में थे, लेकिन उन्होंने परमाणु समझौते के प्रश्न पर यूपीए-एक से बाहर जाने की मूर्खता कर दी! रवि सिन्हा काफ़ी हद तक इस मूर्खता को फ़ासीवादी उभार और 16 मई को मोदी के सत्ता में आने का कारण मानते हैं! **वास्तव में, ये सारे तथ्य जैसे कि कांग्रेस द्वारा कल्याणकारी राज्य के जुमले का इस्तेमाल यह नहीं दिखलाता कि कल्याणकारी राज्य की माँग आज की प्रासंगिक और यथार्थवादी माँग है! यह इसके बिल्कुल विपरीत को दिखलाता है-यह आज के दौर में एक अनैतिहासिक और प्रहसनात्मक माँग है।** यह माँग आज के दौर में न केवल राजनीतिक तौर पर ग़लत है, बल्कि अव्यावहारिक भी है। इस माँग के संसदीय राजनीति में जुमले के तौर पर इस्तेमाल को तो समझा जा सकता है, लेकिन किसी कम्युनिस्ट द्वारा आज कल्याणकारी राज्य की माँग करना (ग़ौर करें, जनता की ज़रूरतों से जुड़ी माँगों को उठाते हुए व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु तक ले जाने और समाजवादी विकल्प का प्रचार करने की नहीं, बल्कि कल्याणकारी राज्य को ही लक्ष्य बनाकर माँग करना) प्रतिगामिता नहीं तो और क्या है? यात्री को जब आगे कुछ नहीं दिखायी देता है, तो वह पीछे ही देखता है। एक बार फिर लेखक वर्तमान की चुनौतियों का मुकाबला अतीत की ज़मीन पर खड़ा होकर करना चाहता है। रवि सिन्हा के मुताबिक आज वामपंथियों को नेहरूवियन कल्याणकारी राज्य या ऐसे किसी अतीत के लिए लड़ना चाहिए! ऐसा इतिहास में पहले भी हुआ है कि यथार्थवादी होने और ठोस तथ्यों को आधार बनाने के नाम पर निराशावाद, समझौतापरस्ती और पराजयवाद परोसा गया है। रवि सिन्हा की दूसरी माँग भी यही करती है, बल्कि इससे कुछ ज़्यादा करती है। उनके अनुसार प्राकृतिक संसाधनों को जब तक राज्य की सम्पत्ति न बना दिया जाये तब तक पूँजी में उनके रूपान्तरण का विरोध किया जाना चाहिए। यहाँ तक तो बात कमोबेश ठीक है, लेकिन साथ ही वह यह माँग उठाने की वकालत करते हैं कि छोटी सम्पत्तियों का तब तक पूँजी में रूपान्तरण नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि उनके पूँजी में रूपान्तरण से पैदा होने वाले भावी उद्यमों में उन्हें स्थायी हिस्सेदार (share-holder) न बनाया जाय! यह तो भयंकर है। इसके अनुसार अगर छोटे कारखाना मालिकों और टटपुँजिया उत्पादकों को यदि कोई बड़ी पूँजी निगलना चाहती है तो उन्हें नये उद्यमों में हिस्सेदारी देनी चाहिए! उसी प्रकार अगर कोई एग्रो-बिज़नेस करने वाली कम्पनी छोटी या मँझोली किसानी को निगलता है तो उजड़े हुए किसानों को नये फार्म में हिस्सेदारी दी जानी चाहिए! किसानों के प्रश्न पर कुछ आगे चर्चा करते हैं, **लेकिन किसी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट को छोटे कारखाना मालिकों और छोटी पूँजी के उजड़ने पर क्यों पेट दर्द होगा?** यह माँग हर सूरत में प्रतिगामी है। यह इतिहास को पीछे की ओर धकेलने की वकालत करती है। कई माँगें पूँजीवादी दायरे के भीतर संघर्ष करने के लिए उपयुक्त होती हैं। लेकिन ये मध्यवर्ती माँगें वे माँगें होती हैं जो कि पूँजीवादी व्यवस्था को बेनक़ाब करती हैं और व्यापक मेहनतकश आबादी के लिए कुछ फौरी राहत दे सकती हैं। लेकिन इस माँग में तो ये दोनों ही गुण नहीं हैं। जहाँ तक किसान आबादी का प्रश्न है, तो व्यापक किसान आबादी भी आज छोटे मालिकाने के विभ्रमों से मुक्त हो रही है। 2003 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण में 40 प्रतिशत छोटे व मँझोले किसानों ने बताया कि वे मौका मिलने पर खेती छोड़ना चाहेंगे। इसी सर्वेक्षण

में पता चलता है कि खेती में करीब 11 करोड़ भूमि के स्वामी किसान हैं जबकि 10 करोड़ खेतिहर मज़दूर। 11 करोड़ स्वामी किसानों की 60 प्रतिशत आबादी के जीविकोपार्जन का मुख्य स्रोत खेती नहीं बल्कि उजरती श्रम है। ऐसे में ग्रामीण आबादी के 22 करोड़ कृषि में लगे लोगों में से करीब 16 करोड़ लोग पहले ही सर्वहारा अथवा अर्द्धसर्वहारा की स्थिति में पहुँच चुके हैं। अमित बसोले और दीपांकर बसु का अध्ययन (http://sanhati.com/wp-content/uploads/2009/05/india_surplus_may_ 11.pdf) दिखलाता है कि छोटे किसानों को बचाने या छोटी जोत की खेती को बचाने का प्रयास करने की पूँजीवाद के दायरे के भीतर भी कोई प्रासंगिकता नहीं है; **यह मध्यवर्ती माँग भी नहीं बनती है क्योंकि यह किसानों को लेनिन के शब्दों में 'आत्म-शोषण' के भयंकर कुचक्र में धकेलने के समान होगा।** अगर आँकड़ों के आधार कहें तो अगर आज पुनर्वितरण वाले भूमि सुधार किये जायें तो हरेक किसान के हिस्से 1.25 हेक्टेयर भूमि आयेगी, जो कि कतई अपर्याप्त है। ऐसे में, इस प्रकार के सुधारों की माँग मध्यवर्ती माँग के तौर पर भी अपनी प्रासंगिकता खो चुकी है। और जहाँ तक खेती में छोटे खेतों के अधिग्रहण से पैदा होने वाले नये कृषि या ग़ैर-कृषि उपक्रमों में स्थायी हिस्सेदारी का प्रस्ताव है, तो यह हास्यास्पद होने की हद तक अव्यावहारिक भी है और राजनीतिक तौर पर प्रतिगामी भी। **कोई भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ऐसी माँग की वकालत क्यों करेगा?** आज तो इतिहास ने इस बात के लिए और भी ज़्यादा मुफ़ीद हालात मुहैया कराये हैं कि छोटे और निम्न मध्यम किसानों के उजड़ने पर समाजवादी कृषि कार्यक्रम का एक नये रूप में प्रचार किया जा सके। ऐसे में, हम उजड़ने वाले किसानों को वापस छोटे मालिक या छोटे हिस्सेदार के तौर पर ग़रीबी और बदहाली के कुचक्र में धकेलने की वकालत क्यों करें? जब पूरा तन्दूर ही हमारा है तो फिर सिर्फ नान क्यों माँगें?

और ये सारी सलाहें या सबक हमें यथार्थवाद, व्यावहारिकता और ग़ैर-कठमुल्लावादी रुख़ रखने के बहाने से दी जाती हैं। यह व्यावहारिकता नहीं बल्कि व्यवहारवादी समझौतापरस्ती और प्रतिगामिता है। संसदीय वामपंथियों की मूर्खता और "कठमुल्लावाद" पर लेखक बेतरह नाराज़ है। उसके अनुसार संसदीय वामपंथियों ने यूपीए-एक सरकार से अपने उस राष्ट्रवादी कीड़े के कारण परमाणु क़रार के मुद्दे पर रिश्ता तोड़ लिया जो कि अन्त में मोदी के नेतृत्व में फ़ासीवादी उभार का एक कारक बना, जो कि औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के दौर में उसके भीतर घुस गया था! यह भी चमत्कृत कर देने वाला विश्लेषण है। हम यहाँ संसदीय वामपंथियों की इस कथित भूल की तो विस्तार में चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन इतना स्पष्ट है कि नन्दीग्राम, सिंगूर और लालगढ़ में अपने असली सामाजिक फ़ासीवादी रवैये को प्रदर्शित करने वाले संसदीय वाम के विषय में लेखक का विभ्रम बीमारी की हद तक है। वह तृणमूल कांग्रेस के लम्पटों और माकपा के लम्पटों में माकपा के लम्पटों को बेहतर मानता है! इसके विश्लेषण में औपनिवेशिक दौर में पैदा हुए राष्ट्रवाद को बेवजह ही घुसा दिया गया है। माकपा और भाकपा केवल उन्हीं अर्थों में "राष्ट्रवादी" कहे जा सकते हैं

जिनके अनुसार वे देशी छोटी पूँजी की नुमाइन्दगी करते हैं, हालाँकि अब ये काम भी वे बहुत मन से नहीं करते हैं। **सिंगूर की घटनाओं के बाद माकपा ने अपने बचाव में जो कुछ लिखा उसका सार ये था कि बड़ी पूँजी ऐतिहासिक तौर पर ज़्यादा प्रगतिशील है और टटपुँजिया पूँजीवाद और खेती के क्षेत्र में छोटी किसानी की हिफ़ाज़त ऐतिहासिक तौर पर प्रतिगामी है! हालाँकि इससे उन्होंने ये नतीजा निकाला कि इस छोटी किसानी को उजाड़ने के लिए माकपा को ही सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए!** बहरहाल, चूँकि रवि सिन्हा के लिए वामपन्थ एक 'जेनेरिक' श्रेणी है और वह उस "पागलपन भरी परिधि" में नहीं जाना चाहते हैं जो कि संशोधनवाद, सामाजिक जनवाद आदि जैसे पुराने पड़े शब्दों को इस्तेमाल करती है (!) इसलिए इस बाबत हमें उनकी अवस्थिति के विषय में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं महसूस होती।

रवि सिन्हा के अनुसार भारतीय वामपंथियों की दो समस्याएँ हैं। एक है कठमुल्लावाद जिसके कारण वे भविष्य के समाजवाद की एक व्यावहारिक रूपरेखा या एक व्यापक कार्यक्रम जनता के सामने नहीं पेश कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि तमाम नये समाजवादी सिद्धान्तकारों का तथाकथित 'इक्कसवीं सदी का समाजवाद' और 'भावी समाजवाद' बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की स्मृतियों का बन्दी बना हुआ है और उससे आगे नहीं देख पा रहा है। इसका कारण यह है कि इन वामपंथियों के लिए बीसवीं सदी का समाजवाद एक प्रामाणिक (canonical) मॉडल बना हुआ है। **जहाँ तक हम जानते हैं समाजवाद के तमाम नये सिद्धान्तकारों को यहाँ बेकार में ही घसीट दिया गया है।** इसका कारण यह है कि चाहे **इस्तेवान मेस्ज़ारोस हों, माइकल लेबोवित्ज़** हों या फिर **मार्ता आनेकर** जैसे बुद्धिजीवी हों, वे बीसवीं सदी के समाजवादी मॉडल के प्रति एक 'रिजेक्शनिस्ट' रुख़ रखते हैं और कम-से-कम उनके बारे में यह कहना कि वे बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की स्मृतियों के बन्दी बने हुए हैं, हास्यास्पद हैं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि वे भयंकर स्मृति-लोप का शिकार हैं। सोवियत समाजवादी प्रयोगों की उनकी समझदारी और जानकारी के बारे में जितना कम कहा जाय उतना अच्छा है। मिसाल के तौर पर, इस्तेवान मेस्ज़ारोस अपनी एक हालिया रचना में लिखते हैं कि स्तालिन ने ट्रेड यूनियनों को राज्य के अधीन लाने के लिए उन्हें 'कन्वेयर बेल्ट', 'ट्रांसमिशन बेल्ट' आदि की संज्ञा दी थी! कोई भी सोवियत इतिहास का जानकार जानता है कि लेनिन ने ये शब्द इस्तेमाल किये थे और वह भी केवल ट्रेड यूनियनों के लिए नहीं बल्कि बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी मशीनरी के लिए जिसके लिए उन्होंने 'कॉग व्हील्स' और 'कन्वेयर बेल्ट' या 'ट्रांसमिशन बेल्ट' के रूपक का प्रयोग किया था। दूसरी बात यह कि उन्होंने ऐसा ठीक इसलिए किया था क्योंकि वह त्रात्स्की द्वारा ट्रेड यूनियनों के राजकीयकरण के ख़िलाफ़ थे! लेकिन मेस्ज़ारोस यहाँ सारे ऐतिहासिक विवरणों को गड्ड-मड्ड कर अजीब खिचड़ी पका देते हैं। ऐसे ही उदाहरण हम लेबोवित्ज़ और आनेकर की रचनाओं से भी दे सकते हैं, जिसके लिए हमारे पास यहाँ स्थान नहीं है। लेकिन एक बात तय है-"भावी समाजवाद" और "इक्कीसवीं सदी के समाजवाद" के इन सिद्धान्तकारों के लिए बीसवीं सदी

के समाजवादी प्रयोग न केवल कोई मॉडल नहीं हैं, बल्कि उनके अनुसार इन मॉडलों में सीखने के लिए ज़्यादा कुछ नहीं है। इसके अलावा, अगर बेदियू, ज़िज़ेक आदि की बात करें तो वे तो रवि सिन्हा से भी आगे बढ़कर बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को आपदा (disaster) मानते हैं, लिहाज़ा, रवि सिन्हा निश्चित तौर पर उनके बारे में तो बात नहीं ही कर रहे हैं। **इसलिए रवि सिन्हा यहाँ तथ्यतः ग़लत हैं।**

यह ज़रूर है कि भारत में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में कठमुल्लावाद एक अहम समस्या है; विशेष तौर पर, कार्यक्रम के प्रश्न पर। जिस कठमुल्लावाद की बात रवि सिन्हा कर रहे हैं, उसके बारे में वे कुछ विस्तार से लिखते तो ज़्यादा बेहतर होता। **लेकिन एक बात तय है कि इस कठमुल्लावाद को जो भी संघटित करता हो, इसके विकल्प के तौर पर जो धुरीविहीन "मुक्त" चिन्तन वह पेश कर रहे हैं वह न केवल कोई नया व्यावहारिक समाजवादी कार्यक्रम के निर्माण की ओर नहीं ले जा सकता है, बल्कि दरअसल वह पुराने दन्त-नखविहीन सामाजिक-जनवाद, संशोधनवाद, उदार बुर्जुआ व्यहवारवाद और सुधारवाद का ही एक विचित्र मिश्रण है।** इसे बस पाण्डित्यपूर्ण भाषा की नयी बोतल में पेश करने का प्रयास किया गया है।

रवि सिन्हा के अनुसार, भारतीय वामपंथियों के लिए दूसरी समस्या है लोकरंजकतावाद जिसके कारण वे उदार बुर्जुआ वर्ग जितना भी रैडिकल नहीं हो पाते। वे युग की ऐतिहासिक चेतना और जनता की अस्तित्वमान लोकप्रिय चेतना के बीच के अन्तर को कम करने के लिए उतने साहसिक कदम भी नहीं उठा पाते जितना कि उदार बुर्जुआ लोग उठा लेते हैं। यहाँ के वामपन्थी 'नॉस्टैल्जिक' होकर राष्ट्रवाद के दौर को गाँधीवादी समुदायवादी भावना को याद करते हैं जब कम्युनिस्ट पार्टी का किसानों से जैविक रिश्ता बना हुआ था और फिर जनता से रिश्ता टूट जाने पर वामपन्थ की असफलता का दोष डाल देते हैं! यहाँ सारी बातें जानबूझकर गड्डमड्ड कर दी गयी हैं। पहला प्रश्न यह है कि युग की कौन-सी ऐतिहासिक चेतना और कौन-से उदार बुर्जुआ की बात यहाँ की गयी है? लेख के पहले के स्वर और अन्तर्वस्तु से हम बता सकते हैं यहाँ युग की ऐतिहासिक चेतना का रिश्ता भी आधुनिकता से है और उदार बुर्जुआ के रूप में हम इतिहास में अम्बेडकर को देख सकते हैं और आज के दौर में सम्भवतः तीस्ता सेतलवाड़ या मुकुल सिन्हा जैसे लोगों को। **हमारा समझना है कि युग की ऐतिहासिक चेतना आज पूँजीवादी आधुनिकता से आगे निकल चुकी है। और ठीक इसीलिए आज स्पष्ट तौर पर उन उदार बुर्जुआ लोगों और उनकी राजनीति से ज़्यादा की ज़रूरत है जिनकी बात रवि सिन्हा कर रहे हैं।** दूसरा प्रश्न यह है कि आज कौन-से क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट गाँधीवादी समुदायवाद को लेकर 'नॉस्टैल्जिक' हैं? चूँकि मार्क्सवाद और वामपंथ की लेखक की परिभाषा अभूतपूर्व रूप से व्यापक है इसलिए हो सकता है कुछ ऐसे लोग हों! लेकिन वामपन्थी लोग किसानों या जनता से कम्युनिस्ट पार्टी के अतीत के जुड़ाव को लेकर 'नॉस्टैल्जिक' हैं और उसके टूट जाने से दुखी हैं। और उनके इस दुखी होने से लेखक दुखी है! हालाँकि, अगर कोई कम्युनिस्ट जनता से जुड़ाव के टूटने पर अफ़सोसज़दा है, तो इसमें ग़लत क्या है? लेकिन बात यह है कि हमारी

जानकारी में कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट केवल इसी को एकमात्र समस्या नहीं मानता है। अगर हमारी जानकारी कम है और ऐसे लोग भी हैं तो हम निश्चित तौर पर रवि सिन्हा की इस बात से सहमत हैं कि केवल जनता से जुड़ाव होना ही सारी समस्याओं का समाधान नहीं है और एक सही विचारधारात्मक और राजनीतिक कार्यदिशा का होना भी उतना ही ज़रूरी है। लेकिन हमें नहीं लगता कि इस दिशा में लेखक द्वारा दिये गये सबकों से कोई लाभ होता है, हानि की सम्भावना ज़रूर है। **साथ ही हमें ऐसा भी लगता है कि जिन लोगों के हाशिये पर होने का एक अहम कारण जनता से जुड़ाव नहीं होना भी है, कम-से-कम उन्हें तो इस बारे में अफ़सोसज़दा होना ही चाहिए!**

चौथा सबकः 'समझदारों को सलाह देना आसान होता है' (सर्बियाई लोकोक्ति)

"मैं हमेशा सिखाता रहता हूँ। मैं कब सीखूँगा?"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, 'गैलीलियो')

"*वह जो चीज़ों से किनारा करके खड़ा रहता है, उसके साथ यह जोखिम होता है कि वह अपने आपको दूसरों से बेहतर समझने लगे और समाज की अपनी आलोचना का दुरुपयोग अपने निजी हितों के लिए विचारधारा के तौर पर करने लगे।*"

(थियोडोर अडोर्नो)

जैसा कि लेखक स्वयं मानते हैं, यह चौथा और आख़िरी सबक वास्तव में कोई सबक नहीं है बल्कि हालिया स्वतःस्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों की एक पड़ताल करने का प्रयास है और इस बाबत वामपन्थ के कार्यभारों को सूत्रबद्ध करने की दिशा में एक कदम है। लेकिन जैसे ही आप इस उम्मीद के साथ आगे बढ़ते हैं कि इन आन्दोलनों का एक विश्लेषण आपके सामने पेश किया जायेगा, तो आपको एक के बाद एक नाउम्मीदियों का सामना करना पड़ता है। स्पष्टतः लेखक ने बेवजह यह चौथा सबक अपने लेख में डाल दिया है क्योंकि बेहद संक्षेप में इन आन्दोलनों के इतिहास और वर्तमान का एक बेहद ग़लत विश्लेषण पेश किया गया है। सम्भवतः इस "सबक" को लेख में बस इसलिए डाल दिया गया है कि लेख अपने समय की सही तरीके से नुमाइन्दगी कर सके! क्योंकि जो विषय इसमें उठाया गया वह निश्चित रूप से व्यवस्थित आलोचनात्मक चर्चा का हक़दार था।

यहाँ रवि सिन्हा ने हाल में हुए 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' जैसे आन्दोलनों की चर्चा करते हुए दावा किया है कि इनमें से कुछ ने आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न उठाये तो कुछ ने राजनीतिक प्रश्नों को भी एजेण्डे पर लिया। लेकिन इन सबमें जो बात साझा थी वह यह कि इन आन्दोलनों ने आधुनिकता और आधुनिकता के ज़रिये पहचानी जाने वाली एक पूरी जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा किया। ऐसा कैसे हुआ और आधुनिकता द्वारा प्रोत्साहित जीवन शैली पर इन आन्दोलनों ने किस रूप में प्रश्न खड़ा किया इसे स्पष्ट नहीं किया गया है।

शायद इसका कारण यह है कि लेखक इन आन्दोलनों की परिघटना के उत्स को 1960 के दशक के छात्र आन्दोलनों, नारीवादी आन्दोलनों, नस्लवाद-विरोधी और युद्ध-विरोधी आन्दोलनों में देखते हैं, जिसमें निश्चित तौर पर कुछ सच्चाई भी है। इन आन्दोलनों को नव-वामपंथियों का समर्थन मिला और साथ ही इनके उभार में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा प्रोत्साहित आमूलगामिता की भी एक भूमिका थी। लेकिन लेखक के अनुसार इन आन्दोलनों ने ऐसे नये सामाजिक आन्दोलनों के युग की शुरुआत की जो कि कम्युनिस्ट पार्टियों की अगुवाई में चले मज़दूर आन्दोलनों और राष्ट्रवादियों और साथ ही वामपंथियों की अगुवाई में चले उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलनों से काफ़ी भिन्न थे। बकौल रवि सिन्हा इनमें से कुछ आन्दोलनों को काफ़ी सफलता मिली और उन्होंने मानवता के सामाजिक-राजनीतिक-विचारधारात्मक-सांस्कृतिक भूदृश्य को बदल डाला। कुछ अन्य जिन विशिष्ट मुद्दों पर शुरू हुए थे, उन विशिष्ट मुद्दों के अप्रासंगिक होते हुए विश्व इतिहास के नेपथ्य में चले गये। लेखक के अनुसार, 1960 के दशक के आन्दोलनों और अब समकालीन स्वतःस्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों के बूते पर कुछ नववामपन्थी आदि ये दावे कर रहे हैं कि अब पार्टियों द्वारा या उनके नेतृत्व में संगठित आन्दोलनों का युग बीत गया है। अब नये स्वतःस्फूर्त या ढीले-ढाले तौर पर संगठित सामाजिक आन्दोलनों का युग आ चुका है। इस दावे पर रवि सिन्हा सन्देह करते हैं लेकिन इसके खण्डन के लिए कोई तर्क नहीं पेश करते। वह कहते हैं कि ये नये सामाजिक आन्दोलन अब उतने नये नहीं रह गये हैं। ग़ौरतलब है कि इनमें वह वर्ल्ड सोशल फोरम को भी जोड़ते हैं जो कि सामाजिक प्रश्नों तक सीमित रहा, और अरब बसन्त और तहरीर चौक को भी, जिन्होंने अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रश्नों को खड़ा किया। इसके बाद बस वह इतना ही कहते हैं कि पता नहीं ऐसे सामाजिक आन्दोलनों की हिमायत करने वाले लोग कब तक दुनिया को बदलने के कार्यभार में ऐसे सामाजिक आन्दोलनों का कोई विकल्प न होने, वामपंथियों और वर्ग-आधारित आन्दोलनों की असफलता की ओर इशारा करते रहेंगे?! इसका क्या मतलब है? निश्चित तौर पर वे तब तक ऐसा करते रहेंगे जब तक कि कम्युनिस्टों की ओर से सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के ही धरातल पर उन्हें उचित उत्तर नहीं दिया जाता! कम-से-कम ऐसे 'रेटॉरिकल' प्रश्नों को पूछने से तो वे नहीं रुकेंगे! बहरहाल, हम इन नये स्वतःस्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों के विषय में रवि सिन्हा की समझदारी पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालते हैं।

रवि सिन्हा कहते हैं कि इन आन्दोलनों ने, जिसमें वे वर्ल्ड सोशल फोरम, ऑक्युपाई आन्दोलन, अरब बसन्त सभी को शामिल करते हैं, आधुनिकता और आधुनिकता द्वारा प्रेरित जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा किया। हमें ऐसा नहीं लगता है और इस दावे के पक्ष में रवि सिन्हा ने कोई दलील पेश करना भी ज़रूरी नहीं समझा है। **पहली बात तो यह है कि जिन आन्दोलनों के नाम रवि सिन्हा ने गिनाये हैं उन्हें एक टोकरी में रखना सम्भव ही नहीं है। दूसरी बात यह कि तमाम बेहद बुनियादी फर्कों के साथ अगर हम कोई एक साझा चारित्रिक आभिलाक्षणिकता इन आन्दोलनों में देखना ही चाहते हैं तो निश्चित तौर पर यह**

इनके द्वारा आधुनिकता और उसकी जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा करना तो कतई नहीं है। अगर कोई एक साझी ख़ासियत है तो वह यह है कि इन सभी आन्दोलनों ने किसी न किसी तौर पर आज के अभूतपूर्व वैश्विक पूँजीवादी संकट के दौर में तमाम देशों में कल्याणकारी राज्यों के पीछे हटने पर, ख़त्म होती सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा और बढ़ती अनिश्चितता पर, असमानता और पूँजीवाद के अन्य तोहफ़ों जैसे कि बेघरी, पर्यावरणीय विनाश आदि पर प्रश्न खड़ा किया, चाहे इन आन्दोलनों में कुछ प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भी क्यों न सक्रिय रही हों। कुछ मामलों में ये आन्दोलन अपने इस विरोध के बारे में सचेत थे और इरादतन इन चीज़ों का विरोध कर रहे थे और अन्य मामलों में वे पूँजीवाद द्वारा लायी जा रही तबाही की **रोगात्मक प्रतिक्रिया (pathological reaction)** थे। ये आन्दोलन कुछ मामलों कुछ ज़्यादा या कुछ कम, ज़्यादा स्पष्ट या आकारहीन किस्म के हो सकते हैं; लेकिन यह बात उनमें समान थीः इनमें से अधिकांश स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन थे; और इस रूप में वे आधुनिकता के उन रूपों का विरोध कर रहे थे, जो कि पूँजीवादी व्यवस्था और समाज अपने सबसे पतनशील, मरणासन्न और मानवद्रोही दौर में पैदा कर रहे हैं। **लेकिन अपने आप में उनका एजेण्डा आधुनिकता और उसकी जीवन-शैली का विरोध करना नहीं था। वास्तव में, ये आन्दोलन स्वयं आधुनिक आन्दोलन ही थे।** ये आन्दोलन भूमण्डलीकरण और नग्न नवउदारवादी नीतियों का विरोध कर रहे थे जो कि आज के ढाँचागत संकट के दौर में जनता के ऊपर कहर बरपा कर रहे थे। निश्चित तौर पर, अमेरिका में ये आन्दोलन 'ऑक्युपाई' आन्दोलन का ही रूप ग्रहण करते और अरब विश्व में ये 'अरब बसन्त' का ही रूप ग्रहण करते; यह भी कहना पुनरुक्तिपूर्ण ही होगा कि 'कमज़ोर कड़ियों' में वैश्विक पूँजीवाद के संकट के फलस्वरूप अगर कोई स्वतःस्फूर्त आन्दोलन भी पैदा होगा तो उसका ज़्यादा राजनीतिक चरित्र होगा और उसमें संगठन का तत्व भी अपने पश्चिमी समानान्तरों से ज़्यादा होगा। इसका स्पष्ट कारण मिस्र समेत अन्य अरब देशों के राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास और अमेरिका या पश्चिमी व उत्तरी यूरोप के देशों के राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास के फर्क में अन्तर्निहित है। **इसलिए वैश्विक संकट ने अलग-अलग जगह अलग-अलग प्रकार के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों को जन्म दिया।** जो बात साझा थी वह था एक भूमण्डलीकृत पूँजीवादी विश्व का विश्व ऐतिहासिक सन्दर्भ सन्दर्भ यानी कि अब तक का सबसे ढाँचागत आर्थिक संकट और साथ ही इस पूँजीवाद के संकट का बोझ जनता पर डाले जाने के विरोध में जनता के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन। **लेकिन यही इन आन्दोलनों की कमज़ोरी भी थीः आज महज़ स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोध पर्याप्त नहीं है।** चूँकि इन आन्दोलनों की राजनीति और विचारधारा अस्पष्ट, अपूर्ण और धुंधली थी, इसलिए वे कोई सकारात्मक प्रस्ताव रख ही नहीं सके और पूँजीवादी व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं पेश कर पाये। जैसा कि स्लावोय ज़िज़ेक ने 'ऑक्युपाई' आन्दोलन के बारे में कहा था, यह काफ़ी हद तक कल्याणकारी राज्य के नॉस्टैल्जिया में जी रहा है और उसकी वापसी की माँग कर रहा है, जबकि आज ज़रूरत है पूँजीवादी कल्याणकारी राज्य की माँग से आगे जाकर कम्युनिज़्म की माँग करने की, क्योंकि कल्याणकारी राज्य, वैसे भी, वापस आ ही नहीं सकता है। ज़िज़ेक से आम

तौर पर सहमत न होते हुए भी इस प्रेक्षण से सहमति जतानी होगी। **आज पूँजीवाद जिस ढाँचागत संकट से गुज़र रहा है वह 1930 के दशक की महामन्दी से इन मायनों में भिन्न है कि अब कोई वास्तविक 'बूम' का दौर आयेगा ही नहीं।** कल्याणकारी राज्य एक अभूतपूर्व तेज़ी के दौर की पैदावार था, जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी पूँजीवाद देख रहा था। अमेरिकी 'ऑक्युपाई' आन्दोलन कुछ अर्थों में अमेरिकी स्वर्ण युग के 'हैंगओवर' को ही अभिव्यक्त कर रहा था। ज़िज़ेक के विश्लेषण के तमाम नुक्तों और कम्युनिज़्म के उनके मॉडल से बुनियादी असहमति रखने के बावजूद उनके इस प्रेक्षण को सही माना जाना चाहिए।

दूसरी ओर अरब बसन्त भी हालाँकि पूँजीवाद-विरोध से आगे नहीं जा सका, लेकिन यह कई मायनों में 'ऑक्युपाई' आन्दोलन से भिन्न था। **पहली बात तो यह कि मिस्र के आन्दोलन में मज़दूर आन्दोलन सबसे अहम संघटक अंग था, हालाँकि बाद में यह एक सही और एकीकृत राजनीतिक नेतृत्व के अभाव में टटपुँजिया आमूलगामिता में सहयोजित हो गया।** लेकिन टटपुँजिया आमूलगामिता थोड़े समय के लिए पैदा होती और फिर सोती रहती है। जब टटपुँजिया रूमानी आमूलगामिता घर बैठ गयी, तब भी मिस्र के महल्लम जैसे इलाकों में ज़बर्दस्त मज़दूर आन्दोलन जारी रहा और अब भी जारी है। तहरीर चौक से शुरू हुए आन्दोलन ने मिस्र में वे वस्तुगत परिस्थितियाँ निर्मित कर दी थीं जब जनता व्यवस्थागत परिवर्तन के लिए तैयार थी और मिस्र का शासक वर्ग अपने शासन को जारी रखने में सक्षम नहीं था। लेकिन एक सही राजनीतिक विचारधारा और संगठन के अभाव में 'क्रान्ति की घड़ी बीत गयी' और मिस्र की जनता को पहले मुस्लिम ब्रदरहुड और फिर सेना के शासन के प्रतिक्रियावादी दौर को झेलना पड़ रहा है। आने वाले समय में भी मिस्र शान्त नहीं होने वाला है, लेकिन यह भी तय है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति को क्रान्ति में तब्दील करने के लिए जिस अभिकर्ता की आवश्यकता है, उसके अनुपस्थित रहते हुए शासन (regime) बदल सकता है लेकिन व्यवस्था (system) नहीं। बहरहाल, हम यहाँ अरब बसन्त और विशेष तौर पर मिस्र के जनान्दोलन की व्याख्या नहीं पेश कर सकते। **मूल बात यह है कि रवि सिन्हा बिना कोई विश्लेषण पेश किये इन सभी आन्दोलनों को एक कोष्ठक में रख देते हैं और उन पर आधुनिकता और जीवन शैली का विरोध करने का बेजा आरोप थोप देते हैं, जो कि तथ्यतः भी ग़लत है और राजनीतिक तौर पर भी ग़लत है।**

जैसा कि हमने कहा है, इस प्रेक्षण में कुछ सच्चाई है कि आज के नव-वामपन्थी, उत्तर-मार्क्सवादियों, उत्तर-आधुनिकतावादियों के विचारधारात्मक उत्स को 1960 के दशक के आन्दोलनों में तलाशा जा सकता है, जैसा कि हमने कहीं और भी लिखा है ('सोवियत समाजवादी प्रयोग और समाजवादी संक्रमणः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ', पाँचवी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी, इलाहाबाद में पेश आधार-पेपर, arvindtrust.org पर उपलब्ध)। लेकिन ऐसा आज के पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों और विशेष तौर पर उनके समकालीन सिद्धान्तकारों के बारे में एक ही अर्थ में कहा जा सकता हैः इन सिद्धान्तकारों और कम-से-कम पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों में हुए पूँजीवाद-विरोधी स्वतःस्फूर्त

आन्दोलनों के विचारधारात्मक उत्स को ही 1960 के दशक के आन्दोलनों में देखा जा सकता है क्योंकि उनका ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भ और पृष्ठभूमि पहले से गुणात्मक रूप से भिन्न है। आज के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों का 1960 के दशक के आन्दोलनों से सीमित अर्थों में कुछ विचारधारात्मक उत्सों को साझा करने से ज़्यादा कोई रिश्ता नहीं है। 1960 के दशक का अन्त कई बातों से पहचाना जा सकता था। पूँजीवाद का 'स्वर्ण युग' समाप्ति की ओर था; सोवियत संघ में समाजवाद के पतन और सामाजिक साम्राज्यवाद के उदय और पूर्वी यूरोप और दुनिया के अन्य हिस्सों में उसके कुकर्म और अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ उसकी प्रतिस्पर्द्धा के साथ दुनिया भर में प्रगतिशील राजनीतिक और बौद्धिक हलकों में एक पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया का जन्म, विशेष तौर पर यूरोप में; महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और माओवाद का यूरोप के बौद्धिक व राजनीतिक दायरों में दोहरा प्रभाव (यानी एक ओर माओवाद के प्रभाव में नयी माओवादी पार्टियों का जन्म और वहीं दूसरी ओर एक छद्म-माओवाद का पैदा होना जो कि अन्त में ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, ऑपराइज़्मो, काउंसिल कम्युनिज़्म, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के रास्ते से होता हुआ उत्तर-मार्क्सवाद की विभिन्न प्रजातियों के रूप में परिणत हुआ जो कि आज मार्क्सवाद से ज़्यादा रैडिकल किसी विचारधारा के दावे कर रहे हैं); नागरिक अधिकार और नस्लवाद-विरोधी आन्दोलनों का होना; स्त्रीवादी आन्दोलनों और विचारधार की दूसरी लहर (second wave) का आना; वित्तीय पूँजीवाद का द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर दौर में एक गुणात्मक रूप से नये परजीवी दौर में प्रवेश जिसे उत्तर-फोर्डवाद (post-fordism), ऋण-वित्तपोषित 'बूम', वि-विनियमन (deregulation), बाज़ार 'फ्लेक्ज़िबिलाइज़ेशन' आदि से पहचाना जाता है, जिसमें कि वित्तीय पूँजी अभूतपूर्व रूप से सट्टेबाज़ और अनुत्पादक रूप में सामने आयी; इसके साथ ही उत्तर औद्योगिक सिद्धान्त, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त और उत्तरआधुनिकतावाद का पैदा होना और कई वामपन्थी बुद्धिजीवियों का इन 'रेटॉरिकल रैडिकैलिटी' वाले सिद्धान्तों में 'कन्वज़र्न', जो कि सोवियत समाजवाद के पतन के 'पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया' का ही एक अंग था; इनमें और बहुत-सी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएँ जोड़ी जा सकती हैं, जिनसे कि 1960 के दशक को और साथ ही 1970 के दशक को भी पहचाना जा सकता था। उस दौर में जो सामाजिक आन्दोलन पैदा हुए उन पर इन विचारधाराओं की अमिट छाप थी, जिसमें साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के अपराधों पर समूचे प्रबोधन, आधुनिकता, तर्कणा पर थोप दिया गया; मार्क्सवाद को प्रबोधन द्वारा प्रेरित तर्कणा और आधुनिकता के महाख्यान का ही एक अध्याय घोषित किया गया; हर प्रकार की **सामान्यता (generality) या सावैभौमता (universality)** की अवधारणा को आधुनिकता की दमनकारी पाश्चात्य परियोजना का अंग माना गया और हर तरफ़ **खण्डों (fragments)** और **अन्तर (difference)** के जश्न को प्रोत्साहन दिया गया, हालाँकि यह और कुछ नहीं था बल्कि खण्डों और अन्तरों का सार्वभौमीकरण ही था! इस सारी दार्शनिक जुगाली का राजनीतिक निचोड़ यह थाः **यह सच है कि उदार पूँजीवाद मानवता को तबाही और बरबादी दे रहा है, लेकिन इसका विकल्प पेश करने का दावा करने वाले लोगों ने भी क्या दिया? सर्वसत्तावाद!** इसलिए एक

छद्म विकल्पों का समुच्चय पेश किया गया: उदार बुर्जुआ जनवाद, जो कम-से-कम कुछ वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकार तो देता है, या फिर सर्वसत्तावाद (जो हर प्रकार की स्वतन्त्रता और अधिकार को कुचलकर रख देता है)! 1990 के दशक की शुरुआत तक यह छद्म विकल्पों का समुच्चय अपने सबसे बुरे रूप में सामने आ चुका था जब फ्रांसिस फुकोयामा ने 'इतिहास के अन्त' का नारा बुलन्द किया। ख़ैर, वह पूँजीवादी विजयवाद (triumphalism) का स्वर्ण युग था। 1990 के दशक का अन्त आते-आते उत्तरआधुनिक उन्मादी चीख-पुकार मिमियाहट में तब्दील हो चुकी थी क्योंकि पूँजीवाद 1997 के एशियाई बाघों के धराशायी होने के साथ एक अल्पजीवी तेज़ी के दौर के अन्त में आ चुका था, और सोवियत संघ के नकली लाल झण्डे के गिरने को लेकर पैदा हुआ उल्लास भी अब दुहरावपूर्ण और उबाऊ बन चुका था। 2000 के दशक में पूँजीवादी विजयवाद अपनी कब्र में जा चुका था और नंगे पूँजीवादी विजयवाद का ढोल बजाने वाले उत्तरआधुनिकतावादियों की बजाय सामाजिक आन्दोलन वाले, एनजीओपन्थी, उत्तरमार्क्सवादी कम्युनिज़्म की बात करने वाले बहेतू (vagabond) दार्शनिक पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के लिए ज़्यादा उपयोगी हो गये हैं।

आज तमाम पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों के सिद्धान्तकार जैसे नेग्री, हार्ट, बेदियू, हैलोवे, और थोड़ा अलग अर्थों में ज़िज़ेक (क्योंकि उनको सीधे नेग्री, हार्ट या बेदियू की श्रेणी में रखना विश्लेषण के लिए कई असुविधाएँ पैदा करता है) वास्तव में यह नहीं कह रहे कि पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है। वे एक नये किस्म के कम्युनिज़्म की बात कर रहे हैं; वास्तव में, वे पूँजीवाद का ही एक नया सैद्धान्तिकीकरण पेश कर रहे हैं, जिसमें पूँजीवाद एक अवैयक्तिक शक्ति (impersonal entity) बन जाता है; उसका विरोध करने वाले भी एक अवैयक्तिक, आकारहीन चीज़ बन जाते हैं, जिसे नेग्री और हार्ट 'मल्टीट्यूड' का नाम देते हैं; और जिस चीज़ के लिए लड़ना और जिसके ख़िलाफ़ लड़ना है वह भी अवैयक्तिक और अस्पष्ट सी चीज़ बन जाती है! पूँजीवाद की जगह 'एम्पायर' ले लेता है और सर्वहारा वर्ग की जगह 'मल्टीट्यूड' ले लेता है। बेदियू के मुताबिक मुक्तिकामी परियोजना के लिए राज्य और पार्टी जैसी अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं। 'सबट्रैक्शन' सिद्धान्त जैसे निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद के सिद्धान्त आ रहे हैं जो दावा करते हैं कि आज क्रान्तिकारी परिवर्तन के आन्दोलनों को वैश्विक पूँजी के वर्चस्व के क्षेत्रों से अपने आपको वापस ले लेना चाहिए (withdraw) जिससे कि वैश्विक पूँजी का ढाँचा ढह जायेगा और जन भागीदारी के नये रूपों के ज़रिये राज्यसत्ता का राजनीतिक रूपान्तरण हो जायेगा; **यानी कि क्रान्ति कैसे न करें, इसके सैद्धान्तिकीकरण पेश किये जा रहे हैं। यह वैश्विक पूँजी के वर्चस्व की नयी रणनीति हैः 'यह मत कहो कि दूसरी दुनिया सम्भव नहीं है! यह कहो कि बहुत-सी दूसरी दुनियाएँ सम्भव हैं! लेकिन किसी एक को भी बनाने के बारे में भी कुछ मत बताओ! और जो दूसरी दुनिया वाकई मुमकिन है, उसके लिए ज़रूरी बदलाव से अभिकर्ता और अभिकरण को छीन लो! परिवर्तनकामी सामाजिक ताक़तों को बताओ कि राज्य और पार्टी और वर्ग की अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं!'** आज के स्वतःस्फूर्त

पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलनों को ये नये बहेतू दार्शनिक और विचारक यही बता रहे हैं और निश्चित तौर पर इस तरह के विचारों का उनके बताये बग़ैर भी इन आन्दोलनों पर अच्छा-ख़ासा प्रभाव है, क्योंकि इन आन्दोलनों के भीतर भी ऐसे ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी समूह सक्रिय हैं जो इन विचारों को मानते हैं। वैसे भी हमें भूलना नहीं चाहिए कि नेग्री और ट्रॉण्टी जैसे सिद्धान्तकारों का मूल मज़दूर आन्दोलन में सक्रिय अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रुझानों में ही था।

इस रूप में हम कह सकते हैं कि आज के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों पर उन विचारधाराओं का असर है जो कि काफ़ी हद तक 1968 के भ्रमित पेरिस में जन्मी थीं। लेकिन आज के आन्दोलन उस दौर के आन्दोलनों की निरन्तरता में नहीं रखे जा सकते और न ही यह माना जा सकता है कि 1960 के दशक के सामाजिक आन्दोलन (चाहे इसका जो भी मतलब होता हो!) आज के इन जनान्दोलनों की परिघटना के लिए मील का पत्थर थे, जैसा कि रवि सिन्हा मानते हैं। ऐतिहासिक आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सन्दर्भ बिल्कुल भिन्न हैं। और विचारधारात्मक तौर पर जो निरन्तरता का तत्व मौजूद है, उसे हम ऊपर चिन्हित कर चुके हैं। वास्तव में, आज जिस प्रकार के ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, संगठन-विरोध और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का प्रयोग नये विचारक व दार्शनिक इन आन्दोलनों से परिवर्तन का अभिकरण (agency) छीनने के लिए कर रहे हैं, रवि सिन्हा उसकी कोई सुसंगत आलोचना नहीं पेश करते। और तो और वह इन सामाजिक आन्दोलनों में वह वर्ल्ड सोशल फोरम को भी शामिल करते हैं; मतलब, उनके लिए 'आक्युपाई', अरब बसन्त और वर्ल्ड सोशल फोरम में कोई बुनियादी विचारधारात्मक-राजनीतिक अन्तर नहीं है और वे उन सभी की राजनीतिक अस्पष्टता, स्वतःस्फूर्ततावाद के लिए आलोचना करते हैं। जहाँ तक वर्ल्ड सोशल फोरम की बात है, तो निश्चित तौर पर हम एक बार फिर कह सकते हैं कि उसकी स्वतःस्फूर्तता के लिए आलोचना करना हिटलर की वायलिन ख़राब बजाने की आलोचना करने के समान है! **और दूसरी बात यह है कि वर्ल्ड सोशल फोरम इतना स्वतःस्फूर्त या अस्पष्ट है भी नहीं क्योंकि यह वास्तव में स्वतःस्फूर्तता और अस्पष्टता को सचेतनता और स्पष्टता की ओर बढ़ने से रोकने के लिए सचेतन तौर पर बनाया गया सांगठनिक रूप है**! यह सचेतन तौर पर संगठित स्वतःस्फूर्तता और अस्पष्टता की सांगठनिक अभिव्यक्ति है और इस कार्य के लिए इसे फ्रांस की सरकार से लेकर तमाम साम्राज्यवादी एजेंसियों से वित्त-पोषण प्राप्त होता है। एक साम्राज्यवादी वित्त-पोषित संस्था जो कि जनता के तमाम संघर्षों के सहयोजन के लिए बनायी गयी है, और अरब बसन्त में फर्क न करना रवि सिन्हा की राजनीतिक दृष्टि के बारे में काफ़ी-कुछ बताता है। बहरहाल, रवि सिन्हा इन तमाम आन्दोलनों की कोई आलोचना पेश करने की बजाय एक जुमलेनुमा सवाल पूछते हैं: कि आखिरी ऐसे आन्दोलन के विचारक कब तक वामपंथियों की नाकामयाबी पर उंगली उठाते रहेंगे? यह कैसी आलोचना है? **दरअसल, यह करुण और दारुण स्वर भी लेखक के खुद की दार्शनिक, विचारधारात्मक और राजनीतिक अनिर्णय की अवस्था और डगमगाये हुए आत्मविश्वास को ही दिखलाता है।**

अन्तिम पैराग्राफ में रवि सिन्हा वामपन्थ की असफलता का कारण बताते हुए कहते हैं कि इसका कारण यह नहीं है कि उसने उपरोक्त सामाजिक आन्दोलनों का अनुसरण नहीं किया, बल्कि इसका कारण यह है कि उसके पास उपनिवेशवाद, राजतन्त्रवाद, सैन्य तानाशाहियों और सामन्तवाद से लड़ने की कला तो है, लेकिन ये दुश्मन अब बीते ज़माने के दुश्मन बन चुके हैं। आज के ज़माने के दुश्मन यानी कि पूँजीवाद-साम्राज्यवाद से लड़ने की कला उसे विकसित करनी होगी। वैसे तो यह एक हद तक *ओवरस्टेटमेण्ट* माना जायेगा क्योंकि रूस में हुई समाजवादी क्रान्ति में रूसी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद से ही लड़ रहा था, हालाँकि वह एक नवजात, अशक्त और पिछड़ा पूँजीवाद था और अर्द्धसामन्ती शक्तियों की बैसाखी पर भी टिका हुआ था; लेकिन इस बात में सत्यांश है *आज के दौर के पूँजीवाद* से लड़ने की रणनीति और आम रणकौशल को विकसित करना भारत के लिए नहीं बल्कि दुनिया भर के मार्क्सवादियों के एजेण्डे पर सबसे केन्द्रीय प्रश्न है। विशेष तौर पर, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व पूँजीवाद की कार्यपद्धति (modus operandi) में आये बेहद अहम बदलावों को समझना आज बेहद ज़रूरी है और उसके अनुसार नयी समाजवादी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में आने वाली अहम बदलावों को सूत्रबद्ध करना भी बेहद आवश्यक है। **लेकिन इस नवोन्मेष के नाम पर अगर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान के बुनियादी उसूलों को कोई बिना किसी जायज़ तार्किक कारण रद्द करने की बात करता है, तो वह घातक है; अगर कोई राज्य और क्रान्ति की बुनियादी लेनिनवादी थीसिस को छोड़ने, क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और संशोधनवाद में फर्क करने, फ़ासीवाद की एक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझदारी को छोड़ने, और यथार्थवाद और ठोस तथ्यों पर नतीजे निकालने के नाम पर सामाजिक-जनवाद, सुधारवाद, समाजशास्त्रीयतावादी प्रत्यक्षवाद, व्यवहारवाद, अनैतिहासिकतावाद और उदार बुर्जुआ सिद्धान्तों की बासी खिचड़ी पेश करता है, तो निश्चित तौर पर ऐसी खिचड़ी की सही जगह इतिहास की कचरा-पेटी ही हो सकती है।** रवि सिन्हा का पूरा सैद्धान्तिकीकरण वास्तव में एक ऐसी ही खिचड़ी है, जिसे पाण्डित्यपूर्ण भाषा की चाशनी में डुबाकर परोसा गया है। यह निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी बौद्धिक हलकों में काफ़ी प्रभावी और लोकप्रिय सिद्ध होगा क्योंकि उन्हें हमेशा कुछ न करने के बहाने चाहिए होते हैं, या हाशिये पर बने अपने आरामदेह नेह-नीड़ में बने रहने के बहाने चाहिए होते हैं; क्योंकि जैसा कि हमने बिल्कुल शुरू में कहा था कि हाशिये पर रहने के अपने दुख होते हैं तो अपने सुख भी होते हैं; ये सुख उस सुविधा और सुरक्षा-बोध से पैदा होते हैं, जो कि हाशिये पर रहने वाले सम्भ्रान्त बौद्धिक हलकों को नसीब होता है। रवि सिन्हा का लेख 'हाशिये पर खड़े (पड़े) समझदार लोगों के लिए सबक' नहीं बल्कि 'उन समझदार लोगों के लिए सबक हैं जो कि हाशिये पर ही पड़े रहना चाहते हैं'।

"सभ्यता का ऐसा कोई दस्तावेज़ नहीं जो कि साथ ही में बर्बरता का दस्तावेज़ भी न हो।"

–वाल्टर बेंजामिन

जून, 2015